श्रीरघुनाथतर्कवागीशप्रणीतः

आगमतत्त्वविलासः

ĀGAMATATTVA-VILĀSAḤ

भाषा भाष्यसंवलितः

भाषा भाष्यकारः

एस. एन. खण्डेलवाल
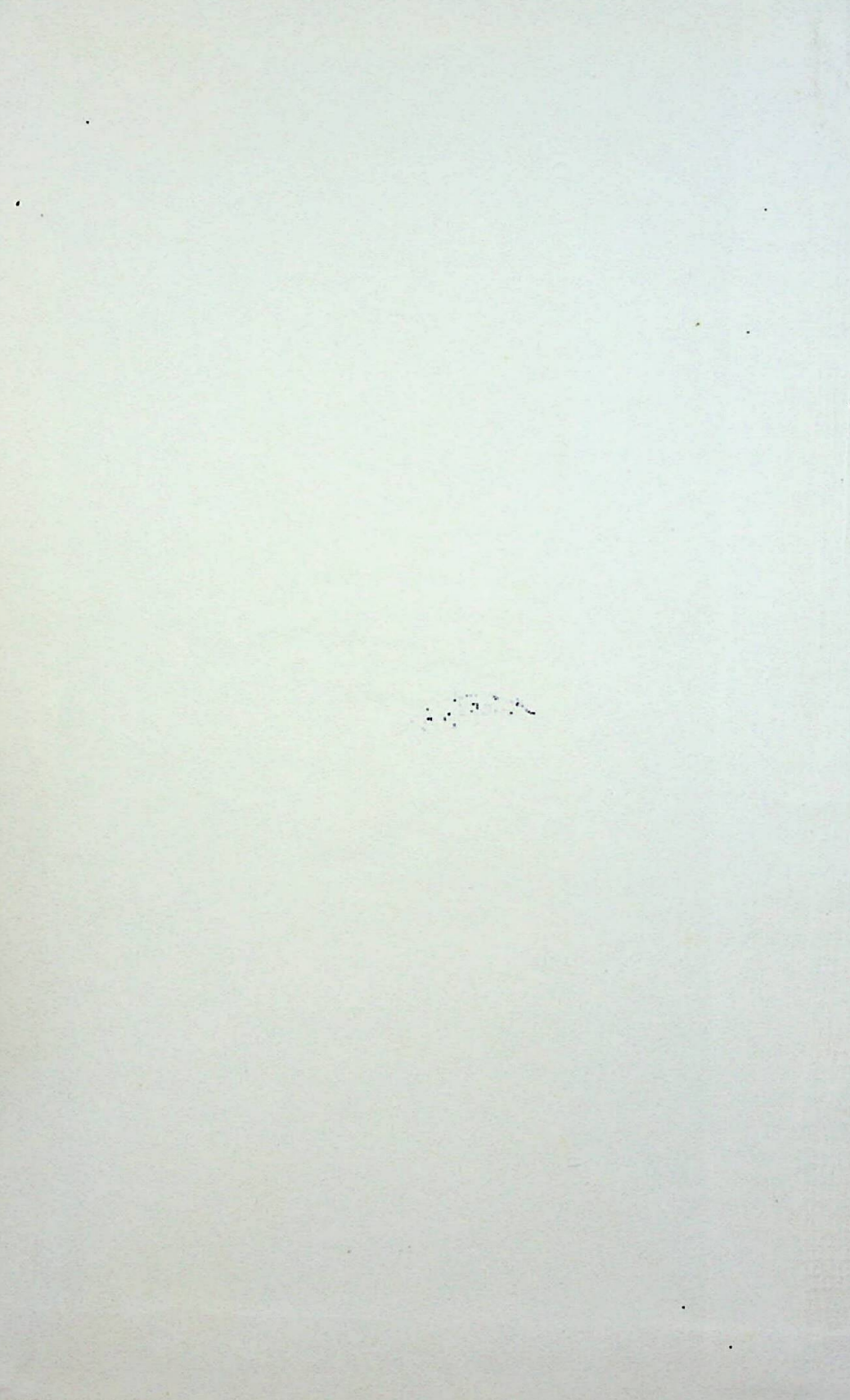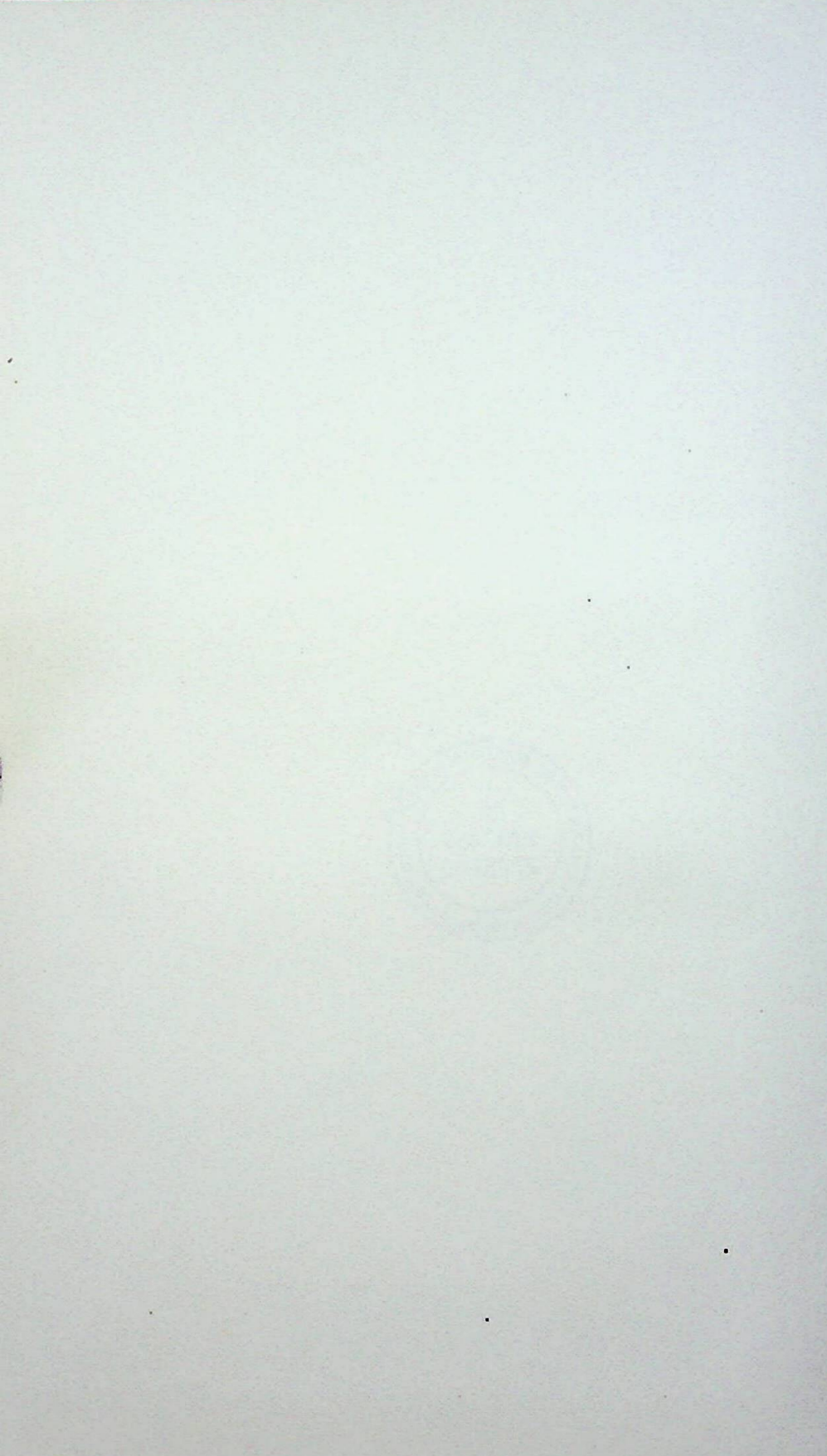
॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
505

श्रीरघुनाथतर्कवागीशप्रणीतः

आगमतत्त्वविलासः

भाषाभाष्यसंवलितः

[प्रथमो भागः]

भाषाभाष्यकारः
श्री एस० एन० खण्डेलवाल

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

© सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण, या किसी भी विधि (जैसे - इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉडिग या कोई अन्य विधि) से प्रयोग या किसी ऐसे यंत्र में भंडारण, जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, प्रकाशक की पूर्वलिखित अनुमति के बिना नही किया जा सकता है।

ISBN : 978-93-80326-66-5 (Set)
ISBN : 978-93-80326-81-8 (Vol. I)

प्रकाशक :

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के-37/117 गोपाल मंदिर लेन, पोस्ट बॉक्स न. 1129
वाराणसी-221001
दूरभाष : (0542) 2335263

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : 2011
मूल्य : 400.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा पब्लिशिंग हाऊस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली न. 21-ए, अंसारी रोड़, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
दूरभाषः (011) 32996391, टेलीफैक्सः (011) 23286537

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38, यू. ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर,
पोस्ट बॉक्स न. 2113, दिल्ली - 110007

*

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पोस्ट बॉक्स न. 1069, वाराणसी-221001

मुद्रक

डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHMALA
505

ĀGAMATATTVA-VILĀSAḤ

of

Raghunātha Tarka-Vāgīśa

[VOL : 1]

Hindi Commentary by

Sri S. N. Khandelwal

Chaukhamba Surbharati Prakashan
Varanasi

भूमिका

आगम तथा तन्त्र के क्षेत्र में संग्रहात्मक ग्रन्थ का प्रयास 'सर्वोल्लास तन्त्र' तथा 'तन्त्रसार' के रूप में प्रकृष्ट रूप से प्राप्त होता है, जिस समय यह विद्या इतस्तत: विखरी हुई थी तथा मुद्रण-सुविधा के अभाव से किसी ग्रन्थ के एक प्रति की भी प्राप्ति दुष्कर थी एवं राजनैतिक अस्थिरता तथा यवनादि के आक्रमण के कारण अनेक ग्रन्थ लुप्तप्राय हो रहे थे, उस समय कृष्णानन्द आगमवागीश तथा सर्वोल्लास तन्त्र के प्रणयनकर्त्ता सर्वानन्दनाथ ने अनेक ग्रन्थों से उपयुक्त विधानों का संग्रह एक ही ग्रन्थ में करके साधक-वृन्द के लिये इच्छानुसार तथा अधिकारानुसार साधनपथ खोजने तथा वरण करने का अलौकिक कार्य किया था।

इसी परम्परा में महान् विद्वान् सर्वानन्द के वंशज महान् साधक रघुनाथ तर्कवागीश भट्टाचार्य ने १६० से अधिक अप्राप्य तथा दुष्प्राप्य ग्रन्थों का अनुशीलन करके एवं गुरुप्रदत्त उपदेशों को आधार बनाकर इस विशाल ग्रन्थ 'आगमतत्वविलास' का प्रणयन किया है। इसकी विशेषता यह है कि प्रात:स्मरणीय विद्वान् ग्रन्थकार ने तन्त्रसार में उक्त तथा अनुक्त विषयों का सन्निवेश तो इसमें किया ही है, उसके अतिरिक्त भी उस समय की प्रचलित सभी मान्यताओं का प्रमाण के साथ विश्लेषण करते हुये उनका भी दिशा-निर्देश विना किसी पूर्वाग्रह के स्वतन्त्र रूप से विवेचित किया है। इसी से यह महान् ग्रन्थ तत्कालीन तन्त्रसार आदि ग्रन्थो से भी अधिक विशिष्टतापूर्ण प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि संस्कृत कालेज, कलकत्ता में संगृहीत है तथा अन्य प्रति एशियाटिक सोसाईटी के पुस्तकसंख्या १९११ पर संरक्षित है। इससे इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। मुझे इसकी एक प्रति असम के उदलगुड़ी जिले में वर्षों पूर्व पं० अशोक मिश्र के यहाँ देखने को मिली थी, उसी के आधार पर यह प्रस्तुति की गई है। इसमें कहीं-कहीं कुछ अशुद्धि रह गयी है; आशा करता हूँ कि इस ग्रन्थ के विद्वान् अध्येता उन त्रुटियों की मार्जना करेंगे।

ग्रन्थकार मैमन सिंह केनेपाडा ग्राम के वासी थे। उस काल में इस श्रेणी के विद्वान् पुस्तकों में अपना आत्मपरिचय देना उचित नहीं समझते थे; इसीलिये अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी उनकी जीवनयात्रा के सम्बन्ध में कुछ भी अभिज्ञता प्राप्त नहीं हो सकी।

उनका वंशवृक्ष पता चला है, जो इस प्रकार है—सर्वानन्द मिश्र के पुत्र थे बलभद्र मिश्र एवं उनके पुत्र थे काशीनाथ मिश्र। काशीनाथ मिश्र के अनुज अवनीभूषण थे एवं अवनीभूषण के पुत्र थे शिवराम। इन्ही शिवराम के पुत्र हैं—ग्रन्थकार महापण्डित रघुनाथ तर्कवागीश भट्टाचार्य। इनसे सम्बन्ध में मात्र इतना ही ज्ञात हो सका है; अस्तु इस विषय में जिज्ञासा शेष है। परन्तु कोई सामग्री अभी तक प्राप्त न हो सकने के कारण उसका समाधान सम्भव नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में इसका लिपिकाल इस प्रकार अंकित है—

ग्रन्थस्तत्कृतिनिर्मितो ग्रहवियत्षट्‌चन्द्रशाके मधौ।
श्रीमांस्तत्त्वविलास एष कृतिना.............।।

इस प्रकार इस ग्रन्थ का रचनाकाल है—ग्रह + वियत् + षट् + चन्द्र = १६०९ शकाब्द अर्थात् १६८७ ईस्वी।

यह ग्रन्थ चार प्रकरणों (खण्डों) में विभक्त है। ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में लेखक ने उन सभी ग्रन्थों का समसन प्रस्तुत किया है, जिनका साहाय्य ग्रन्थ-संरचना में लिया गया है। साथ ही ग्रन्थ में आलोच्य विषयवस्तु पर भी ग्रन्थारम्भ में प्रकाश-प्रक्षेपण किया गया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ आजकल की भाषा में एक महान् शोधग्रन्थ (थीसिस) का ही प्राचीन रूप कहा जा सकता है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी के प्रकाशक महोदय ने अपूर्व उत्साह तथा मनोयोग का प्रदर्शन किया है, जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

नागपञ्चमी, २०६७ — अनुवादक

एस. एन. खण्डेलवाल

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठाङ्क

प्रातःकृत्यादि के सम्बन्ध में

(अनुवादक का विशेष वक्तव्य)

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में पाठकगण की सुविधा-हेतु यह कहना आवश्यक है कि इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर 'प्रात:कृत्य' शब्द का उल्लेख किया गया है। तन्त्रग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्रात:कृत्य का पालन किये विना कथमपि पुरश्चरणादि सिद्ध नहीं होता; इसलिये इसका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। पुरश्चरण के पूर्व प्रात:कृत्य इस प्रकार से करना चाहिये—

ब्राह्म मुहूर्त्त में शय्या का त्याग करके उसी समय प्रात:स्मरण (श्लोक-पाठ) करना चाहिये। इसमें अपने-अपने सम्प्रदाय अथवा परम्परा से जो मान्य इष्ट हों, उनका मन ही मन स्मरण करना चाहिये। तदनन्तर पृथ्वी-प्रणाम और गुरु का स्मरण करना चाहिये। स्मरण के अनन्तर प्रणाम आवश्यक होता है। प्रणाम अर्थात् आत्मनिवेदन। तदनन्तर मलादि-विसर्जन शौच, दन्तधावन; तत्पश्चात् वैदिक स्नान। वैदिक स्नान के पश्चात् तान्त्रिक स्नान। तत्पश्चात् वैदिक सन्ध्या तथा तर्पण। तदनन्तर तान्त्रिक सन्ध्या तथा तर्पण। इसे ही प्रात:कृत्य कहा जाता है।

प्रात:कृत्य के पश्चात् यदि कामना-पूर्ति के लिये साधना करनी हो, तब प्रथमत: स्वस्तिवाचन, सङ्कल्प, घटस्थापन, मूल मन्त्र से आचमन, सामान्य अर्घ्य-स्थापन, द्वारपूजा, विघ्न-अपसारण, भूतादि विघ्न-निवारण, आसन-शुद्धि, पुष्प-शुद्धि, कर-शुद्धि, दिग्बन्धन, भूतशुद्धि, मातृका न्यास, अर्ध-मातृका न्यास, बाह्यमातृका न्यास, संहारमातृका न्यास, प्राणायाम, पीठन्यास, ऋष्यादि न्यास, वर्णन्यास, करन्यास, अङ्गन्यास, व्यापक न्यास यथाक्रम करने के अनन्तर ध्यान किया जाता है। तत्पश्चात् मानसोपचार पूजा, विशेष अर्घ्य-स्थापन, पीठपूजा, पुन: ध्यान, आवाहन, प्रधान देवता की यथोपचार से पञ्चपुष्पाञ्जलि-प्रदान पूजा, आवरण देवता-पूजा, धूपादि-दान, विसर्जन— इन समस्त प्रक्रियाओं को ही प्रात:कृत्य के नाम से जाना जाता है।

●

॥ श्रीः ॥

श्रीरघुनाथतर्कवागीशप्रणीतः

आगमतत्त्वविलासः

भाषाभाष्यसंवलितः

प्रथमः परिच्छेदः

मङ्गलाचरणम्

ॐ नमः श्रीमते तस्मै गुरुदेवाय योगिने।
अशेषासारसंसारसारीय शिवरूपिणे ॥१॥
स्वगुरोश्चरणसरोजं शिरसि सरसिजे स्मरणमुक्तः श्रीमान्।
आगमतत्त्वविलासं रचयति रघुनाथतर्कवागीशः ॥२॥

अशेष असार संसार के साररूप शिवरूपी योगी श्रीमान् गुरु को मेरा नमस्कार। (इस ग्रन्थ के लेखक) श्रीमान् रघुनाथ तर्कवागीश अपने शिर:स्थित सहस्रार चक्रस्थ गुरु के चरणकमल का पुन:-पुन: स्मरण करके 'आगमतत्त्वविलास' नामक तन्त्र ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं।।१-२।।

अत्र व्यतिक्रमनिबन्धभुवोऽपराधानेतान्
क्षमध्वमखिलान् मम दैवतानि।
यद्यद् विरुद्धमिह संविहितं ममास्ते
तत्तद् विशोधयत धीरतमा नमो यः ॥३॥

समस्त इष्टदेवगण मेरे द्वारा इस विपरीत निबन्ध की रचना करने से जनित अपराधों की मार्जना करें। इस तन्त्र में मेरे द्वारा जिन-जिन विरुद्ध उक्तियों का सन्निवेश किया गया है, उसका संशोधन पण्डितगण करें (यह प्रार्थना है)। उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।।३।।

स्वतन्त्रतन्त्रं फेत्कारीतन्त्रमुत्तरतन्त्रकम् ।
नीलतन्त्रं वीरतन्त्रं कुमारीतन्त्रमुज्ज्वलम् ।।४।।
कालीनारायणीतन्त्रे तारिणीतन्त्रमुत्तमम् ।
बालातन्त्रञ्च समयातन्त्रं भैरवतन्त्रकम् ।।५।।

स्वतन्त्रतन्त्र, फेत्कारीतन्त्र, उत्तरतन्त्र, नीलतन्त्र, कुमारीतन्त्र, उज्वलतन्त्र, कालीतन्त्र, नारायणीतन्त्र, उत्तरतारिणीतन्त्र, बालातन्त्र, समयातन्त्र, भैरवतन्त्र।।४-५।।

भैरवीत्रिपुरातन्त्रे वामकेश्वरतन्त्रकम् ।
कुक्कुटेश्वरतन्त्रञ्च मातृकातन्त्रमेव च ।।६।।
सनत्कुमारतन्त्रञ्च विशुद्धेश्वरतन्त्रकम् ।
सम्मोहनाख्यतन्त्रञ्च गौतमीयञ्च तन्त्रकम् ।।७।।

भैरवीतन्त्र, त्रिपुरातन्त्र, वामकेश्वरतन्त्र, कुक्कुटेश्वरतन्त्र, मातृकातन्त्र, सनत्कुमारतन्त्र, विशुद्धेश्वर तन्त्र, सम्मोहनतन्त्र गौतमीतन्त्र।।६-७।।

बृहद्गौतमीयतन्त्रं भूतभैरवतन्त्रकम् ।
चामुण्डापिङ्गलातन्त्रे वाराहीतन्त्रकं तथा ।।८।।
मुण्डमालाख्यतन्त्रञ्च योगिनीतन्त्रमुत्तमम् ।
मालिनीविजयं तन्त्रं तन्त्रं स्वच्छन्दभैरवम् ।।९।।

बृहद्गौतमी तन्त्र, भूतभैरवतन्त्र, चामुण्डातन्त्र, पिंगलातन्त्र, वाराहीतन्त्र, मुण्डमालातन्त्र, योगिनीतन्त्र, मालिनीविजयतन्त्र, स्वच्छन्दभैरवतन्त्र।।८-९।।

महातन्त्रं शक्तितन्त्रं तन्त्रं चिन्तामणिं परम् ।
उन्मत्तभैरवं तन्त्रं त्रैलोक्यसारतन्त्रकम् ।।१०।।
विश्वसारमहातन्त्रं तथा तन्त्रामृताभिधम् ।
महाफेत्कारीयं तन्त्रं वायवीयञ्च तोडलम् ।।११।।

महातन्त्र, शक्तितन्त्र, श्रेष्ठ चिन्तामणितन्त्र, उन्मत्तभैरवतन्त्र, त्रैलोक्यसारतन्त्र, विश्वसारतन्त्र, तन्त्रामृततन्त्र, महाफेत्कारीतन्त्र, वायवीयतन्त्र, तोडलतन्त्र।।१०-११।।

मालिनीललितातन्त्रे त्रिशक्तितन्त्रकं तथा ।
राजराजेश्वरीतन्त्रं तन्त्रं मोहस्वरोत्तरम् ।।१२।।
गवाक्षतन्त्रं गान्धर्वं तन्त्रं त्रैलोक्यमोहनम् ।
हंसमाहेश्वरं हंसपारमेश्वरतन्त्रकम् ।।१३।।

मालिनीतन्त्र, ललितातन्त्र, त्रिशक्तितन्त्र, राजराजेश्वरीतन्त्र, मोहस्वरोत्तरतन्त्र, गवाक्षतन्त्र, गन्धर्वतन्त्र, त्रैलोक्यमोहनतन्त्र, हंसमाहेश्वरतन्त्र, हंसपारमेश्वरतन्त्र।।१२-१३।।

कामधेन्वाख्यतन्त्रञ्च तन्त्रं वर्णविलासकम्।
मायातन्त्रं तन्त्रराजं कुब्जिकातन्त्रमुत्तमम्॥१४॥
विज्ञानलतिकां लिङ्गागमं कालोत्तरं तथा।
ईशानसंहिता तद्वत् श्रीविनायकसंहिताम्॥१५॥

कामधेनुतन्त्र, वर्णविलासतन्त्र, मायातन्त्र, तन्त्रराजतन्त्र, उत्तमकुब्जिकातन्त्र, विज्ञान-लतिकातन्त्र, लिङ्गागमतन्त्र, कालोत्तरतन्त्र, ईशानसंहिता, श्रीविनायकसंहिता।

अगस्त्यसंहितां पुण्यां नन्दिकेश्वरसंहिताम्।
वशिष्ठसंहितां दक्षसंहितां मनुसंहिताम्॥१६॥
ब्रह्मणः संहितां दिव्यां सनत्कुमारसंहिताम्।
कुलानन्दसंहिताञ्च वैशम्पायसंहिताम्॥१७॥

अगस्त्यसंहिता, पवित्र नन्दिकेश्वरसंहिता, वशिष्ठसंहिता, दक्षसंहिता, मनुसंहिता, ब्रह्मसंहिता, दिव्य सनत्कुमारसंहिता, कुलानन्दसंहिता, वैशम्पायनसंहिता।।१६-१७।।

नृसिंहतापनीयञ्च दक्षिणामूर्त्तिसंहिताम्।
ब्रह्मयामलकं चादियामलं रुद्रयामलम्॥१८॥
बृहद्यामलकं सिद्धयामलं कल्पसूत्रकम्।
मस्त्यसूक्तं कल्पसूक्तं कामराजं शिवागमम्॥१९॥

नृसिंहतापनीय, दक्षिणामूर्त्तिसंहिता, ब्रह्मयामल, आदियामल, रुद्रयामल, बृहद्यामल, सिद्धयामल, कल्पसूत्र, मत्स्यसूक्त, कल्पसूक्त, कामराजतन्त्र, शिवागम।।१८-१९।।

उड्डीशञ्च कुलोड्डीशमड्डीशं वीरभद्रकम्।
भूतडामरकं तद्वत् डामरं यक्षडामरम्॥२०॥
कालिकाकुलसर्वस्वं कुलसर्वस्वमेव च।
कुलचूड़ामणिं दिव्यं कुलसारं कुलार्णवम्॥२१॥

उड्डीश तन्त्र, कुलोड्डीश तन्त्र, अड्डीश तन्त्र, वीरभद्र तन्त्र, भूतडामर, डामर, यक्ष-डामर, कालिकाकुलसर्वस्व, कुलसर्वस्व, कुलचूड़ामणि तन्त्र, दिव्य कुलसार तन्त्र, कुलार्णव तन्त्र।।२०-२१।।

कुलामृतकुलावल्यौ तथा कालीकुलार्णवम्।
कुलप्रकाशं वाशिष्ठं सिद्धसारस्वतं तथा॥२२॥
योगिनीहृदयं कालीहृदयं मातृकार्णवम्।
योगिनीजालकुरकं तथा लक्ष्मीकुलार्णवम्॥२३॥

कुलामृत तन्त्र, कुलावली तन्त्र, कालीकुलार्णव तन्त्र, कुलप्रकाश तन्त्र, वाशिष्ठ तन्त्र, सिद्धसारस्वत तन्त्र, योगिनीहृदय, कालीहृदय, मातृकार्णव तन्त्र, योगिनीजालकुरक तन्त्र, लक्ष्मीकुलार्णव।।२२-२३।।

तारार्णवं चन्द्रपीठं मेरुतन्त्रं चतुःशतीम्।
तत्त्वबोधं महोग्रञ्च स्वच्छन्दसारसंग्रहम्॥२४॥
ताराप्रदीपं सङ्केतं चन्द्रोदयमतिस्फुरम्।
षट्त्रिंशत् तत्त्वकं लक्षनिर्णयं त्रिपुरार्णवम्॥२५॥

तारार्णव, चन्द्रपीठ, मेरुतन्त्र, चतुःशती, तत्त्वबोध, महोग्रतन्त्र, स्वच्छन्दसारसंग्रह, ताराप्रदीप, सङ्केतचन्द्रोदय, षट्त्रिंशत्तत्त्व, लक्षनिर्णय, त्रिपुरार्णव।।२४-२५।।

विष्णुधर्मोत्तरं मन्त्रदर्पणं वैष्णवामृतम्।
मानसोल्लासकं पूजाप्रदीपं भक्तिमञ्जरीम्॥२६॥
भुवनेश्वरीपारिजातं प्रयोगसारमुत्तमम्।
कामरत्नं क्रियासारं तथैवागमदीपिकाम्॥२७॥

विष्णुधर्मोत्तर, मन्त्रदर्पण, वैष्णवामृत, मानसोल्लास, पूजाप्रदीप, भक्तिमञ्जरी, भुवनेश्वरी, पारिजात, प्रयोगसार, कामरत्न, क्रियासार, आगमदीपिका।।२६-२७।।

भावचूड़ामणिं तन्त्रचूड़ामणिमतः परम्।
बृहच्छीक्रमसंज्ञञ्च तथा श्रीक्रमसंज्ञकम्॥२८॥
नवरत्नेश्वरं सोमभुजगावलिसंज्ञकम्।
सिद्धान्तशेखरं ग्रन्थं तां गणेशविमर्शिणीम्॥२९॥

भावचूड़ामणि, तन्त्रचूड़ामणि, बृहद् श्रीक्रम, श्रीक्रम, नवरत्नेश्वर, सोमभुजगावली, सिद्धान्तशेखर, गणेशविमर्शिनी।।२८-२९।।

मन्त्रमुक्तावलीं तत्त्वकौमुदीं तन्त्रकौमुदीम्।
मन्त्रतन्त्रप्रकाशाख्यं श्रीरामार्चनचन्द्रिकाम्॥३०॥
शारदातिलकं ज्ञानार्णवं सारसमुच्चयम्।
कल्पद्रुमं ज्ञानमालां पुरश्चरणचन्द्रिकाम्॥३१॥

मन्त्रमुक्तावली, तत्त्वकौमुदी, तन्त्रकौमुदी, मन्त्रतन्त्रप्रकाश, श्रीरामार्चनचन्द्रिका, शारदातिलक, ज्ञानार्णव, सारसमुच्चय, कल्पद्रुम, ज्ञानमाला, पुरश्चरणचन्द्रिका।

आगमोत्तरकं तत्त्वसागरं सारसंग्रहम्।
देवप्रकाशिनीं तन्त्रार्णवञ्च क्रमदीपिकाम्॥३२॥

तारारहस्यं श्यामाया रहस्यं तन्त्ररत्नकम्।
तन्त्रप्रदीपं ताराया विलासं विश्वमातृकाम् ॥३३॥
प्रपञ्चसारं तं तन्त्रसारं रत्नावलीं तथा।

आगमोत्तर, तत्त्वसागर, सारसंग्रह, देवप्रकाशिनी, तन्त्रार्णव, क्रमदीपिका, तारारहस्य, श्यामारहस्य, तन्त्ररत्न, तन्त्रप्रदीप, ताराविलास, विश्वमातृका, प्रपञ्चसार, तन्त्रसार एवं रत्नावली।।३२-३३।।

एवं षष्ठोत्तरशतं ग्रन्थानां विधिसाक्षिणाम् ॥३४॥
कल्पान् कुमारीकल्पादीन् श्रुतिश्चोपनिषद्गतान्।
ज्योतिःस्मृतिपुराणानि पाणिनीयादिकौशलम् ॥३५॥
गुरूपदेशयुक्तिभ्यां विनिष्कृष्याऽवलम्ब्य च।
गुरूणाञ्च मतं ज्ञात्वा साधकानां मतं तथा ॥३६॥
गुरुं गुरुगुरून्नत्वा यथाविधि मयाधुना।
संक्षिप्तसर्वतन्त्राणां सारमाकृष्य निर्मितः ॥३७॥
श्रीमांस्तत्त्वविलासोऽयं वरीवर्तु गृहे गृहे।
निर्घण्टस्य च ज्ञानार्थमङ्कमप्यभिधीयते ॥३८॥

इस प्रकार विधिप्रमाणस्वरूप ग्रन्थों का, जिनकी संख्या १६० है, इनके अतिरिक्त कुमारीकल्पादि कल्पसमूह, श्रुतिसमूह, उपनिषद् समूह, ज्योतिष, स्मृति, पुराण, पाणिनि आदि व्याकरणकौशल, गुरु-उपदेश तथा युक्ति द्वारा इन ग्रन्थों का अनुशीलन करके सिद्धान्त का अवलम्बन लेकर गुरु एवं साधकगण के उपदेशों का सार जानकर गुरु एवं गुरु के गुरु को यथाविधि प्रणाम करके समस्त तन्त्रों के सार का संकलन करते हुये मेरे द्वारा रचित यह संक्षिप्त सुन्दर 'आगमतत्त्वविलास' नामक ग्रन्थ घर-घर में सबके शीर्षप्रदेश पर विराजित हो। विषयसमूह के सम्यक् ज्ञान हेतु प्रतिपरिच्छेद में विषय की विवेचना की गई है।।३४-३८।।

प्रथमपरिच्छेदस्य प्रतिपाद्यविषयाः

सृष्टिक्रमोऽत्र दीक्षाया लक्षणं दक्षिणाविधिः।
दीक्षाया नित्यकाम्यत्वं दीक्षार्थो योगरूढ़ितः ॥१॥

अब प्रथम परिच्छेद का प्रतिपाद्य विषय कहा जा रहा है। इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम सृष्टिक्रम, दीक्षालक्षण, दक्षिणादानविधि, दीक्षा का नित्यत्व एवं कामत्व तथा योगरूढ़ि शक्ति द्वारा 'दीक्षा' शब्द का अर्थ प्रतिपादित किया जाता है।।१।।

गुरोश्च लक्षणं दोषान् गुर्वर्थो योगरूढ़ितः।
गुरोर्विशेषः पित्रादेर्दीक्षायाश्च निराकृतिः ॥२॥

गुरु के लक्षण, दोष, योगरूढ़ि शक्ति द्वारा 'गुरु' शब्द का अर्थ, गुरु के विशेष गुण, पिता-प्रभृति से दीक्षा-ग्रहण का निषेध—ये सब (इस प्रकरण में) प्रतिपादित किये जाते हैं।।२।।

कनिष्ठादिविचारश्च पितृदत्तमनोः पुनः।
ग्राह्यत्वमन्यगुरुतो दोषाभावस्तु कौलिकः ।।३।।

कनिष्ठादि का विचार, पिता द्वारा दिये मन्त्र का अन्य गुरु से ग्राह्यत्व तथा कौलिक पिता से मन्त्रग्रहण में दोषाभाव भी यहाँ निरूपित किया जा रहा है।।३।।

सिद्धमन्त्रोपदेशेषु गुरौ नास्ति विचारणम्।
महातीर्थोपरागादौ पित्रादेरपि सेव्यते ।।४।।

सिद्ध मन्त्र के ग्रहण में गुरु-विचार की आवश्यकता का न होना तथा महातीर्थ में, चन्द्र-सूर्यग्रहण के समय पिता आदि से दीक्षा लेने का औचित्य भी प्रतिपादित किया जा रहा है।।४।।

पित्रादिदत्तमन्त्रस्तु संस्कारादपि शुद्धिभाक् ।
स्वीयमन्त्रोपदेशे हि न कुर्याद् गुरुचिन्तनम् ।।५।।

यहाँ यह भी प्रतिपादित किया जा रहा है कि पिता-प्रभृति द्वारा दिये गये मन्त्र का संस्कार होने पर वे शुद्ध हो जाते हैं और अपने मन्त्र के उपदेश के लिये गुरु-विचार करना कर्त्तव्य नहीं है।।५।।

स्त्रियाः गुरुत्वनिर्देशः स्वप्नलब्धमनोर्विधिः ।
गुरोरलाभे मन्त्रस्य ग्रहणं शिष्यलक्षणम् ।।६।।

स्त्रियों के गुरुत्व का वर्णन, स्वप्न में प्राप्त मन्त्र की विधि, गुरु के अभाव में मन्त्रग्रहण की विधि तथा शिष्यलक्षण भी इसमें वर्णित है।।६।।

शिष्यदोषा मिथः पापग्राहिता गुरुशिष्ययोः ।
तयोः परीक्षाकालश्च स्वप्ने कालानपेक्षणम् ।।७।।

शिष्य के दोष, गुरु एवं शिष्य का पारस्परिक रूप से एक-दूसरे के पाप को ग्रहण करना, गुरु एवं शिष्य का परीक्षाकाल एवं स्वप्न में काल की कोई अपेक्षा नहीं है—यह भी प्रतिपादित किया जा रहा है।।७।।

शूद्राप्रदेयमन्त्रश्च शूद्रे मन्त्रार्चनाविधिः ।
स्वदेवतामन्वदानं मन्त्रशब्दार्थकीर्त्तनम् ।।८।।

शूद्र को न दिये जाने वाले मन्त्र का विवरण, शूद्रों को मन्त्र प्रदान करने की विधि, अपने इष्टदेवता के मन्त्र के दान का निषेध एवं 'मन्त्र' शब्द के अर्थ को भी कहा जा रहा है।।८।।

मन्त्रविद्याविभागश्च दीक्षादानादिनिर्णयः।
कालाशुद्धिव्यवस्थानं तत्राकर्त्तव्यनिश्चयः ॥९॥

तदनन्तर मन्त्र एवं विद्या के विभाग, दीक्षादान की तिथि आदि का निर्णय, काला-शुद्धि की व्यवस्था एवं इसमें जो अकर्त्तव्य है, उसका भी वर्णन किया गया है।।९।।

आवृत्ते दूषणाभावो निषिद्धेऽपि विधिः पृथक्।
न दोषो रविसङ्क्रान्तौ ग्रहणेष्वप्यकालजः ॥१०॥

तत्पश्चात् यह बतलाया गया है कि दूसरी बार तीर्थ-स्नानादि में काल की अशुद्धि-जनित दोष का अभाव होता है। निषिद्ध काल की पृथक् विधि भी वर्णित है और रविसंक्रान्ति तथा चन्द्र-सूर्यग्रहण में अकालजनित दोष नहीं होता, यह भी प्रतिपादित किया गया है।।१०।।

ग्रहे विशेषो वक्तव्यः शक्तिवैष्णवभेदतः।
गुरोराज्ञासु नाकालो महाविद्यासु चेष्यते ॥११॥

यहाँ शाक्त-वैष्णवभेद से ग्रह की शुद्धि-अशुद्धि को विशेष रूप से कहा गया है। गुरु की आज्ञा तथा महाविद्या के सम्बन्ध में अकाल दोष नहीं होता, यह भी विवेचित किया गया है।।११।।

गयादौ दीक्षाविरहो नाड़ीचक्रं कुलाकुलम्।
षट्पदाख्यञ्चाष्टवर्गचक्रञ्च राशिचक्रकम् ॥१२॥

गया आदि तीर्थों में दीक्षा का निषेध, नाड़ीचक्र, कुलाकुलचक्र, षट्पद नामक चक्र, अष्टवर्ग चक्र तथा राशिचक्र भी बतलाया जा रहा है।।१२।।

ऋक्षचक्रं तद्विशेषो योनिमैत्रीनिरूपणम्।
सिद्धादिचक्रं तत्रापि विशेषोऽथांशचक्रकम् ॥१३॥

तदनन्तर नक्षत्रचक्र एवं उसकी विशेष स्थिति, योनिमैत्री विचार, सिद्धादि चक्र, जिन्हें अकथहादि चक्र भी कहते हैं, उनकी विशेष स्थिति एवं अंशचक्र भी यहाँ विवेचित किया गया है।।१३।।

नृसिंहादौ च सिद्धादेरनपेक्षानिरूपणम्।
देवताभेदतश्चक्रभेदावश्यकता मता ॥१४॥

इसके पश्चात् यह बतलाया गया है कि नृसिंहादि मन्त्र की दीक्षा में सिद्धादि विचार अनावश्यक है। देवताभेद से चक्रों की विभिन्नता से सम्बन्धित विचार की आवश्यकता भी प्रतिपादित है।।१४।।

ऋण्यादिचक्रं तत्रापि शून्यलब्धिविचारणम् ।
मन्त्राङ्का अथ ऋण्यादिचक्रस्यास्यद्विरूपता ।।१५।।

इस प्रकरण में ऋणी-धनी चक्र, उसके द्वारा शून्य एवं लाभ का विचार, मन्त्राङ्क एवं ऋणी-धनी चक्र में द्वैरूपता भी वर्णित है।।१५।।

आवश्यकत्वं नामादेरितरेषां यथातथम् ।
श्रीदेवशर्मरहितनाम्नां गणनमिष्यते ।।१६।।

इस परिच्छेद में नाम का ग्राह्यत्व, अनेक नामों में से किसी नाम के यथार्थ का निरूपण और नामों में श्री एवं देवशर्मा शब्द से रहित नाम की गणना का अभिप्राय प्रदर्शित किया गया है।।१६।।

विचारेऽनेकनाम्नाऽनुग्राह्यनामनिरूपणम् ।
मन्त्रत्यागे प्रकारौ द्वावथ कर्त्तव्यनिर्णयः ।
शुद्धस्य मन्त्रस्यालाभे कौलिकेषु च दूषणे ।।१७।।

तत्पश्चात् इस परिच्छेद में अनेक नामों में से अनुग्राह्य नाम का निरूपण, मन्त्र-त्याग के दो प्रकार तथा शुद्ध मन्त्र का लाभ न होने अथवा कौलिक आदि के पास मन्त्र का विचार करने के दोष से दूषित हो जाने पर यह निर्णय दिया गया है कि ऐसी परिस्थिति में क्या कर्त्तव्य होना चाहिये।।१७।।

महाविद्यासु सर्वासु न विचारोपयोगिता ।
महाविद्यासमुद्देशः सन्दिग्धवर्णनिर्णयः ।।१८।।

तदनन्तर समस्त महाविद्याओं की दीक्षा में चक्र आदि के विचार की अनुपयोगिता, महाविद्या के नाम की महिमा एवं चक्रविचार के लिये उपयोगी मन्त्रों के अन्तर्गत आने वाले सन्दिग्ध वर्ण का निर्णय किया गया है।।१८।।

वासनायाश्च भेदेनोपासनाफलनिर्णयः ।
मन्त्राणां दशसंस्कारा मातृकायन्त्रसाधनम् ।।१९।।

तत्पश्चात् कामना की विभिन्नता से की गई उपासनाओं के फल का निर्णय, मन्त्र के दस संस्कार एवं मातृका यन्त्र के साधना की विधि का वर्णन किया गया है।।१९।।

दीक्षायां पूर्वकृत्यानि सौरमासञ्च वाच्यता ।
दीक्षाप्रमाणं तत्रैव कलशस्थापनक्रिया ।।२०।।

तदनन्तर दीक्षा से पहले किये जाने वाले कृत्य, सौरमास का निर्णय, दीक्षा के प्रमाण एवं दीक्षा में कलशस्थापन की विधि का उल्लेख किया गया है।।२०।।

पञ्चपल्लवनिर्देशो नवरत्नस्य निर्णयः।
रत्नाभावे भवेद् धान्यं दीक्षायां मुखनिर्णयः ॥२१॥

तत्पश्चात् पञ्चपल्लव के सम्बन्ध में निर्देश दिया गया है। इस प्रसंग में नवरत्न का निर्णय, रत्न का अभाव होने पर उसकी जगह धान्य के प्रयोग का निर्देश एवं दीक्षा के प्राङ्मुख आदि का निर्णय अंकित है।।२१।।

दक्षिणा चाथ संक्षेपदीक्षोपदेशकर्मणि।
दीक्षाप्रयोगान् वक्ष्यन्ते सर्वतोभद्रमण्डलम् ॥२२॥

इसके अनन्तर दीक्षा की दक्षिणा, संक्षेप दीक्षा, उपदेश दीक्षा, दीक्षा का अनुष्ठान आदि एवं सर्वतोभद्र मण्डल का वर्णन है।।२२।।

तद्भेदो नवनाभञ्च पञ्चाङ्गमपि मण्डलम्।
अथ प्रवाच्य दीक्षान्ते निषिद्धं गुरुशिष्ययोः ॥२३॥

तदनन्तर नवनाभमण्डल, पञ्चाङ्ग मण्डल, सर्वतोभद्र मण्डल के भेद एवं दीक्षा के उपरान्त गुरु एवं शिष्य के लिए निषिद्ध विषयों का उपदेश दिया गया है।।२३।।

गुरौ शिष्यस्य कर्त्तव्यं मन्त्रादित्यागदूषणम्।
अदोषश्च क्वचित् त्यागे गुरुपुत्रादिसेवनम् ॥२४॥

तदनन्तर गुरु के प्रति शिष्य का कर्त्तव्य, मन्त्रादि को त्यागने से लगने वाले दोष, कहाँ मन्त्र का त्याग करने से दोष नहीं होता एवं गुरु-पुत्रादि की सेवा के विषय में कहा गया है।।२४।।

गुरुपत्नीसपर्या च करमालादिनिर्णयः।
मालासंस्करणे तत्र पञ्चगव्यनिरूपणम्।
रुद्राक्षगुणसंस्कारौ महाशङ्खपरिक्रिया ॥२५॥

इसके पश्चात् गुरुपत्नी की पूजा, करमाला का निर्णय, माला-संस्कार, माला के संस्कार में पञ्चगव्य, रुद्राक्ष एवं सूत्र (डोरी) का संस्कार, महाशंख का संस्कार निरूपित किया गया है।।२५।।

यन्त्रसंस्करणञ्चाथ त्रिलोहीमानसंस्कृति।
ततः परं बलिविधिः पूजास्थानविवेचनम् ॥२६॥

तदनन्तर यन्त्रसंस्कार, त्रिलौह की मुद्रिका का परिमाण एवं संस्कार, बलिविधि तथा पूजास्थान की विवेचना की जा रही है।।२६।।

पूजनानधिकारश्च　　दन्तरक्तादिसम्भवे।
महागुरोश्च　प्रेतत्वे　पूजाकालावधिक्रमः ॥२७॥

इसके अनन्तर यह निरूपित किया गया है कि दन्त आदि से रक्तपात होने पर पूजा का अधिकार नहीं रहता। महागुरु का निपात होने पर पूजा की अवधि एवं क्रम का भी वर्णन किया गया है।।२७।।

वामदक्षिणभावौ　च　शक्त्युपासनया　फलम्।
आगमस्य　प्रशंसा　च　परिच्छेदोऽयमाधियः ॥२८॥

इसमें वाम-दक्षिण भाव, शक्ति की उपासना का फल तथा आगम शास्त्र की प्रशंसा का उल्लेख अपनी बुद्धि के अनुसार अंकित है। इस प्रकार से प्रथम परिच्छेद की रचना की गई है।।२८।।

द्वितीयपरिच्छेदविषयाः

अथ　प्रातःक्रियां　स्नानं　सन्ध्यास्तस्यास्त्रिकालता।
तर्पणं　सूर्यपूजार्घ्यो　गायत्रीध्यानसंयुता ॥२९॥

अब द्वितीय परिच्छेद के विषय कहे जा रहे हैं। इसमें प्रथमतः प्रातःकृत्य, स्नान, सन्ध्या एवं सन्ध्या को तीनों काल में करने की आवश्यकता, तर्पण, सूर्यार्घ्य, ध्यान एवं गायत्री का वर्णन किया गया है।।२९।।

परिधानञ्च　विकिरश्चासनं　मुखनिर्णयः।
चतुर्विधा　भूतशुद्धिस्तत्रैव　पापपूरुषः ॥३०॥

वस्त्रादि परिधान, विकिर, पूजासन, मुखनिर्णय, चार प्रकार से भूतशुद्धि एवं पापपुरुष के दाह की प्रक्रिया का भी उल्लेख है।।३०।।

अथान्तर्मातृकान्यासो　बहिर्मातृकया　सह।
मातृकायामङ्गुलीनां　क्रमः　संहारमातृका ॥३१॥

इसके अनन्तर बाह्य मातृका न्यास, अन्तर्मातृका न्यास, मातृका न्यास में अंगुलियों के प्रयोग का नियम एवं संहारमातृका का वर्णन है।।३१।।

सामान्यतो　हि　न्यासेषु　चाङ्गुलीनां　विनिर्णयः।
प्राणायामोऽस्य　नित्यत्वं　पीठन्यासर्षिविन्यसौ ॥३२॥

सामान्यतः न्यासों के लिये अंगुलियों का नियम, प्राणायाम, उसकी नित्यता, पीठन्यास एवं ऋषि आदि के न्यासों का निश्चय किया गया है।।३२।।

अङ्गन्यासेऽङ्गुलीनाञ्च क्रमो मानसपूजनम्।
अर्घ्यस्य पात्रं संस्थानं पूर्वादेर्नियमो दिशः ॥३३॥

तदनन्तर अंगन्यास में उंगलियों के क्रम का नियम, मानस पूजन, अर्घ्यपात्र, उसकी स्थापना-विधि एवं पूजाकाल में पूर्व आदि दिशाओं का वर्णन अंकित है।।३३।।

पूजाजपसमर्पश्च सामान्यार्घ्यनिरूपणम्।
उपचाराश्च निर्माल्यकालः पुष्पादिकस्य च ॥३४॥

पूजन, जप, आत्मसमर्पण, सामान्य अर्घ्य, पूजा-हेतु उपचारसमूह एवं पुष्प आदि के निर्माल्य का काल भी वर्णित है।।३४।।

आसनादीनि नैवेद्यं विशेषस्तत्र कीर्त्तितः।
परिभाषोपचाराणां प्रदक्षिणनमस्क्रिये ॥३५॥

तदनन्तर देवता को दिये जाने वाले आसनादि उपचार द्रव्य, नैवेद्य तथा उसका विशेष, उपचारों की परिभाषा, प्रदक्षिणा एवं नमस्कार का विधान कहा गया है।।३५।।

नैमित्तिकाद्यकरणप्रायश्चित्तं विविच्यते।
पञ्चधा पूजनं तत्र शुद्धयः परिकीर्त्तिताः ॥३६॥

इसके अनन्तर नैमित्तिकादि के न करने पर प्रायश्चित्त का विधान, गौतमीय तन्त्रोक्त पाँच प्रकार की पूजा एवं देहशुद्धि का वर्णन किया गया है।।३६।।

वैष्णवस्याङ्गलेख्यानि तत्रापराधनिर्णयः।
वाद्यं चक्राम्बुमाहात्म्यं कार्यत्वं नृत्यगीतयोः ॥३७॥

तदनन्तर वैष्णवों के अंग पर अंकित किये जाने वाले अस्त्रसमूह, देवता के प्रति किये गये इस प्रकार के अपराध, देवमन्दिर के वाद्य, शालग्राम शिला को चढ़ाये गये जल का माहात्म्य, देवता के सम्मुख नृत्य एवं गीत के सम्बन्ध में बतलाया गया है।।३७।।

योगासनानि वाच्यानि धारणायन्त्रनिर्णयः।
यन्त्राणां लिखनद्रव्यं नित्यसामान्यपूजनम् ॥३८॥

योगासन, यन्त्रों का वर्णन जिन्हें धारण किया जाता है, यन्त्रों के लिखने में प्रयुक्त द्रव्य तथा उनकी नित्य सामान्य पूजा का भी वर्णन इस परिच्छेद में अंकित है।।३८।।

पञ्चायतन्याः पूजायाः क्रमस्तत्रैव वक्ष्यते।
नैमित्तिकविधानञ्च प्रयोगास्तत्र तर्पणम् ॥३९॥

इस परिच्छेद में पंचायतनी पूजा का क्रम, नैमित्तिक कर्म की विधि, विभिन्न देवताओं का प्रयोग एवं तर्पण भी वर्णित है।।३९।।

आकर्षणं वशीकारो विद्वेषोच्चाटने ततः।
अभिचारोऽथ षट्कर्माण्येषु ऋत्वादिनिर्णयः ॥४०॥
तत्रासनानि वाच्यानि तन्मुद्राश्च पृथक् पृथक्।
ग्रथनस्य विदर्भस्य संपुटस्यापि लक्षणम् ॥४१॥
परिभाषा रोधनस्य योगस्य पल्लवस्य च।
भूतोदयश्च भूतानां मण्डलानि ततः परम् ॥४२॥
निरूपणं मानसादेर्जपस्याथ जपक्रमः।
वक्तव्या कुल्लूका सेतुर्महासेतुश्च तत्परम् ॥४३॥
निर्वाणमथ ऋष्यादिन्यासावश्यकता जपे।
सूतकद्वयविच्छेदस्तथा सप्तच्छदाऽमृते ॥४४॥
तत्रैव निद्रा वक्तव्या देवतानां कलौ युगे।
प्रचण्डचण्डिकामन्त्रे प्रतिषेधप्रतिक्रिये ॥४५॥
अथ कामकलातत्त्वं मनःसंहरणादिकम्।
मन्त्रार्थमन्त्र चैतन्ययोनिमुद्रानिरूपणम् ॥४६॥

तदनन्तर तिलक, बलि का विधान, शत्रु द्वारा किये गये उच्चाटन आदि के निग्रह के उपाय, आकर्षण, वशीकरण, विद्वेषण, उच्चाटन, अभिचार, षट्कर्म का लक्षण, उनके लिये उपयोगी ऋतु-प्रकृति का निर्णय, षट्कर्म के लिये विहित आसन, पृथक्-पृथक् पूजा, ग्रथन, विदर्भ तथा सम्पुट का लक्षण, रोधन की परिभाषा, योग तथा पल्लव की परिभाषा, भूतोदय, भूतमण्डल, मानस आदि जप, जपक्रम, कुल्लूका, सेतु, महासेतु, मन्त्रशिखा, ऋष्यादि न्यास की जप में आवश्यकता, जप में दोनों सूतक (जनन-मरण सूतक) का विच्छेद, सप्तच्छदा, अमृता, कलियुग में देवगण की निद्रा, प्रचण्डचण्डिका मन्त्र में दीक्षा का प्रतिषेध एवं निषेध-लंघन में प्रतिक्रिया, कामकला तत्त्व, विषयों से मन को लौटाना, मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य एवं योनिमुद्रा का वर्णन किया गया है।।४०-४६।।

अथ भूतलिपिर्वाच्या प्रयोगो जपकर्मणः।
अथ वाच्या पुरश्चर्या तत्र स्थाननिरूपणम् ॥४७॥

कालो भक्ष्यादिनियमो जपकालावधिस्ततः ।
जपसंख्याद्रव्यविधिर्गायत्रीजप्यता पुरः ॥४८॥
कूर्मचक्रं पुरश्चर्या होमादीन्यथ दक्षिणा ।
ग्रहणीयपुरश्चर्या पुरश्चर्याप्रयोगकौ ॥४९॥
रहस्यपुरश्चरणं वक्तव्यं वीरसाधनम् ।
शवस्य योगिनीनाञ्च किन्नरीणाञ्च साधनम् ॥५०॥
अदृश्यसिद्धिः परतः सिद्ध्यन्तरनिरूपणम् ।
लक्षणं मन्त्रसिद्धीनामुपायश्च निरूपिता ॥५१॥
शापोद्धारौ मन्त्रदोषास्तच्छान्तिर्बालसंक्रिया ।
कुलाचारोऽथ वक्तव्यो वाच्यस्तत्र शिवाबलिः ॥५२॥
महानिशा कुलाकुलौ कुलवृक्षादिकीर्त्तनम् ।
सिद्धपीठस्य गणना मन्त्रस्य लिखनक्रमः ॥५३॥
स्वयम्भुकुसुमादीनां भावानाञ्च निरूपणम् ।
अन्तर्यागप्रकारौ द्वौ कुमारीपूजनक्रमः ॥५४॥
कन्यादानफलं दूतीकुलपूजादिखण्डनम् ।
वामाचारविचारश्च तत्र मांसादिनिर्णयः ॥५५॥
मकारपञ्चकं तत्र वक्तव्यं कुलपूजने ।
मांसोनुकल्पो मुद्रा तु द्विविधा पारिभाषिकी ॥५६॥
वामाचारानुकल्पश्च पूजाधारनिरूपणम् ।
मन्त्रसन्दर्शनफलं यन्त्रोदकप्रशंसनम् ॥५७॥
यन्त्रनाशप्रायश्चित्तं यन्त्रं पूजां हि संस्कृतम् ।
असंस्कृतं न पूज्यं स्यादथ दैवादपूजने ॥५८॥
संस्कृतस्यापि यन्त्रस्य विशेषस्तत्र वक्ष्यते ।
एकत्र लिङ्गयुग्मादिपूजने दोषकीर्त्तनम् ॥५९॥
वक्ष्यन्ते शुद्धयः पञ्च ततः कुण्डनिरूपणम् ।
स्वल्पहोमः स्थण्डिलेऽपि करणीयोऽथ स्रुक्स्रुवौ ॥६०॥

इस परिच्छेद में भूतलिपि, जप का अनुष्ठान, पुरश्चरण एवं उसका स्थान, पुरश्चरण का काल, भक्ष्य वस्तु, जपकाल की सीमा, जपसंख्या-निर्णयार्थ द्रव्यविधि, पुरश्चरण के पूर्व गायत्री जप की आवश्यकता, कूर्मचक्र, पुरश्चरण-होम-तर्पण, दक्षिणा, ग्रहों का पुरश्चरण एवं प्रयोग, रहस्यपुरश्चरण, वीरसाधन, शवसाधन, योगिनीसाधन, किन्नरीसाधन, अदृश्यसिद्धि, अन्य सिद्धियाँ, मन्त्रसिद्धि के लक्षण तथा उपाय, नन्त्रों के शाप एवं

उनका उद्धार, मन्त्रों के दोष, यन्त्र दोष-शान्ति, बालक का संस्कार, कुलाचार, शिवाबलि, महानिशा, कुलाकुल, कुलवृक्ष, सिद्धपीठों के नाम, यन्त्रलेखनक्रम, स्वयम्भू कुसुम का स्वरूप, भावसमूह, अन्तर्याग के प्रकार, कुमारीपूजनक्रम, कन्यादानफल, दूतीयाग एवं कुलपूजादि का खण्डन, वामाचार-विचार, वामाचार में मांस आदि का निरूपण, कुलपूजन में पञ्चमकार की आवश्यकता, मांस का स्वरूप और उसका अनुकल्प, मुद्रा और उसकी परिभाषिकी, वामाचार का अनुकल्प, पूजा का आधार, यन्त्रदर्शन का फल एवं यन्त्र के ऊपर चढ़ाये गये जल की प्रशंसा, यन्त्र के नष्ट हो जाने का प्रायश्चित्त, संस्कार किये गये यन्त्र का पूजत्व, असंस्कृत यन्त्र का अपूजत्व, प्रतिष्ठित यन्त्र की दैवसंयोग से पूजा न किये जाने पर क्या करना चाहिये—इसका वर्णन, संस्कृत यन्त्र के विशेष एवं शिवलिङ्ग की एक साथ पूजा करने में जो दोष है, उसका वर्णन किया गया है। इसी के साथ पञ्चशुद्धि, कुण्डनिरूपण, स्वल्प होम में जो करना उचित है तथा स्रुक् एवं स्रुवा का माप आदि भी वर्णित है।।४७-६०।।

तयोरभावे पालाशमाश्वत्थं वा दलं भवेत्।
हस्तप्रमाणं तत्रैव वक्ष्यतेऽथ निरूपितम्।।६१।।
संख्यानुक्तौ शतं साष्ठं सहस्रं वा जपादिषु।
होमप्रकारस्तत्रैव दूर्वाहोमादिशंसनम्।।६२।।
घृतादीनान्तु गव्यानां ग्राह्यता यजनादिषु।
नमोऽन्ते न नमो देयं स्वाहान्ते द्विठ एव च।।६३।।
उत्तानपाणिना होमो वाच्यं तत्राग्निलक्षणम्।
निषेधः कर्णहोमादेस्तत्र कर्णादिरूपणम्।।६४।।
होमद्रव्यप्रमाणञ्च तत्र कर्षादिलक्षणम्।
नित्यहोमोऽथ संक्षिप्तः प्रयोगो होमकर्मणः।।६५।।
शान्तिस्नानं तथा शाक्ताभिषेकस्तत्र वक्ष्यते।
द्वितीये हि परिच्छेदे वाच्यान्येतान्यनुक्रमात्।।६६।।

स्रुक् एवं स्रुवा के अभाव में पलाश के पत्ते या पीपल के पत्ते से होम करना, हस्तप्रमाण के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है, आगे भी यह निरूपित होगा। जपसंख्या का जहाँ उल्लेख न हो (जप-होमादि में) वहाँ १०८ या १००८ जप करने का विधान, होम का प्रकार एवं दूर्वा से होम करने की प्रशंसा, यज्ञ आदि में गाय के घृत की आवश्यकता, अन्त में 'नमः' शब्द से समाप्त होने वाले मन्त्र के अन्त में 'नमः' शब्द का एवं उसके मन्त्र के अन्त में स्वाहा शब्द का अप्रदेयत्व विवेचित हुआ है। तत्पश्चात् उत्तान हस्त (उठे हाथ द्वारा) से होम, उत्तान हस्त तथा अग्नि का लक्षण, कर्ण होमादि

का निषेध एवं कर्म होमादि का लक्षण विवेचित है। इसके अनन्तर होम द्रव्य की मात्रा, कर्ष एवं परिमाप का लक्षण, संक्षिप्त नित्य होम एवं होमकर्म-प्रयोग कहा गया है। तदनन्तर शान्तिस्नान एवं शाक्ताभिषेक कहा गया है। द्वितीय परिच्छेद का यही रूप है।।६१-६६।।

तृतीयपरिच्छेदविषयाः

तृतीयेऽथ परिच्छेदे मन्त्रोद्धारादि वक्ष्यते।
गणेशस्याथ सूर्यस्य चन्द्रस्येन्द्रस्य सर्वशः ।।६७।।

अब तृतीय परिच्छेद का प्रतिपाद्य विषय कहते हैं। तृतीय परिच्छेद में मन्त्रोद्धारादि विषय का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम इसमें गणेश के समस्त मन्त्र, तदनन्तर सूर्य, चन्द्र तथा इन्द्र के मन्त्रों का वर्णन किया जायगा।।६७।।

विष्णो रामस्य कृष्णश्च बालगोपालकस्य च।
वासुदेवस्य च दधिवामनस्य विशेषतः ।।६८।।
हयग्रीवस्य च तथा नृसिंहस्य प्रवक्ष्यते।
वराहस्य ततस्तत्र वाच्यं हरिहरस्य च ।।६९।।
शिवस्य मृत्युञ्जयस्य दक्षिणामूर्त्तिकस्य च।
अर्द्धनारीश्वरस्याथ नीलकण्ठस्य वक्ष्यते ।।७०।।

तदनन्तर विष्णु, राम, कृष्ण, बालगोपाल, वासुदेव तथा विशेष करके दधिवामन के मन्त्रादि का वर्णन होगा। तत्पश्चात् हयग्रीव तथा नृसिंह भगवान् के मन्त्रों का उद्धार किया जायेगा। इसके पश्चात् वाराह तथा हरि-हर के मन्त्रादि का वर्णन होगा। तदनन्तर शिव, मृत्युञ्जय, दक्षिणामूर्त्ति, अर्धनारीश्वर और नीलकण्ठ के मन्त्रों का वर्णन किया जायेगा।।६८-७०।।

चण्डेश्वरस्य चण्डोग्रशूलपाणेर्विशेषतः।
मञ्जुघोषस्य तत्रैव स्तवस्तत्र प्रवक्ष्यते ।।७१।।
वाच्योत्थ त्र्यम्बको विद्या मृतसंजीवनी ततः।
शुक्रेणोपासिता चान्या क्षेत्रपालोऽत्थ वक्ष्यते ।।७२।।

इसके पश्चात् चण्डेश्वर, चण्डोग्र शूलपाणि का विशेषतः वर्णन किया जायेगा। मंजुघोष का मन्त्रोद्धार तथा स्तवादि का भी वर्णन यहीं होगा। तत्पश्चात् त्र्यम्बक मन्त्रोद्धार और मृतसंजीवनी विद्या तथा शुक्र द्वारा उपासित अन्य मृतसञ्जीवनी विद्या एवं क्षेत्रपाल का वर्णन किया जायेगा।।७१-७२।।

बलिस्तस्याथ बटुको बलिरस्य च वक्ष्यते।
अथ लक्ष्मीर्महालक्षीर्धनदा च प्रवक्ष्यते ॥७३॥
सरस्वतीमतो वक्ष्ये पारिजातसरस्वतीम्।
कल्पं सारस्वतं चेति परिच्छेदस्तृतीयकः ॥७४॥

तदनन्तर क्षेत्रपाल बली, बटुक भैरव का मन्त्र तथा उनके लिये बलिविधान का वर्णन होगा। तत्पश्चात् सरस्वती एवं पारिजात सरस्वती के मन्त्रोद्धारादि तथा सारस्वत कल्प का वर्णन इस तृतीय परिच्छेद में किया जायेगा।।७३-७४।।

चतुर्थपरिच्छेदविषयाः

भुवनेश्वर्यन्नपूर्णा त्रिपुटा त्वरिता तथा।
नित्या वज्रप्रस्तारिणी शूलिनी तत्र वक्ष्यते ॥७५॥
दुर्गा च जयदुर्गाख्या वाच्या महिषमर्दिनी।
वक्ष्यते बहुधा तत्र देवी दक्षिणकालिका ॥७६॥

चतुर्थ परिच्छेद का प्रतिपाद्य विषय कहा जा रहा है। इसमें भुवनेश्वरी, अन्नपूर्णा, त्रिपुटा, त्वरिता, नित्या, वज्रप्रस्तारिणी तथा शूलिनी के मन्त्रोद्धार का वर्णन होगा। तत्पश्चात् दुर्गा, जयदुर्गा और महिषमर्दिनी के मन्त्राभिधान का वर्णन किया जायेगा। इसी में देवी दक्षिणकालिका की मन्त्रविधि का भी वर्णन होगा।।७५-७६।।

सिद्धकाली गुह्यकाली भद्रकाली च विस्तरात्।
अथ वाच्या महाकाली तथा श्मशानकालिका ॥७७॥
अथ नानाभेदवती वाच्या गगनवासिनी।
तदाविर्भावकथनं हयग्रीवनिराकृतिः ॥७८॥
शापोद्धारविचारश्च पूजाविधिरनन्तरम्।
मन्त्रभेदाश्च वक्ष्यन्ते तारिणीकल्प उत्तमः ॥७९॥
प्रचण्डचण्डिका वाच्या वक्ष्यते तत्र भैरवी।
त्रिपुराभैरवी सम्पत्प्रदा च भैरवी तथा ॥८०॥

तत्पश्चात् अनेक भेदों वाली एवं गगन में निवास करने वाली तारादेवी के मन्त्र का वर्णन, उनके आविर्भाव का वर्णन तथा हयग्रीव आदि दैत्यों की हार का वर्णन किया जायेगा। तदनन्तर शापोद्धार का विचार, पूजाविधि, मन्त्र के भेद और उत्तम तारिणीकल्प का वर्णन किया जायेगा। इसके अनन्तर प्रचण्डचण्डिका के मन्त्र का उद्धार और भैरवी, त्रिपुरभैरवी तथा सम्पत्ति प्रदान करने वाली भैरवी के मन्त्रों का विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।।७७-८०।।

कौलेशभैरवी चैव भयविध्वंसिनी तथा।
ततो वाच्या हि परतो नाम्ना सकलसिद्धिदा ॥८१॥
चैतन्यभैरवी कामेश्वरी षट्कूटभैरवी।
भोगमोक्षप्रदा चैव तथा श्रीरुद्रभैरवी ॥८२॥
भुवनेश्वरी च सकलेश्वरी च त्रिपुरा तथा।
अन्नपूर्णेश्वरी वाच्या ततस्त्रिपुरसुन्दरी ॥८३॥

तत्पश्चात् कौलेशभैरवी एवं भयविध्वंसिनी भैरवी के मन्त्रों का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर नामों के आधार पर समस्त भैरवी गण के मन्त्र का उद्धार वर्णित है। इसके पश्चात् सिद्धि देने वाली भैरवी, चैतन्यभैरवी, कामेश्वरी भैरवी, षट्कूटा भैरवी, भोग-मोक्षप्रदा भैरवी, षट्कूट भैरवी तथा श्री रुद्रभैरवी के मन्त्रोद्धार आदि का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् सकलेश्वरी, भुवनेश्वरी, त्रिपुरा, बाला, अन्नपूर्णा भैरवी और त्रिपुरसुन्दरी के मन्त्रोद्धारादि का वर्णन है।।८१-८३।।

अथ प्रवक्ष्यते तत्र सद्विद्या बगलामुखी।
मातंग्युच्छिष्टचाण्डाली विद्या धूमावती ततः ॥८४॥
अथ कर्णपिशाची च विशालाक्षी ततः परम्।
गौरी कात्यायनी ब्रह्मश्रीश्च राजमुखी ततः ॥८५॥
ज्वालामालिन्यतो वाच्या वाच्यं निगड़मोक्षणम्।
अथ चिटिप्रकरणं गरुड़प्रक्रिया ततः ॥८६॥

इस परिच्छेद में सद्विद्या बगलामुखी, मातंगी, उच्छिष्टचाण्डालिनी, धूमावती, कर्णपिशाची, विशालाक्षी, गौरी, कात्यायनी, ब्रह्मश्री, राजमुखी, ज्वालामालिनी के मन्त्रों का वर्णन, निगड़ (बेड़ी)-मोक्षण, इसके पश्चात् चिटिप्रकरण तथा गरुड प्रकरण भी इसी अध्याय में अंकित है।।८४-८६।।

विषहराग्निमन्त्राद्या मन्त्रा वाच्यास्ततः परम्।
ततो हनुमतः कल्पो हनुमत् साधनं ततः ॥८७॥
आर्द्रपटी च वेतालसिद्धादि खलु वक्ष्यते।
चतुर्थोऽयं परिच्छेदः पञ्चमे तु प्रवक्ष्यते ॥८८॥

तदनन्तर विषहर अग्नि मन्त्रादि समूह का वर्णन किया जायेगा। इसके पश्चात् आर्द्रपटी तथा वेताल की सिद्धि का वर्णन इस चतुर्थ परिच्छेद में किया गया है। अब पञ्चम परिच्छेद के आलोच्य विषय के सम्बन्ध में कहा जाता है।।८७-८८।।

पञ्चमपरिच्छेदविषयाः

गणेशस्य स्तवस्तस्य कवचं कवचं रवेः ।
स्तवस्तवौ च रामस्य रामाष्टशतकस्तवः ॥८९॥

इस पञ्चम परिच्छेद में गणेशस्तव तथा कवच, सूर्यकवच तथा स्तव, राम के दो स्तोत्र तथा रामाष्टशतक स्तोत्र का भी वर्णन किया जा रहा है।।८९।।

श्रीरामकवचं कृष्णस्तोत्रं गोपालकस्तवः ।
श्रीकृष्णकवचं तत्र नृसिंहकवचं तथा ॥९०॥
विष्णुनामाष्टकं नारायणोपनिषदुच्यते ।
अथर्वाङ्गिरसञ्चापामार्जनस्तोत्रमुच्यते ॥९१॥
विष्णोस्तवः सरस्वत्याः प्रचण्डचण्डिकामनोः ।
स्तवश्च कवचं वाच्यं बगलायाः स्तवस्ततः॥९२॥

इसके अनन्तर श्रीरामकवच, कृष्णस्तुति, गोपालस्तुति, श्रीकृष्णकवच, नृसिंहकवच, विष्णुनामाष्टक, नारायणोपनिषद् कहा जायेगा। अथर्वाङ्गिरस तथा अपामार्जन स्तोत्र का भी वर्णन किया जायेगा। विष्णु-स्तवन, सरस्वती-स्तुति, देवी प्रचण्डचण्डिका के स्तव एवं कवच और बगलामुखी देवी की स्तुति तथा कवच का भी समावेश इस परिच्छेद में किया जा रहा है।।९०-९२।।

अन्नदास्तोत्रकवचे भुवनेश्याश्च ते ततः ।
त्रिपुटायाः स्तवद्वन्द्वं कवचं तत्र वक्ष्यते ॥९३॥
दुर्गायाः शतनामाख्यस्तोत्रं च कवचं तथा ।
सुन्दर्याः स्तोत्रयुगलं युगलं कवचस्य च ॥९४॥
लक्ष्म्याः स्तोत्रञ्च कवचं तारास्तोत्रत्रयं ततः ।
कवचत्रितयं चास्या मर्दिन्या अथ वक्ष्यते ॥९५॥
स्तवश्च कवचं तत्र भैरव्या अपि ते ततः ।
काल्याः स्तवद्वयं वाच्यं कवचत्रितयं तथा ॥९६॥

इस परिच्छेद में अन्नदा का स्तोत्र तथा कवच, भुवनेश्वरी का स्तोत्र तथा कवच, त्रिपुटा के स्तोत्रद्वय तथा कवचद्वय का भी कथन किया जा रहा है। तदनन्तर दुर्गा के शतनाम तथा कवच, सुन्दरी देवी के स्तोत्रद्वय तथा कवचद्वय, लक्ष्मीस्तोत्र तथा कवच, तारा के स्तोत्रत्रय तथा कवचत्रय, मर्दिनी देवी के स्तोत्र तथा कवच, भैरवी देवी के स्तोत्र तथा कवच, कालीदेवी के स्तोत्रद्वय तथा कवचत्रय का भी वर्णन होगा।।९३-९६।।

शिवस्य कवचं स्तोत्रं भैरवस्य स्तवस्तथा।
मुद्राप्रकरणं योगप्रक्रिया बहुभेदतः ॥९७॥
कर्मयोगज्ञानयोगौ षट्चक्रभेदनक्रिया।
तत्राऽस्मत्कीनपद्यानि ग्रन्थस्यात्र समापनम् ॥९८॥

तत्पश्चात् शिवस्तोत्र तथा कवच, भैरवस्तुति, मुद्रा प्रकरण तथा अनेक प्रकार की योग-प्रक्रिया का भी वर्णन किया जायेगा। कर्मयोग, ज्ञानयोग, षट्चक्र-भेदनप्रक्रिया के वर्णन के पश्चात् मेरे द्वारा रचित पद्यसमूह का अंकन किया जायेगा और यहीं ग्रन्थ की समाप्ति होगी।।९७-९८।।

●

नामानुशासनम्

तत्रादौ बीजवर्णानां संस्कृतः स्फुटमुच्यते।
ग्रन्थप्रवृत्तये तत्र त्वस्ताथादि न पूर्वभाक् ॥१॥
वर्णोऽक्षरं रश्मिवर्णः स्वरास्तु कथिता अचः।
व्यञ्जनानि हलो वर्गाः कादयोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ॥२॥

यहाँ ग्रन्थ में अनायास रुचि हो, इसलिये बीज तथा वर्णसमूह के वाचक संस्कृत शब्दों को स्पष्ट किया जा रहा है। जिस शब्द के अन्त में 'तु' शब्द हो, उसे 'त्वन्त' (तु से अन्त होने वाले) शब्द और जिस शब्द के आदि में 'अथ' हो, उसे 'अथादि' शब्द कहते हैं। त्वन्त शब्द तथा अथादि शब्द पूर्व पदार्थ के साथ अन्वित नहीं होते। वर्ण का वाचक शब्द है—वर्ण, अक्षर तथा रश्मिवर्ण। व्यञ्जनों का वाचक शब्द है—व्यञ्जन, हल्। इसके ककारादि आठ वर्ग कहे गये हैं।।१-२।।

कादीनि पञ्चपञ्चैव चतुष्कं षादि शादि च।
लादि द्वयं च मालायां स्वरस्याद्योऽन्तो लादिकः ॥३॥

ककारादि पाँच के वर्ग अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथ पवर्ग—ये पाँच वर्ग हुये। यादि तथा शादि वर्ग अर्थात् य र ल व—ये चारो यादि वर्ग हैं। श ष स ह—इन चारो को शादि वर्ग कहते हैं। लवर्ग में दो आते हैं—ल तथा क्ष। इस प्रकार वर्णमाला के प्रथम स्वर 'अ' प्रथम तथा अन्त 'क्ष' से अर्थात् अ से क्ष तक के वर्ण ही वर्णमाला कहे जाते हैं।।३।।

बीजोद्धारो बीजवाचकशब्दाश्च

अणुर्मन्त्रो मनुश्चाथ सत्यः स्यान्नादबिन्दुमान् ॥ॐ॥
ॐङ्कारः प्रणवस्तारो वेदादिर्वर्त्तुलो ध्रुवः ॥४॥
त्रैगुण्यं त्रिगुणो ब्रह्म सत्यो मन्त्रादिरव्ययः।
ब्रह्मबीजं त्रितत्त्वञ्च पञ्चरश्मिस्त्रिदैवतः ॥५॥

मन्त्र के अन्य वाचक शब्द हैं—अणु, मन्त्र, मनु। अब प्रणवोद्धार को कहा जा रहा है। सत्य, नाद तथा बिन्दुयुक्त ओंकार कहा जाता है। इसके वाचक शब्द हैं—ॐकार, प्रणव, तार, वेदादि, वर्त्तुल, ध्रुव, त्रैगुण्य, ब्रह्म, सत्य, मन्त्रादि, अव्यय, ब्रह्मबीज, त्रितत्त्व, पञ्चरश्मि तथा त्रिदैवत।।४-५।।

व्योमाग्निवामदृग्बिन्दुनादैर्मायाख्यबीजकम् ॥ह्रीं॥
माया लज्जा परा संवित् त्रिगुणा भुवनेश्वरि ॥६॥
हृल्लेखा शम्भुवनिता शक्तिदेवीश्वरी शिवा।
महामाया पार्वती च संस्थानकृतरूपिणी।
परमेश्वरी च भुवना धात्री जीवनमध्यगा ॥७॥

व्योम 'ह', अग्नि 'र', वाम दृक् (ई) तथा नाद एवं बिन्दु से मण्डित मायाबीज है— 'ह्रीं'। इसके अन्य वाचक शब्द हैं—माया, लज्जा, परा, संवित्, त्रिगुणा, भुवनेश्वरी, हृल्लेखा, शम्भुवनिता, शक्ति, देवी ईश्वरी, शिवा, महामाया, पार्वती, संस्थानकृत रूपिणी, परमेश्वरी, भुवना, धात्री तथा जीवनमध्यगा।।६-७।।

वह्निहीनेन्द्रयुङ्माया स्थिरमाया प्रकीर्त्तिता ॥८॥ ह्लीं॥

जब मायाबीज (ह्रीं) अग्निरहित अर्थात् 'र'कार-रहित होकर इन्द्र (लकार) युक्त होकर 'ह्लीं' हो जाती है तब उसे ह्लीं (स्थिरमाया) कहते हैं।।८।।

शाग्निशान्तिबिन्दुनादैर्लक्ष्मीप्रणव उच्यते ॥श्रीं॥
श्रीर्लक्ष्मीविष्णुवनिता रमा क्षीरसमुद्रजा ॥९॥

शकारादि, अग्नि (रकार), शान्ति (ईकार) तथा नाद-बिन्दु से युक्त होकर लक्ष्मी प्रणव अर्थात् लक्ष्मीबीज 'श्रीं' कहा जाता है। इनके अन्य वाचक शब्द हैं—श्री, लक्ष्मी, विष्णुवनिता, रमा तथा क्षीरसमुद्रजा।।९।।

षोडशव्यञ्जनं वह्नि वामाक्षि बिन्दुसंयुतम्।
चन्द्रबीजसमारूढं वधुबीजमिदं स्मृतम् ॥१०॥
॥ स्त्रीं॥

सोलहवाँ व्यञ्जन 'त', अग्नि 'र', वामाक्षि 'ई' तथा बिन्दुसहित चन्द्रबीज 'स' आरूढ़ होकर अर्थात् युक्त होकर वधूबीज 'स्त्रीं' कहे जाते हैं।।१०।।

वधूर्वामिक्षणा योषिद्देकाक्षी स्त्री च कामिनी ॥११॥

वधूबीज के अन्य वाचक हैं—वधू, वामा, ईक्षणा, योषित्, एकाक्षी, स्त्री तथा कामिनी।।११।।

नादबिन्दुसमायुक्तो द्वादशन्तु स्वरो भगः ॥ ऐं॥
योनिः सरस्वती ज्ञानमधरं वाग्भवञ्च वाक् ॥१२॥

बारहवाँ स्वर 'ऐ' नाद तथा बिन्दु से युक्त होकर वाग्भव बीज बन जाता है। इसके अन्य वाचक शब्द हैं—भग, योनि, सरस्वती, ज्ञान, अधर, वाग्भव तथा वाक्।।१२।।

हकारो वामकर्णाढ्यो नादबिन्दुविभूषितः ॥ हूं॥
कूर्चं क्रोध उग्रदर्पो दीर्घहूङ्कार उच्यते ।
शब्दश्च दीर्घकवचं ताराप्रणव उच्यते ॥१३॥

हकार वामकर्ण (ऊ) से युक्त हो, नाद-बिन्दु द्वारा मण्डित होकर कूर्चबीज 'हूं' बन जाता है। इसके वाचक हैं—कूर्च, क्रोध, उग्रदर्प, दीर्घ हूंकार, शब्द, दीर्घप्रणव तथा तारा प्रणव।।१३।।

कामाक्षरं वह्निसंस्थं रतिबिन्दुविभूषितम् ॥ क्रीं॥
कालीबीजमिदं प्रोक्तं रतिबीजं तदेव हि ॥१४॥

कामाक्षर 'क' जब वह्नि 'र' में स्थित हो रति 'ई' और बिन्दु द्वारा विभूषित हो जाता है, तब काली बीज 'क्रीं' का उद्धार होता है; यही रतिबीज भी है।।१४।।

कामाक्षरं धरासंस्थं रतिबिन्दुविभूषितम् ॥ क्लीं॥
गुह्यकालीबीजमिदं गोपालबीजमित्यपि ।
तत् कामबीजं कामेशीबीजं शक्तिस्तु सोः परा ॥१५॥

कामाक्षर क जब 'ल' से युक्त होकर (रति) तथा बिन्दु द्वारा विभूषित होता है तब उसे गुह्यकाली बीज 'क्लीं' कहते हैं। इसका वाचक शब्द है—शक्ति, सोः, परा।।१५।।

सत्यास्तुयुक् व्योम सेन्दु शैवं प्रासादमुच्यते ।
॥ हौं॥
कलाद्यं क्लेदिनीबीजं क्रोङ्कारस्त्वङ्कुशोभिधः ।
॥ कल्ह्रीं क्रों॥
आकारो बिन्दुमान् पाशः शेषश्च समुदीरितः ॥१६॥
॥ आं॥

व्योम (आकाश) वाचक 'ह', सत्यान्त अर्थात् 'ओ' तथा बिन्दु—यह सब मिलकर शिवप्रसाद बीज 'हों' का उद्धार होता है। 'क्ल्हीं' यह क्लेदिनी बीज है। 'क्रों' को अंकुशबीज भी कहा जाता है। 'आ' में जब बिन्दु लगा देते हैं तब 'आं' ही पाशबीज हो जाता है। इसे 'शेष' भी कहते हैं।।१६।।

सकला भुवनेशानि कामेशीबीजमुच्यते ।
॥ सकलह्रीं॥
नमस्तु हृदयं स्वाहा द्विठष्ठयुगलं ठः ठः ॥१७॥
नमः स्वाहा॥

स् क् ल् को भी कामेशी बीज कहते हैं। हृदय ही है—नमः। दो ठ और स्वाहा। इसका रूप हुआ—'स्क्ल् ह्रीं नमः ठः ठः स्वाहा'।।१७।।

चन्द्रयुग्मं शिरो वेदमाता ज्वलनसुन्दरी।
शिखा वषट् च कवचं क्रोधो वर्म हुंमिव्यपि ॥१८॥
॥ वषट्, हुं॥
अत्र नेत्रयुगं वौषट् फड्स्त्रं शस्त्रमायुधम्।
॥ वौषट् फट्॥
तार्तीयन्तु ह्सौः प्रेतबीजं हंसोऽजपामनुः ॥१९॥
॥ हसौः, हंसः॥

इसका अन्य वाचक शब्द है—चन्द्रयुग्म, शिर, वेदमाता, ज्वलनसुन्दरी। शिखा है—वषट्। कवच, क्रोध तथा वर्म है—हुं। तन्त्र में नेत्रद्वय के लिये प्रयुक्त होता है—वौषट्। अस्त्र, शस्त्र तथा आयुध के लिये प्रयुक्त है—फट्। तार्त्तीय तथा प्रेतबीज है—ह्सौः। अजपा मन्त्र है—हंसः।।१८-१९।।

गकारो बिन्दुमान् विघ्नबीजं गणेशबीजकम् ॥ गं॥
स्मृतिस्थं मांसमौबिन्दुयुतं भूबीजमीरितम् ॥२०॥
॥ ग्लौं॥

गं से होता है—विघ्नबीज। इसमें गकारगत मांस अर्थात् ल को बिन्दु से युक्त करके भूबीज 'ग्लौं' का उद्धार होता है।।२०।।

डामन्तं दहननेत्रेन्दुयुतं तु विश्वबीजकम् ॥ ड्रीं॥
अथ कामकला वामनयनं बिन्दुसंयुतम् ॥२१॥

ठ के अन्त वाला व्यञ्जन अर्थात् 'ड' जब नेत्र 'इ' से तथा बिन्दुयुक्त हो जाय तब 'ड्रीं' नामक विश्वबीज का उद्धार होता है। वाम नयन अर्थात् दीर्घ ई बिन्दुयुक्त होकर कामकला बीज 'ईं' का रूप ले लेता है।।२१।।

स्वरवर्णवाचकशब्दाः

अः श्रीकण्ठो मातृकाद्योऽनन्तो विष्णुरनुत्तरः।
आ विष्णुशयनं शेषोऽनन्तो नारायणोऽम्बुधिः ॥२२॥
दीर्घः प्रतिष्ठा इर्नेत्रं सूक्ष्मं दक्षिणलोचनम्।
ई वामनेत्रं शान्तिश्च त्रिमूर्त्तिरिन्दिरा रतिः ॥२३॥
महामाया बिन्दुमती सर्पिणी बिन्दुमालिनी।
माया कला च सूक्ष्मान्तो दक्षाक्षि परमेश्वरी ॥२४॥

कला चाथ डकारः स्यात् शिवः कर्णश्च मोहनः ।
उर्वामश्रुतिरर्घीशः सूत्रञ्च मधुसूदनः ॥२५॥

अब वर्णसमूह के वाचक शब्दों के विषय में कहा जाता है। 'अ'कार ही श्रीकण्ठ, मातृकाद्य अनन्त विष्णु अनुत्तर है। 'आ' ही विष्णुशयन, शेष, अनन्त, नारायण, अम्बुधि, दीर्घ तथा प्रतिष्ठा है। 'इ' नेत्र, सूक्ष्म तथा दाहिनी आँख का वाचक है। 'ई' वामनेत्र, शान्ति, त्रिमूर्त्ति, इन्दिरा, रति, महामाया, बिन्दुमती, सर्पिणी, बिन्दुमालिनी, माया, कला, सूक्ष्मान्त, दक्षाक्षि, परमेश्वरी तथा कला का वाचक है। 'उ' ही शिव, दाहिना कर्ण तथा मोहन है। 'ऊ' वामकर्ण, अर्घीश, सूत्र तथा मधुसूदन है।।२२-२५।।

ऋर्नासिका देवमात्रा ॠः क्रोधवामनासिका ।
ऌकारो दक्षगण्डः स्यात् ॡकारो वामगण्डकः ॥२६॥

ऋ = नासिका तथा देवमाता का, ॠः = क्रोध तथा वाम नासिका, ऌ = दाहिना गण्डःस्थल। ॡ = वाम गण्डःस्थल।।२६।।

एकारो वामगण्डान्तः शक्ति झिन्टिभगस्तथा ।
मोक्षबीजं च विजया ओष्ठ एकादशस्वरः ॥२७॥

ए = वामगण्डान्त, शक्ति, झिन्टि, भग, मोक्षबीज, विजया, ओष्ठ तथा ग्यारहवाँ स्वर।।२७।।

ऐकारो योनिरधरो दन्तान्तो भौतिकस्तथा ।
ओकार उर्ध्वदन्तः स्यात् सत्यश्च प्रणवांशकः ॥२८॥

ऐ = योनि, अधर, दन्त के अन्त का स्थान, भौतिक। ओ = ऊर्ध्व दन्त ऊपर के दाँत, सत्य, प्रणवांशक ।।२८।।

औकारः शेषो दशनः सत्यान्तो मनुरीरितः ।
अं शशी बिन्दुरर्द्धेन्दुमृगाङ्कः केवलः शिवः ॥२९॥
शून्यमूर्ध्वमुखः कामो गगनं बुद्बुदो लवः ।
क्वचिद् बिन्दुपदेनापि सनादो बिन्दुरुच्यते ॥३०॥

औ = शेष, दशन (दाँत) सत्यान्त, मनु। अं = शशी, बिन्दु, अर्द्धेन्दु, मृगाङ्क, केवल, शिव, शून्य, ऊर्ध्वमुख, काम, गगन, बुद्बुद् तथा लव। कोई-कोई विद्वान् बिन्दु को नादयुक्त बिन्दु भी कहते हैं।।२९-३०।।

अः सर्गो रसना वक्तुं विसर्गश्च द्विबिन्दुकः ।
नादोऽर्द्धेन्दुरर्धमात्रा कला वाणी सदाशिवः ।
अनुच्चार्या तुरीया च विश्वमातृकला परा ॥३१॥

अः = सर्ग, रसना, वाणी, विसर्ग, द्विबिन्दु, नाद, अर्द्धेन्दु, अर्धमात्रा, कला, वाणी, सदाशिव, अनुच्चार्या, तुरीया, विश्वमातृकला तथा परा।।३१।।

इति स्वरवर्गः

●

व्यञ्जनवर्णवाचकशब्दाः

कः क्रोधीशो महाकाली कामश्चक्री प्रजापतिः।
ब्रह्मा दक्षिणबाहुश्च वर्गादिः काकिनी करः ।।३२।।
खः कान्तः खड्गिनी ऋद्धिः कफोणिः शून्यमिन्द्रियम्।
गस्तु पञ्चान्तको गौरि स्मृतिर्गङ्गा गणेश्वरः ।।३३।।

अब व्यञ्जन वर्णवाचक शब्द कहे जाते हैं। क = क्रोधीश, महाकाली, काम, चक्री, प्रजापति, ब्रह्मा, दक्षिण बाहु, वर्गादि, काकिनी तथा कर। ख = कान्त, खड्गिणी, ऋद्धि, कफोणी, शून्य तथा इन्द्रिय। ग = पञ्चान्तक, गौरी, स्मृति, गंगा तथा गणेश्वर।।३२-३३।।

घः षड्गी घूर्घूरो घण्टा ङस्तु दक्षनक्षो विषम्।
चः कूर्मश्चञ्चलश्चण्डी वामदोर्मूलमित्यपि ।।३४।।

घ = खड्गी, घूर्घुर शब्द, घण्टा। ङ = दाहिना नख तथा विष। च = कूर्म, चंचल, वाम दोर्मूल ।।३४।।

छ एकनेत्रो वृषली द्विशिरो वामकूर्परः।
जः स्थिरा विजया झस्तु झङ्कारी कङ्कणः कुहुः ।।३५।।

छ = एकनेत्र, वृषली, दो शिरों वाला, वामकूर्पर। ज = स्थिरा, विजया। झ = झङ्कारी, कंकण तथा कुहु।।३५।।

ञकारो वामनखरष्टस्तु टङ्कार उच्यते।
ठष्ठान्तो लाङ्गली डस्तु डाकिनीबीजमुच्यते ।।३६।।

ञ = वाम नख। ट = टकार। ठ = ठान्त, लाङ्गली। ड = डाकिनी बीज।।३६।।

ढकारो धनदः शूरो निर्गुणो निधनो ध्वनिः।
णो ढान्तो द्विमुखस्तुः स्यादाषाढ़ी पृष्ठपृच्छकः ।।३७।।

ढ = धनद, शूर, निर्गुण, निधन तथा ध्वनि। ण = ढान्त तथा द्विमुख। त = आषाढ़ी, पृष्ठपृच्छक।।३७।।

थकारस्तु महाग्रन्थिर्दस्त्वन्द्रिस्थान्त इत्यपि।
धो मीनेशस्तु तुर्यश्च दान्तस्तोयश्च शङ्खिनी॥३८॥

थ = महाग्रन्थि। द = अद्रि तथा थान्त (थान्त = जो थ के अन्त में आता है)। ध = मीनेश। त = तुर्य, दान्त, जल (तोय), शंखिनी।।३८।।

नकारो दीर्घमेषेशाः पः पार्श्वं लोहितोऽपि च।
फः पान्तो वामपार्श्वश्च वकारस्तु युगन्धरः।
सुरभिर्मुखविष्णुः च संहारो वसुधाधिपः॥३९॥

न = दीर्घ, मेष, ईश। प = पार्श्व, लोहित। फ = पान्त, वामपार्श्व। व = युगन्धर, सुरभि, मुखविष्णु, वसुधाधिप।।३९।।

भकारो भ्रामरो भीमो द्विरण्डो भूषणं भयम्।
मो भान्तो जठरो यादिरादित्यो रुद्रयोगिनी।
भानुः कालश्च कालेशो विषं पावकमण्डलम्॥४०॥

भ = भ्रामर, भीम, द्विरण्ड, भग्न। म = भान्त, जठर, आदित्य, रुद्रयोगिनी, भानु, काल, कालेश, विष, पावक-मण्डल।।४०।।

यो वाणी वरुणो मान्तो मरुद् रेफस्तु राकिनी।
रक्तं वह्निर्लस्तु मांसं धरा शत्रुश्च लाकिनी॥४१॥

य = वाणी, मरुत्, मान्त। र = राकिनी, रक्त तथा अग्नि। ल = मांस, धरा, शक्र, लाकिनी।।४१।।

वो बालो वारुणी सूक्ष्मा वरुणो वेदसंज्ञकः।
तोयं लान्तश्च रामांशः शो वान्तो वपरो वकः॥४२॥

व = बाल, वारुणी, सूक्ष्म, वरुण, वेद, तोय, लान्त तथा रामांश। श = वपर, वान्त तथा वक।।४२।।

षः श्वेतो वासुदेवश्च सः कूलं साकिनी परा।
भृग्वीशः शक्तिरमृतं देवी जीवो भृगुः शनी॥४३॥
शुक्रश्चाथ हकारो हः प्राणः सान्तः शिवो वियत्।
अकुलो नकुलीशश्च हंसः शून्यश्च हाकिनी॥४४॥
अनन्तो नकुली जीवः परमात्मा ललाटजः।
क्षस्तु संवर्त्तको हान्तो वर्णान्त्योऽन्त्यश्च लोहितः॥४५॥

ष = श्वेत, वासुदेव। स = कूल, साकिनी, परा, भृग्वीश, शक्ति, अमृत,

देवीबीज, भृगु, शशी तथा शुक्र। ह = प्राण, सान्त, शिव, आकाश, नकुलीश, हंस, शून्य, हाकिनी, अनन्त, नकुली, जीव, परमात्मा, ललाटज। क्ष = संवर्त्तक, हान्त, वर्णान्त, लोहित। इस प्रकार से समस्त व्यञ्जन वर्णों के वाचक शब्दों का वर्णन किया गया।।४३-४५।।

इति नामानुशासनम्

●

व्यञ्जनवर्गः

शब्दस्यैकस्य वर्णबीजवाचकत्वम्

अत्र हृदयवामनेत्रादिपरान्नमस्कारेकारादिबोधे षडङ्गमातृकान्यासौ श्रीकण्ठ-नारायणादिबोधे श्रीकण्ठकेशवकीर्त्तिन्यासौ नियामकौ बोध्यौ ।।४६।।

इस नामानुशासन में हृदय तथा वामनेत्रादि पद से नमस्कार तथा इकारादि बोध से (माध्यम से) षडङ्ग न्यास, मातृका न्यास तथा श्रीकण्ठ नारायणादि पद से अकार एवं आकारादि के माध्यम से श्रीकण्ठ न्यास तथा केशवकीर्त्ती न्यास-नियामक विषय का वर्णन किया जा रहा है।।४६।।

इदमत्रावधेयम्—कामादिपदेन ककारादिवर्णविशेषो बीजविशेषश्चा-भिधीयते। तत्र च यत्र बीजादिपदबीजयोः समभिव्याहारस्तत्र बीजम्, यथा श्रीबीजमायास्मरयोनिशक्तिरित्यत्र षोडशीप्रस्तावे बीजपदसम-भिव्याहारात् श्रीः श्रीबीजम्, न तु 'ज्ञानाऽमृता कपर्दी श्रीः पीठेशोऽ-ग्निः समातृकः' इति वर्णाभिधानदर्शनाद् द्वादशस्वरः। एवञ्च श्रीबीज-साहचर्यान्माया लज्जाबीजम्, न तु चतुर्थस्वरः। स्मरः कामबीजम्, न तु वर्गादिः। योनिर्योनिबीजं वाग्भवम्, न तु एकादशस्वरः। शक्तिः परा-बीजम्, न तु एकादशस्वरः। तेषां तथात्वे प्रमाणं वचनान्तरमेव। यत्र च न बीजपदादिसमभिव्याहारस्तत्र वर्ण एव। यथा—'कृत्वा तु माद-नञ्चादौ तत्पाताले भगं कुरु' इति कामराजवाग्भवोद्धारे मादनः ककारो न तु कामबीजम्। भग एकादशस्वरो न तु वाग्भवबीजम् ।।४७।।

यहाँ विशेष रूप से यह समझना आवश्यक है कि कामादि पद द्वारा ककारादि वर्णविशेष तथा बीजविशेष के सम्बन्ध में कहा गया है। जहाँ बीजादि पद तथा बीज का समभिव्याहार (एकत्र स्थिति अथवा सम्बन्ध) है, वहाँ शब्द से बीज का द्योतन होता है। जैसे षोड़शी के सम्बन्ध में कहा गया है—'श्रीबीजमाया स्मरयोनिशक्तिः'। यहाँ

बीज के सम्बन्ध से अथवा एकत्र स्थिति होने के कारण 'श्री' का तात्पर्य श्रीबीज है; किन्तु 'ज्ञाना-मृता कपर्दी श्रीः पीठेशोऽग्निः समातृकः' यहाँ वर्णाभिधानानुसार द्वादश स्वर 'ऐ'कार का तात्पर्य नहीं है। इसी प्रकार श्रीबीज के साहचर्य से 'माया' शब्द से लज्जा बीज का अर्थ निकलता है, किन्तु इससे चतुर्थ स्वर 'ई' का द्योतन नहीं होता। 'स्मर' शब्द का तात्पर्य कामबीज 'क्लीं' है; किन्तु इससे वर्णादि ककार का द्योतन नहीं होता। 'योनि' शब्द से योनबीज वाग्भव का द्योतन होता है; किन्तु इससे एकादश स्वर 'ए' का द्योतन नहीं होता। यहाँ वे शब्द बीज के लिये हैं, उनसे वर्ण का तात्पर्य नहीं है। इस विषय में अन्य रचनाओं में भी प्रमाण मिलता है। यहाँ बीज तथा पदादि का समभिव्याहार (एकत्र सम्बन्ध) नहीं है। यहाँ शब्द ही वर्ण हैं; जैसे कामराज वाग्भव का उद्धार इस प्रकार से है—'कृत्वा तु मादनञ्चादौ तत्पाताले भगं कुरु'। यहाँ 'मदन' शब्द से ककार का द्योतन होता है; परन्तु कामबीज क्लीं का द्योतन नहीं होता। 'भग' से एकादशवें स्वर का भले ही द्योतन होता हो; परन्तु वाग्भव बीज का द्योतन नहीं होता।।४७।।

वस्तुतस्तु अत्र समभिव्याहारतद्भावौ न नियामकौ, भृगुः कामः क्षमा माया कामराजाभिधा मतेति कामराजशक्तिकूटोद्धारे मायाया बीजत्वेन कामादीनां बीजत्वापातात्, कामादीनां वर्णतया मायया चतुर्थस्वरत्वा-पातात्। परन्तु गुरूपदेशवचनान्तरैकवाक्यत्वाभ्यां तात्पर्यमवगत्वा व्यव-हर्त्तव्यम्। अन्यथालक्ष्मीः परा मदनयोनियुता च शक्तिरिति षोडश्यां परा-पदेन बालापराबीजं मायाबीजं वा ग्राह्यमित्यत्र नियामकं न स्यात् ।।४८।।

वास्तव में समभिव्याहार अथवा उसका अभाव इस बात का नियामक नहीं है; क्योंकि कामराज शक्तिकूट के उद्धार में 'भृगुः कामः क्षमा माया कामराजाभिधा मता' यह कहा गया है। यहाँ मायाबीज कहने से यदि कामादि बीज का तात्पर्य निकलता है तब माया भी चतुर्थ स्वर की बोधिका प्रतीत होती। अतएव गुरु के उपदेश तथा अन्य वचनों की समानता द्वारा तात्पर्य जानकर तब इनका व्यवहार करना चाहिये। अन्यथा क्या 'लक्ष्मीः परा मदनयोनियुता च शक्तिः' इस षोडशी मन्त्रोद्धार में 'परा' पद के द्वारा बाला पराबीज अथवा मायाबीज का तात्पर्य भासित होगा? कदापि नहीं। यहाँ कोई भी नियामक नहीं रहेगा।।४८।।

कूटघटकव्यञ्जनानामदन्ततानिरासः

ननु यत्र सामान्यतो वर्णो निर्दिश्यते, तत्राऽदन्त एव ग्राह्यः। यथा अद्रिर्वरुणसंरुद्धो दवाग्वादिनि ठद्वयमित्यादौ। यत्र च मिलनादि-

बोधकपदयोगस्तत्र मिलिते एव। यथा—कामाक्षरं वह्निसंस्थं रति-बिन्दुसमन्वितमित्यादौ। यवञ्च कूटघटितसुन्दर्यादिमन्त्रेषु सामान्यतो निर्देशात् ककारादिवर्णा अदन्तत्वेन व्यवहार्या उच्चार्याश्च स्युः ॥४९॥

जहाँ सामान्य रूप से वर्ण निर्दिष्ट हैं, वहाँ अकारान्त वर्ण ग्रहण करे। जैसे—'अद्रिर्वरुणसंरुद्धो दवाग्वादिनि ठद्वयम्'। यहाँ अद्रि, वरुण-प्रभृति शब्दबोध्य दकार, वकार-प्रभृति वर्ण अकारान्त होने के कारण गृहीत है। जैसे 'कामाक्षरं वह्निसंस्थं' यहाँ बोधक 'संस्थ' शब्द के योग से संयुक्त 'क्र' वर्ण गृहीत है। अत: कूटघटित सुन्दरी-प्रभृति मन्त्रों में सामान्य रूप से वर्ण का निर्देश रहने के कारण ककारादि वर्णसमूह का व्यवहार तथा उच्चारण अकारान्त रूप में किया जाता है।।४९।।

न चैककूटघटकानामनेकव्यञ्जनानां पृथक्स्वरवत्त्वं नास्तीति वाच्यम्? प्रमाणा-भावात्, उच्चारणवैजात्यापातात्, अद्रिर्वरुण नास्तीति वाच्यम्, प्रमाणाभावात् उच्चारणवैजात्यापातात् अद्रिर्वरुणसंरुद्ध इत्यादावपि वकारदकारादीनां स्वरराहित्यापाताच्चेति चेत् ॥५०॥

एक कूटमन्त्र के घटक अनेक वर्णों के पृथक् स्वरवत्त्व नहीं हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसका प्रमाण नहीं है और उच्चारण का वैजात्य होने लगता है तथा 'अद्रिर्वरुण संरुद्ध' इत्यादि स्थान पर वकार और दकारादि में स्वरशून्यत्व हो जाता है। इसलिये आगे कहते हैं।।५०।।

कूटलक्षणम्

अत्र क्रमः—कूटघटकानां पृथक्स्वरत्वं नास्त्येव, अन्यथा कूटत्व-व्याघातः। स्वररहितस्वरपूर्वस्थानेकवर्णघटितत्वं हि कूटत्वम्। मध्य-गतवर्णास्तु सुतरां स्वररहिता एव, अनेकत्वनिवेशान्मायाबीजादौ नाति-प्रसङ्गः। तादृशवर्णद्वयघटितभैरवीकूटादावव्याप्तेरतो भूयस्त्वमनिवेश्या-ऽनेकत्वमुक्तम्। स्वररहितहकारबिन्दुघटितमायामतिव्याप्तिवारणाय—स्वरपूर्वस्थेति। स्वरपूर्वस्थहकाररेफघटितत्वान्मायायामतिव्याप्तिरतः—स्वररहितेति। एवञ्च बालात्रिकूटे कामबीजात्मकसुन्दरीत्रिकूटे षोडशी-घटकमायादौ च कूटत्वं गौणमेव। वधुबीजस्य तु कूटत्वमिष्टमेव। न चैवं भूयःस्वरमात्रघटितस्य कूटत्वं स्यादिति वाच्यम्? तादृशस्याऽ-सम्भवात्, सम्भवे वा तत्र कूटत्वस्येष्टत्वात्। अद्रिर्वरुण इत्यादौ मन्त्रस्य कूटत्वं नास्त्येवेति, तत्र पृथक् स्वरसिद्धिः ॥५१॥

इसके उत्तर में कहते हैं—नहीं। कूटघटक वर्णसमूह की पृथक् स्वरवत्ता नहीं है।

इसे न मानने से कूटत्व का व्याघात हो गया। स्वर के पूर्व स्थित स्वररहित अनेक वर्ण कूट होते हैं। मध्यगत वर्णसमूह स्वररहित होते हैं। स्वर के पहले स्थित स्वररहित अनेक वर्ण को कूट कहने पर भी मायाबीज के इस कूटलक्षण का अतिप्रसंग नहीं हो सकता; क्योंकि मायाबीज में (ह्रीं में) स्वर के पूर्व एक स्वररहित वर्ण है; परन्तु स्वररहित अनेक वर्ण नहीं हैं ('र' स्वरयुक्त है। केवल 'ह' स्वररहित है)। स्वररहित परन्तु स्वर के पूर्व स्थित अनेक वर्ण को कूट कहने से वैसे ही वर्णद्वय द्वारा घटित भैरवी के कूटादि में अव्याप्ति हो जायेगी। इसी कारण से कूट-लक्षण में भूयत्व का निवेश नहीं है। उनमें दो होने के कारण अनेकत्व है। भैरवीकूट में स्वररहित टवर्ण है। दो वर्ण अनेक कहे जा सकते हैं; लेकिन उन्हें बहुः (भूयः) नहीं कहा जा सकता। तीन या उससे अधिक संख्या को ही बहुः (भूयः) कहते हैं। अतएव भैरवीकूट में स्वर के पूर्व अनेक वर्ण (दो वर्ण) रहने पर भी उसकी अव्याप्ति नहीं होती। स्वररहित हकार तथा बिन्दुघटित माया में अतिव्याप्ति हो जाने से ही वह कूट नहीं हो जाता। स्वर के पूर्व स्वररहित अनेक वर्ण हो तभी कूट होगा। मायाबीज में स्वर के पहले 'ह' तथा स्वर के पश्चात् बिन्दु होने से स्वर के पहले स्वररहित अनेक वर्ण न रहने के कारण मायाबीज में अतिव्याप्ति नहीं होती। स्वर के पूर्व स्थित अनेक वर्ण की स्थिति को कूट मानने से स्वर पूर्वस्थ 'ह' तथा रेफघटित मायाबीज की अतिव्याप्ति हो जाती है अर्थात् मायाबीज कूट हो जाता है। तभी कूट का लक्षण 'स्वररहित' इस विशेषण से कहा गया है। मायाबीज (ह्रीं) में स्वर के आदि में स्वररहित अनेक वर्ण न रहने के कारण ही मायाबीज की अतिव्याप्ति नहीं होती। यह कूटत्व-लक्षण है, इसीलिये बाला त्रिकूट में कामबीजात्मक सुन्दरी-त्रिकूट में षोडशीमन्त्र के घटक मायादि में कूटत्व गौण है। वधूबीज का कूटत्व अभिप्रेत है, अभीष्ट है। यह नहीं कहा जा सकता कि बहुत स्वरों से घटित वर्णसमुदाय ही कूट हो; क्योंकि उस प्रकार का कूटमन्त्र सम्भव नहीं है। यदि सम्भव होता तभी उसका कूटत्व अभीष्ट है। 'अद्रिर्वरुण' आदि स्थल में कूटत्व है ही नहीं। इसी कारण उन स्थलों में पृथक् प्रकार से स्वर की सिद्धि की गई है।।५१।।

कूटघटकव्यञ्जनस्यादन्तत्वेनोच्चारणम्

एवञ्च कूटघटकानां स्वररहितत्वेऽप्यदन्तत्वेनोच्चारणमावश्यकमेव, अतएव दुर्वासःकूटे 'मायास्थाने हरी वर्णयुगलञ्च क्रमाल्लिखेदि'त्यत्र हकार-स्यादन्तत्वे नोच्चारणं साधु सङ्गच्छते। अतएव च सुन्दरीमन्त्रविशेषोद्धारे विष्णुरीशस्ततो हान्त इत्यत्र विष्णुरीश इत्यनेन हकारस्याऽदन्तत्वं वक्ष्यते, अन्यथा तत्र विष्णुपदवैयर्थ्यापत्तेः। एवं पञ्चम्यां कामं विष्णुयुतमित्यत्रापि बोध्यम्। एतेनाऽर्द्धनारीश्वरादिमन्त्रा अपि व्याख्याता इति तत्त्वम् ।।५२।।

इस प्रकार कूटधटक वर्णसमूह स्वररहित होने पर भी, अकारान्त रूप के कारण उनका उच्चारण आवश्यक है। इसीलिये दुर्वासाकूट में 'मायास्थाने हरी वर्णयुगलञ्च क्रमाल्लिखेत्' इत्यादि रूप से इन स्थलों पर हकार का उच्चारण अकारान्त रूप से सुसंगत माना गया है। अत: सुन्दरी देवी के मन्त्रविशेष के उद्धार में 'विष्णुरीशस्ततो हान्त' यहाँ विष्णुबीज शब्द द्वारा हकार की अकारान्तता कही गयी है। अन्यथा यहाँ विष्णु पद की व्यर्थता की आपत्ति उठ जाती। इसी तरह पञ्चमी में 'कामं विष्णुयुतम्' में भी है। इस सिद्धान्त के द्वारा अर्द्धनारीश्वर प्रभृति मन्त्रादि की भी व्याख्या की गई। यही तत्त्व है।।५२।।

अथ सृष्टिक्रमः

यथा समयातन्त्रे—

श्रीदेव्युवाच

कथितं परमं ज्ञानं शिवशक्त्यात्मकं परम्।
ततः कथं प्रवर्त्तन्ते एते ब्रह्मादयः प्रभो ॥१॥

अब सृष्टिक्रम कहते हैं; जैसे समयातन्त्र में श्रीदेवी कहती हैं—हे प्रभो! आपके द्वारा शिव-शक्त्यात्मक श्रेष्ठ परम ज्ञान कहा गया है। शिव-शक्ति से किस प्रकार यह ब्रह्मादि देवगण आविर्भूत होते हैं; कृपया कहिये।।१।।

ईश्वर उवाच

सदाशिवो महाप्रेतो निर्गुणः परमेश्वरि!।
तन्निष्ठा परमा शक्तिर्गुणातीता सुनिर्मला।
सत्त्वं रजस्तम इति गुणानां त्रितयं प्रिये! ॥२॥

ईश्वर कहते हैं—हे परमेश्वरि! सदाशिव महाप्रेत निर्गुण है। सदाशिव की परमा शक्ति भी गुणातीता तथा निर्मला है। हे प्रिये! सत्त्व, रज तथा तम—ये तीन गुण कहे गये हैं।।२।।

यदा सा परमा शक्तिगुर्णाधिष्ठानमाचरेत्।
प्रकृतित्वं भवेत्तस्याः पुरुषः स्यात् सदाशिवः ॥३॥

जब वह परमा शक्ति गुणों का अधिष्ठान कर लेती है तब वह परमा शक्ति ही प्रकृति हो जाती है। सदाशिव ही पुरुष हो जाते हैं।।३।।

ऐश्वर्यगुणसंयोगादीश्वरः प्रकृतो भवेत्।
गुणभेदात्ततो जाता ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥४॥

ऐश्वर्य गुणादि के योग से ईश्वर प्रादुर्भूत होता है। गुणों के भेद के कारण ईश्वर ही ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश बन जाता है।।४।।

रजोगुणाद् भवेद्ब्रह्मा विष्णु सत्त्वगुणादभूत्।
रुद्रस्तमोगुणाद् देवि! सर्वप्रेता इमे गुणात्।
सदाशिवो महाप्रेतः शक्त्याश्रय इति प्रिये ॥५॥

रजोगुण से ब्रह्मा तथा सत्त्वगुण से विष्णु का प्रादुर्भाव हुआ है। हे देवि! रुद्र का अवतरण तमोगुण से हुआ है। समस्त देवताओं का आविर्भाव इन गुणों से ही हो सका है। सदाशिव महाप्रेत हैं और शक्ति के आश्रय हैं; यह जानना चाहिये।।५।।

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च।
एतेषां पञ्चभूतानामधिपा पञ्च ते शिवाः ॥६॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पञ्चतत्त्वों के अधिपति हैं—सदाशिव, ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर।।६।।

ब्रह्मादिकाः सदापूर्वशिवान्ताः परिकीर्त्तिताः।
एवं सृष्टिर्निगदिता लयं शृणु महेश्वरि ॥७॥

ब्रह्मादि से सदापूर्व सदाशिव सृष्टि-पर्यन्त कीर्त्तित हैं। इस प्रकार से सृष्टि के सम्बन्ध में कहा गया। हे महेश्वरि! अब लय के सम्बन्ध में सुनो।।७।।

रुद्रो विष्णुस्तथा ब्रह्मा क्रमादेव परस्परम्।
ईश्वरे लयमायान्ति ईश्वरस्तु सदाशिवे ॥८॥

रुद्र, विष्णु तथा ब्रह्मा परस्पर क्रम से ईश्वर में लय हो जाते हैं और ईश्वर का लय सदाशिव में होता है।।८।।

पुनश्च शक्त्यधीनास्ते आविर्भावं प्रयान्ति च।
पूर्णत्वात् परमानन्दे न कर्त्तृत्वं सदाशिवे ॥९॥

इसी प्रकार अपनी शक्ति के अधीन होकर आविर्भूत होते हैं और अन्त में लय अवस्था को प्राप्त करते हैं। परमानन्द सदाशिव को पूर्णत्व प्राप्त करने जैसा कोई कर्त्तृत्व नहीं है।।९।।

स साक्षी पश्यति जगत्परमात्मा गुणात्मकम्।
तदधिष्ठानमासाद्य परमानन्दरूपिणी।
सृजत्येषा पालयति संहरत्येव मे वचः ॥१०॥

वे परमात्मा साक्षीरूप होकर गुणात्मक जगत् को देखते रहते हैं। यह परमानन्द-रूपिणी परमा शक्ति उनका अधिष्ठान पाकर जगत् की सृष्टि करती है; पालन तथा संहार भी करती है—यह मेरा कथन है।।१०।।

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
अविनाभावसम्बन्धस्तयोरानन्दरूपयोः ॥११॥

शिव के बिना शक्ति नहीं है। शिव के विना शक्ति की कोई सत्ता नहीं है। इसी प्रकार शक्ति-विरहित शिव भी नहीं रह सकते। आनन्दरूप शिव तथा शक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है।।११।।

तया विना शिवे सूक्ष्मे कर्म शर्म न विद्यते।
शक्तेस्तु नित्यसम्बन्धात् सहासक्तः सदाशिवः ।।१२।।
सा शक्तिः परमेशानि! ब्राह्मी च वैष्णवी तथा।
रौद्री च गुणभेदेभ्यो जगत्त्रयविभाविनी ।।१३।।

शक्ति-विरहित सूक्ष्म शिव में कर्म तथा सुख है ही नहीं। शक्ति से नित्य सम्बन्ध के कारण सदाशिव शक्ति में आसक्त हो जाते हैं। हे परमेशानि! जगत् का जनन करने वाली प्रकाशिका शक्ति गुणसमूह के भेद के कारण ब्राह्मी शक्ति, वैष्णवी शक्ति तथा रौद्री शक्ति कहलाती है।।१२-१३।।

सा परा परमा शक्तिस्त्वमेव परमेश्वरि।
अहं सदाशिवः सर्वपरमानन्दरूपवान् ।।१४।।
इति सम्यग्ज्ञानयोगान्नित्यं सुखमवाप्स्यसि।
कथितं परमं ज्ञानं नित्यमानन्ददायकम् ।।१५।।

हे परमेश्वरि! वह परा परमा शक्ति तुम ही हो। मैं हूँ—सदाशिव परमानन्दस्वरूप। तुम उस सम्यक् ज्ञानयोग से नित्य सुख-लाभ करोगी। यह सत्य है। यह नित्य आनन्ददायक परम ज्ञान कहा गया।।१४-१५।।

शारदायाम्—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृत ।।१६।।
सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भवः ।।१७।।

शारदातिलक ग्रन्थ में सृष्टिक्रम को इस प्रकार से कहा गया है—सनातन नित्य शिव सगुण तथा निर्गुण रूप से हैं। जो साम्यावस्था है, वह सत्त्व, रज तथा तमोगुणरूप प्रकृति से भिन्न है। जब सनातन शिव प्रकृति के साथ सम्बन्धयुक्त नहीं हैं तब वे निर्गुण हैं। कला (प्रकृति अथवा शक्ति) के साथ अभिन्न स्थिति में सकल शिव हैं सगुण शिव। सच्चिदानन्द स + कल परमेश्वर से शक्ति आविर्भूत होती है। इसी शक्ति से नाद तथा नाद से बिन्दु का आविर्भाव होता है।।१६-१७।।

शिवशक्तिमयः साक्षात् त्रिधासौ भिद्यते पुनः ।
बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः ॥१८॥
बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ॥१९॥
रौद्री बिन्दोस्ततो नादाज्ज्येष्ठा बीजादजायते ।
वामा ताभ्यः समुत्पन्ना रुद्रब्रह्मरसाधिपाः ॥२०॥
संज्ञानेच्छा क्रियात्मानो वह्नीन्द्वर्कस्वरूपिणः ।
भिद्यमानात् पराद् बिन्दोरव्यक्तात्मरवोऽभवेत् ॥२१॥

बिन्दु साक्षात् शिव-शक्तिमय होता है। यह पुनः तीन प्रकार का हो जाता है—बिन्दु, नाद तथा बीज। यह भेद आगमविशारद विद्वानों ने कहा है। बिन्दु शिवस्वरूप एवं बीज शक्तिस्वरूप है। उनका परस्पर समवाय सृष्टि हेतु क्षोभ्य-क्षोभकरूप सम्बन्ध भी आगमविशारद विद्वानों ने वर्णित किया है। इस बिन्दु से रौद्री शक्ति, नाद से ज्येष्ठा शक्ति तथा बीज से वामा शक्ति का आविर्भाव होता है। इसी शक्तिसमूह से रुद्र, ब्रह्मा तथा विष्णु का प्रादुर्भाव हुआ है। रुद्र = इच्छाशक्ति। ब्रह्मा = क्रियाशक्ति। विष्णु = ज्ञानशक्ति। रुद्र = अग्नि स्वरूप। ब्रह्मा = चन्द्रस्वरूप। विष्णु = सूर्यस्वरूप। इस प्रकार प्रथम परबिन्दु से वर्णादि-रहित अव्यक्त अखण्ड रव अर्थात् नाद का आविर्भाव हुआ है।।१८-२१।।

स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते ।
शब्दब्रह्मेति शब्दार्थं शब्दमित्यपरे विदुः ॥२२॥
न हि तेषां तयोः सिद्धिर्जडित्वादुभयोरपि ।
चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ॥२३॥

आगम के विद्वान् के लिये यह रव ही शब्दब्रह्म है। कोई विद्वान् शब्दब्रह्म को आन्तर स्फोट कहते हैं। व्याकरण के विद्वान् स्फोटरूप शब्द को अखण्ड एकार्थ-प्रकाशक शब्दब्रह्म कहते हैं। अन्य मतानुसार शब्द तथा शब्दार्थ से शब्दब्रह्म सिद्ध नहीं होता अर्थात् आन्तर स्फोट तथा वाक्यस्फोट को शब्दब्रह्म नहीं कहा जा सकता; क्योंकि दोनों प्रकार के स्फोट जड़ हैं। सब भूतसमूह में विराजित चैतन्य ही शब्दब्रह्म है। यह मेरा मत है।।२२-२३।।

तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
वर्णात्मनाऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥२४॥
अथ बिन्द्वात्मनः शम्भोः कालवन्धोः कलात्मनः ।
अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिवः ॥२५॥

प्राणीसमूह के देह के अन्दर यही चैतन्य कुण्डलीरूप होकर कण्ठादि करण के साथ सम्बद्ध होकर गद्य तथा पद्यादि रूप में वर्णरूप से आविर्भूत होता है। तदनन्तर कलात्मा कालवन्द्य बिन्दुरूप परमशिव से सर्वव्यापी सर्वसाक्षी सृष्टि, स्थिति, ध्वंस, निग्रह एवं अनुग्रह कार्यपञ्चक में सक्षम सदाशिव आविर्भूत होते हैं।।२४-२५।।

सदाशिवाद् भवेदीशस्ततो रुद्रः समुद्भवः ।
ततो विष्णुस्ततो ब्रह्मा तेषामेवं समुद्भवः ।।२६।।
मूलभूतात् ततो व्यक्ताद् विकृतात् परमात्मनः ।
आसीत् किल महत्तत्त्वं गुणान्तःकरणात्मकम् ।।२७।।

सदाशिव से ईश्वर का और ईश्वर से रुद्र का आविर्भाव होता है। तदनन्तर विष्णु, तत्पश्चात् ब्रह्मा आविर्भूत होते हैं। तदनन्तर समस्त सृष्टि का मूल कारण सृष्टि की ओर उन्मुख (विकृत) बिन्दुरूप अव्यक्त से सत्त्व, रजः तमः गुणमय अन्तःकरणात्मक महत्तत्त्व आविर्भूत होता है।।२६-२७।।

वैकारिकादहङ्काराद् देवा वैकारिका दश ।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रामित्रकाः ।।२८।।

उसी महत् तत्त्व से कार्यभेदानुसार वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) तथा भूतादि (तामस) रूप तीन प्रकार का अहंकार उदित होता है। वैकारिक अहंकार से दस प्रकार के वैकारिक देवता आविर्भूत होते हैं। इन्द्रिय वर्ग के अधिष्ठाता इस प्रकार से हैं—दिक्, वायु, प्रचेता (वरुण), दो अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र और क (ब्रह्मा का एक रूप) तथा चन्द्र हैं।।२८।।

तैजसादिन्द्रियान्यासन् तन्मात्राक्रमयोगतः ।
भूतादिकादहङ्कारात् पञ्चभूतानि यज्ञिरे ।।२९।।

तैजस अहंकार से ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा मन—इस एकादश इन्द्रिय का आविर्भाव होता है। शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र तथा गन्धतन्मात्र का उदय पञ्चमहाभूतादि अहंकार से होता है।।२९।।

शब्दात् पूर्वं वियत् स्पर्शाद् वायुरूपाद् हुताशनः ।
रसादम्भः क्षमा गन्धादिति तेषां समुद्भवः ।।३०।।

उनमें सर्वप्रथम शब्दतन्मात्र से आकाश, स्पर्शतन्मात्र से वायु, रूपतन्मात्र से अग्नि, रसतन्मात्र से जल और गन्धतन्मात्र से पृथ्वी का आविर्भाव होता है।।३०।।

स्वच्छं वियन्मरुत् कृष्णो रक्तोऽग्निर्विशदं पयः ।

पीता भूमिः पञ्चभूतान्येकैकाधारतो विदुः ।
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा भूतगणाः स्मृताः ॥३१॥

आकाश श्वेतवर्ण, वायु कृष्णवर्ण, अग्नि रक्तवर्ण, जल विशद वर्ण तथा पृथ्वी पीत वर्ण-युक्त है। पञ्चतन्मात्र के एक-एक कार्य के लिये प्रयुक्त हैं एक-एक भूत। ये पाँचों शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पञ्चमहाभूत के गुणरूप कहे गये हैं।।३१।।

वृत्तं दिवस्तत् षड्बिन्दु लाञ्छितं मातरिश्वनः ।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं वह्नेरर्द्धेन्दुसंयुतम् ॥३२॥

आकाश का मण्डल वृत्ताकार है। यह वृत्त ही उसकी परिधि है। रेखा के मध्य में सम भाग में छः बिन्दु से मण्डित मण्डल वायु का मण्डल है। स्वस्तिकयुक्त ऊर्ध्वाग्र त्रिकोण ही अग्नि का मण्डल है। अर्द्धेन्दु संयुक्त दोनों भाग में स्थित—

अम्भोजमम्भसो भूमे चतुरस्रं सवज्रकम् ।
तत्तद्भूतसमाभानि मण्डलानि विदुर्बुधाः ॥३३॥

पद्म जलमण्डल है। अष्टवज्र-विभूषित चतुरस्र ही भूमिमण्डल कहा गया है। ये मण्डल अपने-अपने भूत के समान वर्ण वाले हैं। जैसे चतुरस्र पीतवर्ण है। ऐसा विद्वान् कहते हैं।।३३।।

वर्णैः स्वै रञ्जितान्याहुः स्वस्वनामावृतान्यपि ।
धरादिपञ्चभूतानां निवृत्त्याद्याः कला स्मृताः ॥३४॥

विद्वान् साधकगण इन मण्डलों को उनके भूतों के रंग में रंगी रज से सजाते हैं; जैसे पृथ्वीमण्डल को पीतवर्णी रज से। तथा इन मण्डलों में वक्ष्यमाण भूतलिपि को यन्त्र की कर्णिका में मन्त्रों द्वारा आवृत्त करते हैं अर्थात् वहाँ मन्त्र लिखते हैं। इन पाँचों भूतों की निवृत्ति प्रभृति पाँच कलायें भी कही गयी हैं।।३४।।

निवृत्तिः सत्प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिरनन्तरम् ।
शान्त्यतीतेति ता ज्ञेया नादबिन्दुसमुद्भवाः ॥३५॥

इन पञ्चभूतों में प्रत्येक की कला है—निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्य-तीता। ये सभी नादोत्पन्न बिन्दु से उत्पन्न हैं।।३५।।

पञ्चभूतात्मकं सर्वं चराचरमिदं जगत् ।
अचरा बहुधा भिन्ना गिरिवृक्षादिभेदतः ॥३६॥

यह चराचर जगत् पञ्चभूतात्मक है। इनमें स्थावर (अचर) गिरि, वृक्षादि भेद से अनेक प्रकार के हैं।।३६।।

चरास्तु त्रिविधाः प्रोक्ताः स्वेदाण्डजजरायुजाः।
स्वेदजा कृमिदंशाद्या अण्डजाः पन्नगादयः ॥३७॥

चर के अन्तर्गत स्वेदज, अण्डज तथा जरायुज—ये तीन प्रकार के जीव कहे गये हैं। इनमें भी कृमि, कीट, डांस, पतंग प्रभृति स्वेदज तथा सर्प, कच्छप, पक्षी-प्रभृति अण्डज कहे गये हैं।।३७।।

जरायुजा मनुष्याद्यास्तेषु नृणां निगद्यते।
उद्भवः पुंस्त्रियोर्योगे शुक्राच्छोणितसम्पुटात् ॥३८॥

मनुष्य पशु आदि जरायुज हैं। मनुष्य का जन्म स्त्री तथा पुरुष के मिलन के फल-स्वरूप शुक्र तथा शोणित (रज) के सम्पुट से होता है।।३८।।

बिन्दुरेको विशेद् गर्भमुभयात्मा क्रमादसौ।
रजोऽधिके भवेन्नारी भवेद्रेतोऽधिके पुमान्।
उभयोः समतायान्तु नपुंसकमिति स्थितिः ॥३९॥

शुक्र-शोणितयुक्त एक बिन्दु गर्भ में प्रवेश करता है। इसमें रजः की अधिकता से कन्या होती है। रेतः (शुक्र) का अधिक्य उस बिन्दु में होने पर गर्भ से बालक का जन्म होता है। शुक्र (रेतः) तथा शोणित (रजः) की समान मात्रायुक्त बिन्दु का जब गर्भ में प्रवेश होता है तब नपुंसक सन्तान होती है।।३९।।

पूर्वकर्मानुरूपेण मोहपाशेन यन्त्रितः।
कश्चिदात्मा तदा तस्मिन् जीवभावं प्रपद्यते ॥४०॥
अथ मात्राहृतैरम्बुपानाद्यैः पोषितः क्रमात्।
दिनात् पक्षात् ततो मासाद् वर्द्धते तत्त्वदेहवान् ॥४१॥

पूर्वजन्मकृत कर्म का फल देने के लिये उद्यत पाप तथा पुण्यरूप प्रारब्ध के अनुरूप मोहपाश द्वारा क्रमशः परिपोषित २४ तत्त्वों से युक्त जीवधारी क्रमशः दिनोदिन, प्रतिपक्ष, प्रतिमास वृद्धिङ्गत होता जा रहा है।।४०-४१।।

दोषैर्दूष्यैः सुखं प्राप्तो व्यक्तिं याति निजेन्द्रियैः।
वातपित्तकफा दोषा दूष्याः स्युः सप्त धातवः।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि तान् विदुः ॥४२॥

जैसे सुख होता है, वैसे ही जीवन में दोषों से दुःख की प्राप्ति देह में करते हुये व्यक्ति की इन्द्रियाँ तथा देह वृद्धि प्राप्त करते हैं। वात, पित्त कफ—ये त्रिदोष ही दोष हैं और दूष्य हैं—सातो धातु, जो शरीर में स्थित हैं। यह भी दुःख का कारण है। सप्त धातु = त्वचा, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र।।४२।।

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वग्दृग्जिह्वानासिका विदुः ।
ज्ञानेन्द्रियार्थाः शब्दाद्याः स्मृताः कर्मेन्द्रियाण्यपि ।।४३।।

विद्वान् लोग श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा नासिका को ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इनका विषय है। कर्मेन्द्रियाँ सभी में हैं।।४३।।

वाक्पाणिपादपाय्वङ्कुसंज्ञान्याहुर्मनीषिणः ।
वचनाऽदानगतयो विसर्गाऽनन्दसंयुताः ।।४४।।

कर्मेन्द्रियार्थाः सम्प्रोक्ता अन्तःकरणमात्मनः ।
मनोबुद्धिरहंकारचित्तञ्च परिकीर्त्तितम् ।।४५।।

विद्वान् मनीषीगण ने कर्मेन्द्रियों के नाम इस प्रकार निर्धारित किये हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुह्यस्थान) तथा अंकु (लिंग)। वचन, आदान (ग्रहण), गति, विसर्ग (मलादि त्याग) तथा आनन्द ही क्रमशः इनके विषय हैं। अब अन्तःकरण तथा आत्मा का स्थान है। आत्म का ग्राहक है—अन्तःकरण। आत्मा भी अन्तःकरण का विषय है अर्थात् मन की अन्तरतम इच्छा है—आत्मा का ज्ञान। अन्तःकरण चार प्रकार के हैं—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार।।४४-४५।।

दशेन्द्रियाणि भूतानि मनसा सह षोडश ।
विकाराः स्युः प्रकृतयः पञ्चभूतान्यहंकृतिः ।।४६।।
अव्यक्तं महदित्यष्टौ तन्मात्राश्च महानपि ।
साहङ्कारा विकृतयः सप्त तत्त्वविदो विदुः ।।४७।।

विद्वान् लोग पञ्चमहाभूत, मन, इन्द्रिय, इनके १६ विकार, पञ्चतन्मात्र, अहंकार महत् तथा अव्यक्त को प्रकृति (उपदान) कहते हैं। पञ्चतन्मात्र, अहंकार तथा महान् (५ + १ + १ = ७)—ये सातों प्रकृति की विकृति कहे जाते हैं।।४६-४७।।

अग्निषोमात्मको देहो बिन्दुर्यदुभयात्मकः ।
दक्षिणांशः स्मृतः सूर्यो वामभागो निशाकरः ।।४८।।

शुक्र तथा शोणितरूप बिन्दु अग्नि-षोमात्मक है। अतः यह देह भी अग्निषोमात्मक कही गई है। देह के दाहिने भाग में सूर्य तथा वाम भाग में चन्द्र (सोम की) की सत्ता होती है।।४८।।

नाड़ी दश बिदुस्तासु मुख्यास्तिस्रः प्रकीर्त्तिताः ।
इड़ा वामे तनोर्मध्ये सुषुम्ना पिङ्गलाऽपरे ।
मध्ये तास्वपि नाड़ी स्यादग्निषोमस्वरूपिणी ।।४९।।

शरीर की नाड़ियों में दस नाड़ियाँ प्रधान हैं। इनमें भी तीन मुख्य कही जाती हैं। देह में वाम भाग में सोमस्वरूपा इड़ा नाड़ी उद्गत होकर वक्राकार स्वरूप लेकर वाम नासिका तक गई है। मध्य में स्थित सुषुम्ना मेरुदण्ड के बीच से होकर ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त उत्थित है। दाहिनी ओर अग्निस्वरूपा पिंगला नाड़ी दाहिने अण्डकोश से उठती हुई वक्राकार रूप में दाहिनी नासिका तक गई है। मध्य नाड़ी सुषुम्ना मुख्य है, जो कि अग्निषोमस्वरूपा है।।४९।।

गान्धारी हस्तिजिह्वा स्यात् सपूषाऽलम्बुषा मता।
यशस्विनी शङ्खिनी च कुहुः स्युः सप्त नाड़यः ।।५०।।

गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुषा, यशस्विनी, शंखिनी तथा कुहु—यह सात नाड़ियाँ मुख्य हैं।।५०।।

नाड्योऽनन्ताः समुत्पन्नाः सुषुम्नापञ्चपर्वसु।
मूलाधारोद्गतः प्राणस्ताभिर्व्याप्नोति तत् तनूम् ।।५१।।

सुषुम्ना के पञ्चपर्व से असंख्य नाड़ियाँ उद्गत हुई हैं। मूलाधार से उद्गत देहधारक प्राण इन नाड़ीसमूह के साथ देह में व्याप्त है।।५१।।

वायवोऽत्र दश प्रोक्ता वह्नयश्च दश स्मृताः।
प्राणाद्या मरुतः पञ्च नागः कूर्मो धनञ्जयः ।।५२।।

कृकरः स्याद् देवदत्त इति नामभिरीरिताः।
अग्नयो दोषदूष्येषु संलीना दश देहिनः ।।५३।।

इस देह में दस वायु की सत्ता मानी गई है। अग्नि भी दस प्रकार का है। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, धनंजय, कृकर तथा देवदत्त—यह दस वायु है। देह के दोष (त्रिदोष = कफ, पित्त तथा वात) तथा दूष्य (सातो धातु जो शरीर में है) में दसों अग्नि लीन रहते हैं।।५२-५३।।

बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ।
शोकमोहौ शरीरस्य जरा मृत्युः षडूर्मयः ।।५४।।

भूख, प्यास, मन का दुःख, मोह, शरीरगत वृद्धावस्था तथा मृत्यु—इनको प्राण की छः उर्मियाँ (लहरें) कहा गया है।।५४।।

स्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राच्च त्वङ्मांसास्राणि शोणितात्।
षाट्कौशिकमिदं प्रोक्तं सर्वदेहेषु देहिनाम् ।।५५।।

पिता के शुक्र से स्नायु, अस्थि तथा मज्जा और माता के रजः से त्वचा, मांस

तथा रक्त का निर्माण होता है। समस्त देह इस प्रकार से षाट्कौशिक (छः कोष वाली) कही गई है।।५५।।

इत्थंभूतस्तदा गर्भे पूर्वजन्मशुभाशुभम्।
स्मरंस्तिष्ठति दुःखात्मा छन्नदेहो जरायुणा ।।५६।।

इस प्रकार यह अतिदुःखी जीव जरायु द्वारा अपनी देह के आच्छन्न हो जाने पर पूर्व जन्मों के शुभाशुभ कर्म तथा मोक्ष के उपाय का स्मरण करते हुये गर्भ में स्थित हो जाता है।।५६।।

कालक्रमेण स शिशुर्मातरं क्लेशयन् मुहुः।
सपिण्डितशरीरोऽथ जायतेऽयमराङ्मुखः।
क्षणं तिष्ठति निश्चेष्टो भीत्या रोदितुमिच्छति ।।५७।।

तदनन्तर ९ या १० मास बीतने पर माता को क्लेश पहुँचाते हुये अपनी देह का संकोच करके सूति नामक वायु द्वारा प्रेरित होकर अधोमुख रूप में (उलटा) भूमिष्ठ होता है। उस समय क्षणमात्र के लिये निश्चेष्ट रहता है। तदनन्तर रोने लगता है।।५७।।

ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी।
शिवसन्निधिमासाद्य नित्यानन्दगुणोदया ।।५८।।

इस प्रकार देह-निर्माण के समय चैतन्यरूपा शब्दब्रह्ममयी देवी कुण्डलिनी मन्त्रमय जगत् का प्रसव करती है। वे विश्वरूपिणी, नित्यानन्दमयी, विश्वव्यापिनी देवी कुण्डलिनी सत्त्व, रजः तथा तमः को उद्बुद्ध करके शिवस्वरूप पाकर देह में निवास करती हैं।।५८।।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना सर्वदेहान्वया शुभा।
परापरविभागेन परशक्तिरियं स्मृता ।।५९।।

ये दिक् तथा काल से परे हैं। तथापि सब ओर सर्वदा समस्त देह में विराजित हैं। अतीव रमणीय हैं। इन्हें पर तथा अपर शक्ति में से परशक्ति कहा जाता है।।५९।।

योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ति नित्यमञ्जसा।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ति विद्युदाकृतिः ।।६०।।

विद्युत् के समान तेजोमयी कुण्डलिनी योगीगण के हृदय में नित्य नृत्य करते-करते समस्त प्राणियों के मूलाधार में (गुरुदेव के उपदेश द्वारा) प्रकाशित होती है।।६०।।

शङ्खावर्त्तक्रमाद् देवी सर्वमावृत्य तिष्ठति।
कुण्डलीभूतसर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी ॥६१॥

जैसे कुण्डली मार का बैठा सर्प शोभित होता है, उसी प्रकार यह सौन्दर्ययुता तेजोरूपा देवी शंखावर्त्त क्रम से (जैसे शङ्ख में बने आवर्त्त शङ्ख को घेरे रहते हैं) सब कुछ को अपने में लपेट कर प्रकाशित हो रही है।।६१।।

सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा।
सर्वतत्त्वमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः ॥६२॥

ये सर्वदेवमयी, सर्वमन्त्रमयी, सर्वतत्त्वमयी शिवा हैं, कल्याणकारी हैं। ये विभु (महान्) से लेकर सूक्ष्मतर भी हैं।।६२।।

त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मरूपिणी।
द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ॥६३॥

तेजोदीप्ता शब्दब्रह्मस्वरूपा देवी सूर्य, अग्नि तथा चन्द्र की जननी हैं (त्रिधाम जननी), पृथ्वी, पाताल तथा स्वर्ग को उत्पन्न करने वाली हैं, वे ही भगवती कुण्डलिनी मन्त्ररूप ३२ वर्णरूपा तथा मातृकारूप ५० वर्णरूपा भी हैं।।६३।।

गुणिता सर्वगात्रेण कुण्डली परदेवता।
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत् ॥६४॥

सभी अंगों में संचरणशीला कुण्डलिनी नामक परदेवता सर्वात्म रूप से मन्त्रमय जगत् का प्रसव करती हैं।।६४।।

एकदा गुणिता शक्तिः सर्वविश्वप्रवर्त्तिनी।
वेदादिबीजं श्रीबीजं शक्तिबीजं मनोभवम् ॥६५॥
प्रासादं तुम्बुरुं पिण्डं चिन्तारत्नं गणेश्वरम्।
मार्त्तण्डभैरवं दौर्गं नारसिंहं वराहजम् ॥६६॥
वासुदेवं हयग्रीवं बीजं श्रीपुरुषोत्तमम्।
अन्यान्यपि च बीजानि तदोत्पादयति ध्रुवम् ॥६७॥

जब समस्त शब्दार्थरूप विश्व की उत्पादिका संचरित होती हैं तब वे वेदादि बीज प्रणव का, श्रीबीज का, मनोभव-बीज का, प्रासादबीज, तुम्बुरुबीज, पिण्डबीज, चिन्तारत्नबीज, गणेशबीज, मार्त्तण्ड भैरवबीज, दौर्गबीज, नृसिंह एवं वाराहबीज, वासुदेव बीज, हयग्रीव बीज, श्रीपुरुषोत्तम बीज तथा अन्य चन्द्रबीज और विश्वबीज आदि का उत्पादन करती हैं।।६५-६७।।

यदा भवति सा संविद् द्विगुणीकृतविग्रहा।
हंसवर्णौ परात्मानौ शब्दार्थौ वासरक्षपे ॥६८॥

जब यह संविद्रूपा शक्ति द्विगुणी विग्रह धारण करती हैं अर्थात् दिवा और रात्रिरूप दो, हं तथा सः रूप वर्णद्वय की सृष्टि करती हैं, शब्द अर्थ रूप दो की सृष्टि करती हैं।।६८।।

सृजत्येषा परा देवी तदा प्रकृतिपूरुषौ।
यद्यदन्यज्जगत्यस्मिन् युग्मं तत्तदजायते ॥६९॥

वह परादेवी प्रकृति तथा पुरुष की सृष्टि करती हैं। इस जगत् में जो-जो युग्म (जोड़ा) वस्तु है, सबका निर्माण देवी कुण्डलिनी करती हैं।।६९।।

त्रिगुणीकृतसर्वाङ्गी चिन्द्रूपा शिवगेहिनी।
प्रसूते त्र्यक्षरान् मन्त्रान् त्रींस्त्रीन् पिण्डगुणादिकान् ॥७०॥

अब तीन की उत्पत्ति की बात कह रहे हैं। जब यह त्रिगुणीकृत हो जाती है तब तीन अक्षरों वाले मन्त्रों का तथा पिण्ड-गुणादि प्रभृति तीन-तीन की सृष्टि करते हैं।।७०।।

चतुरादिगुणीभूता चतुराद्यक्षरान् मनून्।
चतुर्वेदयुगादींश्च सृजत्येवमसौ परा ॥७१॥

अब चार की उत्पत्ति की बातें कर रहे हैं। चतुरादि प्रकार से गुणीभूता यह शक्ति अब चार अक्षरों वाले मन्त्रसमूह की, चार वेदों की तथा चार युगों की सृष्टि करती है।।७१।।

चतुर्विंशतितत्त्वा सा यदा भवति शोभना।
गायत्रीरखिलाः सूते चतुर्विंशतितत्त्वकम् ॥७२॥
द्विचत्वारिंशता मूले गुणिता विश्वनायिका।
सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः।
शक्तिस्ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका ॥७३॥

जब यह २४ तत्त्वरूपा शोभना कुण्डलिनी २४ गुणित हो जाती है तब गायत्री और २४ तत्त्वों का अविर्भाव करती है। जब यह देवी ४२ गुणित हो जाती है तब यह शक्ति का प्रसव करती है, इससे ध्वनि उत्पन्न होती है। ध्वनि से नाद, नाद से निरोधिका का आविर्भाव होता है।।७२-७३।।

ततोऽर्द्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत् परा ततः।
पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरी शब्दजन्मभूः ॥७४॥

उससे अर्धचन्द्र, अर्धचन्द्र से बिन्दु, बिन्दु से मूलाधार में वाक् (परावाक्) का आविर्भाव होता है। इस बिन्दु से स्वाधिष्ठान में पश्यन्ती वाक् का, हृदय में मध्यमा वाक् का तथा मुख से वैखरी वाक् का उदय होता है। बिन्दु ही वाक् का जन्मदाता है।

पञ्चाशद्वारगुणिता पञ्चाशद्वर्णमालिकाम् ।
सृजत्येषा महादेवी कुण्डली शिवरूपिणी ।।७५।।

यह शिवरूपी कुण्डलिनी देवी ५० गुनी होकर ५० वर्णमाला की सृष्टि करती हैं।

अथ व्यक्तिं प्रवक्ष्यामि वर्णानां वदने नृणाम् ।
प्रेरिता मरुता नित्यं सुषुम्नारन्ध्रनिर्गता ।
कण्ठादिकरणैर्भिन्नाः क्रमादाविर्भवन्ति ते ।।७६।।

अब मैं विशेष रूप से यह बताता हूँ कि मनुष्यों के मुख से वर्णसमूह की उत्पत्ति कैसे होती है? वायु द्वारा वह परा वर्ण (परा वाणी) पश्यन्ती में आती है। तदनन्तर अनाहत एवं विशुद्ध चक्र से सुषुम्ना द्वारा निर्गत किये जाने पर कंठ आदि करण द्वारा स्थूल रूप वैखरी रूप में निर्गत् होती है।।७६।।

विदुः पुमान् रविः प्रोक्तः सर्गः शक्तिर्निशाकरः ।
स्वराणां मध्यगं यत्तु तच्चतुष्कं नपुंसकम् ।।७७।।

बिन्दु एवं अनुस्वार ही पुरुष तथा सूर्य हैं। विसर्ग (:) शक्ति तथा चन्द्र का रूप है। स्वरों में ऋ ॠ ऌ ॡ नपुंसक कहे गये हैं।।७७।।

पिङ्गलायां स्थिता ह्रस्वा इड़ायां सङ्गताः परे ।
सुषुम्ना मध्यमा ज्ञेयाः स्वरा ये च नपुंसकाः ।।७८।।

अ, इ, उ तथा ओ रूपी ह्रस्व स्वर पिंगला में हैं। आ, ई, ऊ तथा औ रूपी दीर्घ स्वर इड़ा में स्थित हैं। उपरोक्त चारो नपुंसक स्वर की स्थिति सुषुम्ना में है।

विना स्वरैस्तु नान्येषां जायते व्यक्तिरञ्जसा ।
शिवशक्तिमयान् प्राहुस्तस्माद् वर्णान् मनीषिणः ।।७९।।

इति दिक् ।

स्वर वर्ण के विना क च त ट प इत्यादि वर्णसमूह अभिव्यक्त ही नहीं हो सकते; इसीलिये वर्णसमूह को शिव शक्तिमय कहा गया है। यहाँ पर सृष्टि के दिक् मात्र का विवरण दिया गया है; मात्र निदर्शन किया गया है। इस सम्बन्ध में अभी अनेक तथ्य शेष हैं।।७९।।

●

दीक्षानिरूपणम्

इह खलु व्यक्तव्याशेषक्रियाकलापस्य दीक्षामूलकतया प्रथमं दीक्षैव निरूप्यते। सा च तत्तन्मत्राणां गुरूकृतोच्चारणप्रयोज्यशिष्यकृतोच्चारणरूपा। तेन गुरूच्चारण-मात्रं शिष्योच्चारणमात्रञ्च न दीक्षा। तत्प्रयोज्यत्वञ्च अहं ते अमुकमन्त्रं दादानीत्याकारकेच्छापूर्वकगुरूच्चारणानन्तरजायमानत्वम्। तेन तादृशेच्छां विना गुरुणोच्चारितं मन्त्रं दैवाच्छ्रुत्वोच्चारेण दीक्षा सिद्धिर्नास्ति। न वा यज्ञादौ वैदिकादिमन्त्रपाठयितुः पुरोहिताद् मन्त्रं श्रुत्वा सिद्धिर्नास्ति। न वा यज्ञादौ वैदिकादिमन्त्र पाठयितुः पुरोहिताद् मन्त्र श्रुत्वा पठतो यजमानस्य दीक्षाकर्तृत्वम्। तादृशेच्छापूर्वकवैदिकादिमन्त्रोच्चारणप्रयुक्तोच्चरणन्तु दीक्षा भवत्येव ॥१॥

दीक्षा के लक्षण—इस तन्त्र में आगे जो कुछ भी कहा जायेगा, वह सब दीक्षामूलक है। दीक्षा के विना उन समस्त प्रक्रिया का अनुष्ठान करने का अधिकार नहीं होता। अतएव सर्वप्रथम दीक्षा का वर्णन किया जाता है। जिस मन्त्र की दीक्षा दी जाती है, उस मन्त्र का गुरु द्वारा उच्चारण करना प्रयोज्य है। क्योंकि शिष्यकृत उच्चारण उसी के आधार पर होगा। यहाँ यह कहना है कि केवल गुरु द्वारा मन्त्र का उच्चारण और उसे सुनकर शिष्य द्वारा उस मन्त्र का उच्चारण करना ही दीक्षा नहीं है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि मैं तुमको यह मन्त्र प्रदान करता हूँ। इस भावना का मन्त्र के उच्चारण के पश्चात् गुरु में उदय होना चाहिये। इस इच्छा के विना केवल शिष्य को मन्त्र सुनाने मात्र से अथवा सुनकर शिष्य द्वारा किये गये उच्चारण मात्र से दीक्षा कदापि सम्भव नहीं हो सकती। यदि यज्ञादि मन्त्रपाठ में पुरोहित द्वारा किये गये मन्त्रपाठ को सुनकर यजमान द्वारा उसी मन्त्र के पाठ से भी मन्त्र दीक्षाकृत्य साधित नहीं होता। कारण; पुरोहित में इस इच्छा का उदय नहीं हुआ है कि मैं इस मन्त्र को शिष्य को प्रदान करता हूँ। यहाँ पुरोहित के मन में मन्त्रदान की कोई इच्छा नहीं है। यदि पुरोहित मन्त्रदान की इच्छा रखकर मन्त्रोच्चारण करे तो यजमान की दीक्षा अवश्य हो गई—यह कहा जायेगा।।१।।

न च शिष्यस्योच्चारणे प्रमाणं नास्ति। गुरोः शिष्यकर्णे मन्त्रकथनमात्रस्य—

दक्षकर्णे वदेन्मत्रं त्रिवारं पूर्णमानसः।

तथा—

दक्षकर्णे वदेन्मत्रं ऋष्यादिकसमन्वितम्।

तथा—

मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते।

इत्यादि वचनसिद्धत्वादिति वाच्यम्। सावित्र्युपदेशे माणवकोच्चारणस्य वेधत्वाद्व्यवहारसिद्धत्वाच्चान्यत्रापि बाधकाभावेन तथा कल्पनात् ॥२॥

शिष्य के मन्त्र उच्चारण का प्रमाण नहीं है (अर्थात् गुरु ही मन्त्रोच्चारण करता है)। कहा गया है कि दाहिने कान में गुरु को तीन बार मन्त्रोच्चार करना चाहिये। इसी प्रकार कहा गया है कि ऋषि आदि के नाम से युक्त मन्त्र शिष्य के दक्षिण कर्ण में कहना चाहिये। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि मन्त्र के कथनमात्र से मन्त्रोपदेश हो गया—यह नहीं कहा जा सकता। (इच्छा होना आवश्यक है कि मैं मन्त्र प्रदान कर रहा हूँ) वैदिक सावित्री मन्त्र उपदेश में मनुष्य के उच्चारण का वैधत्व है। व्यवहार में भी ऐसा ही है। (अर्थात् जोर से उच्चारण नहीं किया जाता) जहाँ उच्चारण में बाधक नियम नहीं है, वहीं पर तान्त्रिक दीक्षा में वैसी ही शिष्य द्वारा उच्चारण की कल्पना की जा सकती है। प्रत्येक स्थल पर ऐसी कल्पना करना निषिद्ध है।।२।।

ननु किं गुरोः सम्यङ् मन्त्रस्योच्चारणानन्तरे शिष्येनोच्चारणं कर्त्तव्यम्, अथवा प्रत्येकवर्णोच्चरणानन्तरं प्रत्येकवर्णोच्चारणमिति चेत्, अत्रापि सावित्री प्रमाणम्। न खलु आसमाप्तसप्तमवर्षस्य माणवकस्य सावित्र्याः सम्यगुच्चारणानन्तरं सम्यगुच्चारणसामर्थ्यं वर्द्धते। परन्तु एकद्विद्वि-त्रिचतुःपञ्चपञ्चादिवर्णानामुच्चारणानन्तरमुच्चारणेऽप्युपदेशः सिध्यति। सम्यगुच्चारणानन्तरं सम्यगुच्चारणे तु नुतराम् ॥३॥

क्या गुरु द्वारा सम्पूर्ण मन्त्र के एक साथ उच्चारण के पश्चात् शिष्य द्वारा उसका पूर्ण उच्चारण करना चाहिये अथवा अलग-अलग प्रत्येक वर्ण का गुरु उच्चारण करे तब प्रत्येक वर्ण का शिष्य तदनुसार उच्चारण करे? यदि कोई यह प्रश्न करे तो उसका उत्तर कहा जा रहा है। जैसे सावित्री दीक्षाकाल में सावित्री मन्त्र का सम्पूर्ण एक साथ उच्चारण करने से अथवा खण्ड-खण्ड एक-एक वर्ण को गुरु से सुनकर उसका उच्चारण करने से दीक्षा सिद्ध मान ली जाती है, यहाँ भी वैसा ही होता है। क्योंकि आठ वर्ष भी उम्र के बालक को सावित्री मन्त्र का एक साथ पूर्ण उच्चारण उसके कान में यदि गुरु करता है उस स्थिति में शिष्य कदापि उसका उसी प्रकार उच्चारण नहीं

कर सकता; क्योंकि उसकी आयु सात वर्ष समाप्त होकर आठवें वर्ष की है। (अर्थात् इतनी धारणा शक्ति उसमें नहीं है कि एक बार में सम्पूर्ण मन्त्र गुरु द्वारा सुनाये जाने पर उसे याद रख सके)। इसलिये दो-दो, चार-चार, पाँच-पाँच वर्णों का उच्चारण उसके कान में गुरु करते हैं; जिससे शिष्य तदनुरूप उच्चारण आसानी से कर पाता है। धीरे-धीरे जब गुरु के द्वारा किये गये सम्पूर्ण (एक साथ) मन्त्र के उच्चारण को शिष्य तदनुरूप एक साथ दुहराने में सक्षम होता है तब दीक्षा सिद्ध मानी जाती है।।३।।

एवञ्च लक्षणन्तु तत्तन्मन्त्राणां घटका यावन्तो वर्णास्तेषां तादृशेच्छा-पूर्वकगुरुकृतैकैकोच्चरणोत्तरैकैकोच्चारणत्वं तत्तन्मन्त्रदीक्षात्वमिति सिद्धम्। तादृशोच्चारणत्वञ्च एकैकाद्युच्चारणोत्तरमेकैकाद्युच्चारणे यथा, तथा सकलोच्चारणोत्तरसकलोच्चारणेऽप्यक्षतम्, समुदायोच्चरणेऽप्येकैको-च्चरणत्वस्य सत्त्वात् ।।४।।

इस प्रकार से दीक्षा का लक्षण यह है कि मन्त्र में जितने वर्ण हैं, उन वर्ण का इच्छापूर्वक (यह इच्छा कि इसे शिष्य को प्रदान कर रहा हूँ) गुरु द्वारा एक-एक वर्ण का उच्चारण शिष्य के दक्षिण कर्ण में किया जाता है। उसे सुनकर शिष्य भी एक-एक वर्ण का तदनुरूप उच्चारण करे, इस प्रकार से उस मन्त्र की दीक्षा पूर्ण मानी जाती है। जैसे गुरु द्वारा एक-एक मन्त्रवर्ण का उच्चारण सुनकर शिष्य उसी प्रकार से उच्चारण करता है, इसे टुकड़ा-टुकड़ा में किया मन्त्र उच्चारण नहीं माना जाता। यह अक्षुण्ण उच्चारण है, क्योंकि समुदायोच्चारण में भी एक-एक वर्ण का ही उच्चारण होता है।।४।।

न च व्युत्क्रमेण व्यवधानेन संयुक्ताक्षरपार्थक्येन वोच्चारणेऽपि तत्तत् सिद्धिः स्यादिति वाच्यम्। तत्तद्व्यावृत्त औचित्यस्योच्चारणयोर्निवेशनीय-त्वादिति। अस्तु वा तत्तदलक्ष्यव्यावृत्तमुच्चारणनिष्ठवैजात्यमेव लक्षण-घटकम्। तथा च विजातीयोच्चारणत्वमेव दीक्षात्वमिति तु परमार्थः ।।५।।

एक मन्त्र में जो वर्णक्रम है, उस क्रम से उच्चारण न करके उलटा पलटा उच्चारण करने से अथवा मन्त्र के एक वर्ण का उच्चारण करके ठीक उसके बाद वाले मन्त्रवर्ण का उच्चारण न करके आगे के वर्ण का उच्चारण करने से अथवा मन्त्र में जो संयुक्त वर्ण हैं, उनका अलग-अलग उच्चारण करने से उसी प्रकार की सिद्धि मिलेगी (अर्थात् यथार्थ मन्त्र वाला सिद्धि नहीं मिलेगी।) यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि गुरु तथा शिष्य उच्चारण काल में उचित रूप से एक सिलसिले से मन्त्र पद का उच्चारण करें। इसे ही दीक्षा कहा जायेगा। अथवा विजातीय उच्चारण अर्थात्

एक-एक वर्ण के बीच के वर्ण को छोड़कर अथवा संयुक्ताक्षर का अलग-अलग उच्चारण करना भी दीक्षा कही जा सकती है। अन्त में यह कहना समीचीन है कि विजातीय विशिष्ट उच्चारण भी दीक्षा है।।५।।

अत्रेयमवधेयम्—सम्यङ् मन्त्रं प्रथमत एकोच्चारेण कर्णे त्रिः कथयित्वा पश्चाद् गुरुणा शिष्य एकैकं मन्त्रवर्णं विशिष्टं वा मन्त्रं पाठयितव्यः। तावतैव सर्वसामञ्जस्यादिति रीतिरेव साधीयसीति मन्यामहे। अतएव—

दक्षकर्णे त्रिशो विद्यामेकोच्चारेण चोच्चरेत्।

इति वचनमप्युपयुज्यते। अतएव चानभिज्ञानां स्त्रीबालशूद्राणामनेकाक्षरघटितमन्त्रोपदेशः साधूपयुज्यते ॥६॥

यहाँ यह विशेष रूप से जान लेना चाहिये कि सम्पूर्ण मन्त्र का तीन बार कानों में उच्चारण करने के पश्चात् गुरु शिष्य से एक-एक मन्त्रवर्ण अथवा वर्णविशिष्ट पद का अथवा सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारण कराये, इससे समस्त सामञ्जस्य हो जायेगा—यही उचित प्रकृष्ट रीति है। इसलिये यह उक्ति संगत लगती है कि पहले शिष्य के दाहिने कान में सम्पूर्ण मन्त्र का गुरु द्वारा तीन बार उच्चारण किया जाय। बाद में गुरु एक-एक वर्ण बोले, जिसका शिष्य तदनुरूप उच्चारण करे। इस विधि से अनभिज्ञ बुद्धि स्त्री, बालक तथा शूद्रों को भी अनेक वर्णों से युक्त मन्त्र-दीक्षा दी जा सकती है।।६।।

अत्र 'गृह्णीयान्मन्त्रमुत्तम'मित्यादिवचनान्मन्त्रग्रहणमेव दीक्षेति कथमुच्चारणं दीक्ष्योच्यते इति चेदुच्यते, ग्रहणमत्र उपास्यत्वेन स्वीकारः सत्वाभिव्यञ्जके उच्चारणे कृते सिध्यति। यथा भार्यात्वसम्पादकस्वीकारात्मको विवाहः सप्तपदीगमनादौ। न च—

चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थसिद्धक्षेत्रे शिवालये।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते॥

इति वचनान्मन्त्रं कथयतो गुरोर्व्यपदेशकर्तृत्वापत्तिरिति वाच्यम्। तद्वचने शिष्यस्येत्यध्यादृत्य तेनैव प्रकथनस्यान्वयसमर्थनात्। तत् प्रकथनञ्च गुरुकथनानन्तरमेवेति मन्तव्यम् ॥७॥

कहा गया है कि 'इसके अनन्तर उत्तम मन्त्र ग्रहण करूँगा' इसके अनुसार मन्त्र ग्रहण ही दीक्षा है। अतएव उच्चारणमात्र को दीक्षा कैसे कह सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि यहाँ उपास्यत्व रूप से ग्रहण किया गया है। यह तो मन्त्र के उच्चारण से ही सिद्ध होगा। जैसे पत्नी स्वीकार करना रूप कार्य सप्तपदीगमन से ही सिद्ध होगा। केवल भावना से दीक्षा अथवा विवाह सिद्ध नहीं होता। अतः उच्चारण आवश्यक है।

आगे कहते हैं कि—

चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते॥

चन्द्र-सूर्यग्रहण काल में, तीर्थ में, सिद्धस्थान पर, शिवालय में मन्त्र का प्रकृष्ट रूप से कथन ही उपदेश कहा जाता है। यहाँ इस वचन से यह नहीं मान लेना चाहिये कि इससे भी यही सिद्ध होता है कि गुरु द्वारा शिष्य के कान में मन्त्र सुनाया जाना आवश्यक है। गुरु का कथन = मन्त्रदान। तभी शिष्य सुन मन्त्र की आवृत्ति कर सकेगा और दीक्षा सिद्ध होगी।।७।।

ननु मन्त्रस्य शब्दस्वरूपस्य दातृत्वं ग्रहीतृत्वञ्च कथं सम्पद्यते इति चेत्, शृणु, मन्त्रस्य दानं हि मदुच्चारणानन्तरमनेनोच्चारितोऽयं मन्त्र एतत्सृष्टं साधयतु इतीच्छाविशेष एव। तद्वत्तया च गुरोर्दातृत्वम्। ग्रहणन्तु उपास्यत्वेन स्वीकारस्तद्वत्तया च ग्रहीतृत्वं शिष्यस्य। यथा 'पुण्यदः पुण्यमाप्नोती'त्यादौ मदर्जितमिदं पुण्यं मम स्वर्गमजनयित्वा अस्य स्वर्गं जनयत्वितीच्छावत्त्वमेव पुण्यदातृत्वम्। अस्य पुण्यं मम स्वर्गं जनयत्वितीच्छावत्त्वञ्च पुण्यग्राहित्वम्॥८॥

अच्छा, अब यह समझना है कि मन्त्र का दातृत्व एवं ग्रहीतृत्व किस प्रकार से सम्भव होता है? भली प्रकार से उच्चारण के पश्चात् यह इच्छा आवश्यक है कि 'यह मन्त्र इस शिष्य के अभिलषित की पूर्ति करे।' गुरु द्वारा इस प्रकार की इच्छा करना ही मन्त्र-दान है। इस इच्छा करने का अधिकार गुरु के पास है, इसी कारण वे मन्त्रप्रदाता कहे जाते हैं। शिष्य इसे प्राप्त करता है, वह प्रक्रिया है—मन्त्रग्रहण। यह उसी प्रकार है, जैसे कहा गया है कि 'मेरे अर्जित पुण्य से मुझे स्वर्ग न मिले, उससे इसे स्वर्ग मिले।' इसी प्रकार गुरु मन्त्रदान की इच्छा के समय यह सङ्कल्पना करता है कि इस मन्त्र द्वारा इस शिष्य का अभीष्ट सिद्ध हो। गुरु अपने लिये कोई इच्छा नहीं करता। ऐसी इच्छा ही मन्त्रग्राहीत्व के लिये होती है। इसके अतिरिक्त पुण्यदातृत्व (पुण्य देने), पुण्यग्राहीत्व (पुण्य ग्रहण करने) का कोई अन्य मार्ग नहीं है।।८।।

अथ मन्त्रदातुर्दक्षिणादातृत्वं मन्त्रग्रहीतुश्च दक्षिणाग्राहित्वमायातु, न तु वैपरीत्यमिति चेत्, ओम्। एतत् कर्मेण खलु दक्षिणा वाचनिकी गुरवे शिष्यस्य। आयातु वा गुरोर्दानदक्षिणादातृत्वं शिष्यायान्यस्मै वा। शिष्यस्य तु गुरवे वाचनिक्युपदेशदक्षिणा केन वारणीया॥९॥

प्रश्न करते है कि यहाँ दान का तात्पर्य है कि मन्त्रदाता दक्षिणदान करे (क्योंकि

उसने मन्त्रदान किया है) तथा मन्त्र लेने वाला दक्षिण ग्रहण करे। इसके विपरीत अर्थात् मन्त्र लेने वाला दक्षिणा प्रदान करे और मन्त्रदाता दक्षिणा ग्रहण करे, यह नहीं होना चाहिये। उत्तर यह है कि शास्त्रवाक्य यह है कि गुरु को दक्षिणा देनी चाहिये। यह दक्षिणा दीक्षाकर्म की है। यह व्यर्थ आपत्ति आती रहे कि शिष्य को अथवा अन्य को दीक्षा की दक्षिणा देनी चाहिये, इस आपत्ति को अस्वीकार करते हैं। शिष्य द्वारा गुरु को उनके वाचनिक उपदेश के लिये दक्षिणा देने से कौन रोक सकता है।।९।।

वस्तुतस्तु अत्र दानपदं भाक्तम्, मन्त्रे कस्यापि स्वत्वाभावात् स्त्रीशूद्रादीनां सम्प्रदानत्वाभावाच्च। ननु दक्षिणाग्रहणाद् गुरोर्मन्त्रविक्रयित्वमस्तु इति चेद्, क्रमः स्वस्वत्वध्वंसपरस्वत्वोभयजनकमूल्यग्रहणं हि विक्रयः। न च कुत्रापि मन्त्रे कस्यापि स्वत्वध्वंसो वा जायते। न वा मन्त्रस्य मूल्यमस्ति, शास्त्रानुभवविरोधात् शिष्टव्यवहारविरोधाच्च। अतएव शिष्यदत्तद्रव्यार्देदक्षिणात्वमुच्यते न तु मूल्यत्वम्। दक्षिणा चोपदेशकर्मेण साङ्गतार्थं गुरुसन्तोषार्थं च गुरवे देयैवेति सर्वं रमणीयम् ॥१०॥

वास्तव में यहाँ दान पद गौण है। यह मुख्य दान नहीं है। मन्त्र किसी की अपनी वस्तु नहीं है। और स्त्री-पुत्रादि दान पाने के अधिकारी नहीं हैं। (इसलिये गुरु को दान देते हैं)। कोई यह कह सकता है कि दक्षिणा लेने के कारण गुरु तो मन्त्र बेचने वाले हो गये। इसका उत्तर है कि अपनी चीज देकर दूसरे को उस वस्तु का स्वत्वाधिकारी बनाना, यह विक्रय की परिभाषा है; परन्तु कोई मन्त्र किसी का स्वत्व नहीं हो जाता। अतएव देने से कोई उसका स्वत्वाधिकारी नहीं बन जाता। मन्त्र का कोई मूल्य ही नहीं है। (वे अमूल्य हैं) यदि इस तथ्य को न माना जाय तब शास्त्रविरोध, अनुभवविरोध तथा शिष्टव्यवहार-विरोध का दोष होगा। इसलिये शिष्य द्वारा दी गई वस्तु को दक्षिणा कहा गया है (मूल्य नहीं कहा गया)। उपदेश कर्म का फल पाने के लिये और गुरु के सन्तोषार्थ शिष्य द्वारा गुरु-दक्षिणा देनी ही होगी। इससे समस्त प्रक्रिया मनोहर (व्यवस्थित, नियमानुरूप) प्रतीत होने लगती है।।१०।।

अथ दीक्षायां नित्यकाम्यत्वनिर्णयः

दीक्षा सर्वाश्रमेषु नित्यकाम्यैव, अकरणकरणयोर्निन्दाफलयोः श्रवणात् ॥११॥

अब दीक्षा के नित्यत्व तथा उसके काम्यत्व का वर्णन करते हैं। सभी आश्रमों के लिये दीक्षा नित्या (बराबर आवश्यक) तथा काम्य (इच्छित) है। दीक्षा ग्रहण न करना शास्त्रनिन्दा जैसा पाप है। नित्य उसे कहते हैं, जिसे न करने पर पाप लगे वह

कार्य। काम्य उसे कहते हैं, जिसे करने पर सत् फल प्राप्त हो; अत: शास्त्र का कथन है कि दीक्षा नित्य तथा काम्य है।।११।।

यथा तन्त्रे—

अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपहोमादिकाः क्रियाः।
न भवन्ति प्रिये! तेषां शिलायामुप्तबीजवत् ॥१२॥

तन्त्र का कथन है कि जो व्यक्ति विना दीक्षा लिये जप-होमादिक कार्य करते हैं, हे प्रिये! उनका वह प्रयत्न उसी प्रकार सफल नहीं होता जैसे पत्थर पर बोये बीज से अंकुर नहीं निकलता।।१२।।

देवि! दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥१३॥

हे देवि! अदीक्षित कदापि सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। उसे सद्गति भी नहीं मिलती। अतएव सब प्रकार का प्रयत्न करके गुरु से दीक्षा प्राप्त करे।।१३।।

अदीक्षितोऽपि मरणे रौरवं नरकं व्रजेत्।
तस्माद् दीक्षां प्रयत्नेन सदा कुर्याच्च तान्त्रिकात् ॥१४॥

अदीक्षित व्यक्ति को मरण के उपरान्त रौरव नरक प्राप्त होता है। इसलिये यत्नपूर्वक तान्त्रिक से दीक्षा लेनी चाहिये।।१४।।

कल्पे दृष्ट्वा तु मन्त्रं वै यो गृह्णाति नराधमः।
मन्वन्तरसहस्रेषु निष्कृतिर्नैव जायते ॥१५॥

जो नराधम पुस्तकों में मन्त्र पढ़कर मन्त्र ग्रहण करता है (दीक्षा नहीं लेता), सहस्र मन्वन्तरों तक उसे छुटकारा नहीं मिलता।।१५।।

कालिकपुराणे—

प्रसह्य क्रोधान्मोहाद्वा नासम्मत्या गुरोर्मुखात्।
कल्पेषु दृष्ट्वा वा मन्त्रं गृह्णीयाच्छद्मनाऽथवा ॥१६॥
न ब्रह्मस्तेयपापेन तामिस्रनरके नरः।
मन्वन्तरत्रयं स्थित्वा पापयोनिषु जायते ॥१७॥

कालिका पुराण में कहते हैं कि जो व्यक्ति क्रोध, मोह, बल तथा छल से गुरु की सम्मति न रहने पर भी गुरु के मुख से सुनकर अथवा ग्रन्थों में पढ़कर मन्त्र स्वीकार करके साधना करता है, उसे वेद चुराने वाले पाप का दण्ड मिलता है और वह तीन मन्वन्तरों के लिये तामिस्र नरक भोगने के पश्चात् पापयोनियों में जन्म लेता है।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

आचार्यादनभिप्राप्तः प्राप्तश्चादत्तदक्षिणः ।
सततं जप्यमानोऽपि मन्त्रः सिद्धिं न गच्छति ॥१८॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाश ग्रन्थ में कहते हैं कि जिसने आचार्य से मन्त्र नहीं पाया है, प्राप्त होने पर भी उन्हें दक्षिणा नहीं दिया है, वह सर्वदा मन्त्र-जप करने पर भी उस मन्त्र का फल प्राप्त नहीं कर सकता।।१८।।

नारदीये—

यदृच्छा श्रुतं मन्त्रं छलेनापि बलेन वा ।
पत्रेक्षितं वा गाथास्थं तमुपेत्य त्वनर्थकृत् ॥१९॥

नारदीय शास्त्र में कहा गया है कि जो छल अथवा बलपूर्वक गुरु से अथवा आकस्मिक रूप से पत्र में अंकित अथवा गाथाओं में सुने गये मन्त्र को ग्रहण करता है, वह उस मन्त्र को पाकर भी अनर्थ में पड़ जाता है, संकटग्रस्त होता है।।१९।।

मनुः—

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥२०॥

मनु कहते हैं कि जो व्यक्ति वेदमन्त्र के ज्ञाता की जानकारी के विना वेदमन्त्र प्राप्त करता है, उसे वेद चुराने का पाप लगता है। उसे नरकगामी होना होगा।।२०।।

तन्त्रान्तरे—

नादीक्षितस्य कार्यं स्यात् तपोभिर्नियमव्रतैः ।
न तीर्थगमनेनापि न च शारीरयन्त्रणैः ॥२१॥

अन्य तन्त्र में कहा गया है कि अदीक्षित व्यक्ति के द्वारा की गई तपस्या, नियम, व्रत, तीर्थगमन द्वारा अथवा शरीर को पीड़ा देकर किये गये साधन द्वारा कोई फललाभ नहीं होता; अपितु सब व्यर्थ जाता है।।२१।।

अदीक्षितः पशुसमो दीक्षितो देवतोपमः ।
अदीक्षितानां मर्त्यानां दोषं शृणु महेश्वरि ॥२२॥
अन्नं विष्ठासमं तस्य जलं मूत्रसमं स्मृतम् ।
तत्कृतं पितरः श्राद्धं गृहीत्वा यान्त्यधोगतिम् ॥२३॥

हे देवि! महेश्वरि! अदीक्षित व्यक्ति पशु-समान है एवं दीक्षित व्यक्ति देवगण के समान है। अब अदीक्षित के दोषों को सुनो। उसका अन्न विष्ठा के समान त्याज्य है,

जल मूत्र के समान त्याज्य है। उसके द्वारा किये गये श्राद्ध को ग्रहण करके पितर अधोगामी होते हैं।।२२-२३।।

उपचारसहस्रैः संयोजितां भक्तिसंयुताम्।
अदीक्षितार्चनां देवा न गृह्णन्ति कदाचन॥२४॥
कर्माखिलं वृथा यस्मात् तस्माददीक्षितः पशुः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्॥२५॥

देवगण कभी भी अदीक्षित द्वारा भक्तियुक्त अर्चना तथा उपचार को ग्रहण नहीं करते। अदीक्षित पशुतुल्य है; अतएव उसके समस्त कर्म व्यर्थ जाते हैं। इसलिये प्रयत्नपूर्वक गुरु से दीक्षा लेनी चाहिये।।२४-२५।।

यथा वाराहीतन्त्रे—

श्रीभगवानुवाच

दीक्षामूलं जपं सर्वं दीक्षामूलं परं तपः।
दीक्षामाश्रित्य निवसेद् यत्र कुत्राश्रमे वसन्॥२६॥

वाराहीतन्त्र में श्रीभगवान् कहते हैं—सभी जपों के मूल में दीक्षा है। गृहस्थादि चारो आश्रमों में से किसी भी आश्रम में रहो, दीक्षा का आश्रयण करके रहो।।२६।।

शारदायाम्—

पुरुषार्थसमावाप्त्यै सच्छिष्यो गुरुमाश्रयेत्॥२७॥

शारदातिलक में कहते हैं कि सत् शिष्य सम्यक् पुरुषार्थ पाने के लिये गुरु का आश्रय ले।।२७।।

तन्त्रान्तरे—

सर्वसिद्धिकरी दीक्षा सर्वदुःखविनाशिनी।
सर्वरोगप्रशमनी सर्वसौभाग्यदायिनी॥२८॥

अन्य तन्त्र में कहा गया है कि दीक्षा सर्वसिद्धि-प्रदायिनी है। सभी दुःखों का विनाश करती है। समस्त रोगों का नाश करने वाली तथा सर्वसौभाग्य देने वाली है।।२८।।

अशेषकविताशक्तिदायिनी कीर्त्तिवर्द्धिनी।
चतुर्वर्गफलावाप्तिसाधिनी भक्तवर्द्धिनी॥२९॥

इसके कवित्व शक्ति मिलती है, कीर्ति बढ़ती है और भक्ति-वृद्धि के साथ-साथ चतुर्वर्ग फल देती है।।२९।।

अथ दीक्षापदार्थकथनम्

तन्त्रे—

दीयते ज्ञानसम्पत्तिः क्षीयते पापसञ्चयः ।
तस्मात् दीक्षेति सम्प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः ॥३०॥

तथा च दीयते इति दैवादिक दीधातोः क्विपि दीः। क्षायत इति क्षैधातो-र्बाहुल्यात् कप्रत्यये क्षा, ततः कर्मधारयः ॥३१॥

अब दीक्षापदार्थ बताया जा रहा है। तन्त्र के अनुसार ज्ञानसम्पत्ति देकर पापों का नाश करने के कारण मुनिगण तथा तन्त्रमर्मज्ञ लोग इसे 'दीक्षा' कहते हैं। दीयते (दान करना) इस अर्थ से दिवादि गणीय 'दी' धातु के उत्तर में क्विप् प्रत्यय लगाने से 'दीः' पद निष्पन्न होता है। क्षीयते (क्षय करना) इस अर्थ में 'क्षै' धातु के उत्तर में बहुल निबन्धन 'क' प्रत्यय लगाने से 'क्षा' पद निष्पन्न होता है। तदनन्तर दोनों पद (दी तथा क्षा) में कर्मधारय समास लगाने से 'दीक्षा' पद निष्पन्न होता है।।३१-३१।।

दिव्यं ज्ञानं यतो दत्ते कुर्यात् पापक्षयं तथा ।
तस्माद् दीक्षेति तामाहुर्मुनयो वेदवादिनः ॥३२॥

इत्यादि वचनानुसारात्। तत्पदसिद्धिस्तु पृषोदरादिति एवं—

दीयते ज्ञानसम्पत्तिः क्षीयते पापसञ्चयः ।
तस्माद् दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः ॥३३॥

इति वचनस्य प्रामाणिकत्वे तत् पदसिद्धिः पृषोदरादित्वात्। अत्र दीयते क्षीयते इत्यनयोरनयेत्यध्याहृतेन कर्त्रान्वयः ॥३४॥

जो दिव्य ज्ञान दान करे, पापक्षय करे, उसे वेदवित् मुनिगण 'दीक्षा' कहते हैं। इस वचन के अनुसार 'दी' पद तथा 'क्षा' पद का कर्मधारय हो जाता है; किन्तु पदसिद्धि होगी पृषोदरादित्व द्वारा। इसी प्रकार 'दीयते ज्ञानसम्पत्ति' इत्यादि वचन के प्रामाणिक होने के कारण पृषोदरादित्व के कारण दीक्षा पद सिद्ध हो जाता है। इसमें स्थित 'दीयते' तथा 'क्षीयते' इन दो पदों की अनया रूपी अध्याहृत कर्त्ता के साथ सम्बन्ध (अन्वय) होगा।।३२-३४।।

'दीयते ज्ञानसम्पत्तिं क्षीयते पापसंञ्चयः' इति पाठस्तु लिपिकरप्रमादजः, उक्तानुक्तकारकयोरेकपदव्युत्पत्तावयोगात्। दीक्षाशब्दस्तु कलावत्यां पञ्चायतन्यामुपदेशे च योगारूढः॥३५॥

'दीयते ज्ञानसम्पत्तिं क्षीयते पापसञ्चयः' यह पाठ लेखक के प्रमाद का द्योतक है;

क्योंकि उक्त तथा अनुक्त कारकद्वय का सिर्फ एक पद व्युत्पत्ति से (एक विभाक्तयुक्त कर्त्ता से) अन्वय नहीं होता। ज्ञानसम्पत्ति अनुक्त कर्म कारक है। पापसंचय उक्त कर्म कारक है। इन अनुक्त तथा उक्त कारकद्वय का एक विभक्तियुक्त अनुक्त कर्त्ता के साथ अन्वय उपदेश में योगरूढ़ है।।३५।।

अथ गुरुलक्षणम्

तन्त्रान्तरे—

सद्गुरोराहितदीक्षः सर्वकर्माणि साधयेत्।

सद्गुरुत्वञ्च शान्तादिगुणवत्वे सति अभिशप्तत्वादिदोषहीनत्वम्। गुणा यथा रामार्चनचन्द्रिकायां—

शान्तो दान्तः कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेशवान्।
शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान् ॥३६॥
आश्रमी ध्याननिष्ठश्च मन्त्रतन्त्रविशारदः।
निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते ॥३७॥

अब गुरु का लक्षण कहते हैं। तन्त्रों में कहा गया है कि सद्गुरु से दीक्षा लेकर साधक सर्व कर्म करे। सद्गुरु शान्त, दान्त, कुलीन, विनीत तथा शुद्ध वेश वाले होते हैं। वे अभिशापादि से रहित होते हैं। इनके गुण के विषय में रामार्चनचन्द्रिका ग्रन्थ में कहा गया है—जो शान्त, दान्त, कुलीन, विनीत, शुद्ध वेषधारी, शुद्ध आचार वाले, सुप्रतिष्ठ, शुचि (पवित्र), दक्ष, अच्छी बुद्धियुक्त, अपने आश्रम आचार का पालन करने वाले, ध्यान-परायण, मन्त्र-तन्त्र में पटु तथा निग्रह-अनुग्रह की शक्ति से युक्त होते हैं, वे ही गुरु कहलाते हैं।।३६-३७।।

शान्तोऽन्तरिन्द्रियनिग्रहकर्त्ता, दान्तो बहिरिन्द्रियनिग्रहकर्त्ता। शुद्धवेशवान्—शुक्लवस्त्रयज्ञोपवीतादिमान्। कुलीनः शुद्धवंशजन्मा। आचारादिनव-गुणशाली वा, सर्वविद्याविशारदो वा। न तु पारिभाषिककुलाचाररतः वैष्णवादिगुरुषु तत्त्वासम्भवात् रामार्चनचन्द्रिकोक्तविष्णुमन्त्रोपदेष्टरि तादृशकुलाचारस्यानुपयोगात्। न च तत्तद् देवताविषयाचार एव कुलाचार इति वाच्यम्। वैष्णवकौलत्वव्यवहाराभावात्। अत एव—

कुलीनः सर्वविद्यानामधिकारीति गीयते।
दीक्षाप्रभुः स एवात्मा सर्वमन्त्रस्य पारगः॥

इत्यादि सङ्गच्छते ॥३८॥

यहाँ शान्त शब्द = अन्तरिन्द्रियों का निग्रह करने वाला, अन्तःकरण का निग्रह

करने वाला; दान्त = बाहरी इन्द्रियों को वश में करने वाला; शुद्धवेशवान् = श्वेतवस्त्र तथा सफेद जनेऊ धारण करने वाला; कुलीन = शुद्ध वंश में जन्म लेने वाला; सर्व विद्या का अधिकारी; आचारादि नव गुणशाली नौ गुण हैं—आचार, विनय, विद्या, प्रतिष्ठा, तीर्थदर्शन, निष्ठा, तप-दान में रुचि तथा रति (प्रेम)। इन गुणों से युक्त व्यक्ति ही दीक्षादान का अधिकारी होता है। यह वचन भी संगत है।।३८।।

शारदायाम्—

सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ।
परोपकारनिरतो जपपूजादितत्परः ॥३९॥
योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः ।
इत्यादिगुणसम्पन्नो गुरुरागमपारगः ॥४०॥

शारदातिलक ग्रन्थ में कहा गया है कि गुरु के ये गुण हैं—समस्त आगमों का ज्ञाता, शास्त्रार्थ जानने वाला, दूसरे के उपकार में रत, जप-पूजा-ध्यान तथा हवन में तत्पर, अनुग्रह करने की शक्ति से युक्त, शान्त, वेद तथा वेदार्थ का ज्ञाता, योगमार्ग का ज्ञाता, प्रसन्नमूर्त्ति।।३९-४०।।

महास्वरोत्तरे—

चीर्णाचारव्रतो मन्त्री ज्ञानवान् सुसमाहितः ।
ब्रह्मनिष्ठा यतिः ख्यातो गुरु स्यात् सार्वभौमिकः ॥४१॥

महास्वरोत्तर ग्रन्थ में कहा गया है कि जो चीनाचार का पालन करने वाला, मन्त्रज्ञ, ज्ञानी, एकाग्र चित्त, ब्रह्मनिष्ठ, संयमी तथा प्रख्यात (जिनकी ख्याति हो); वह सभी आश्रम के लोगों का गुरु हो सकता है।।४१।।

गुरुर्गृहस्थ एव कर्त्तव्याः। यथा कुलार्णवे—

सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च गृहस्थो गुरुरीयते ॥४२॥

कुलार्णवानुसार गृहस्थ को ही गुरु बनाना चाहिये। सभी शास्त्रों का ज्ञाता गृहस्थ व्यक्ति ही गुरु कहा गया है।।४२।।

यामले—

कलत्रपुत्रवान् विप्रो दयालुः सर्वसम्मतः ।
दैवे पित्रे विमिश्रे च गृहस्थो देशिको भवेत् ॥

विमिश्रे तर्पणादौ ॥४३॥

यामलतन्त्र में कहा गया है कि स्त्री-पुत्र से युक्त, दयालु, सर्वमान्य तथा देवकर्म,

पितृकर्म एवं विमिश्र (तर्पण आदि) कर्म में रत मन्त्रोपदेष्टा ही गुरु है।।४३।।

अथ दोषः

कालिकापुराणे—

अमिशप्तमपुत्रं च सावज्ञं कितवं तथा।
क्रियाहीनमकलज्ञं वामनं गुरुनिन्दकम्।
सदा मत्सरसंयुक्तं गुरुं मन्त्रेषु वर्जयेत्॥४४॥

अब गुरु के दोष कहे जाते हैं। कालिकापुराण के अनुसार अभिशप्त, पुत्ररहित, विहित कर्मों में श्रद्धारहित, कितव (धूर्त), क्रियाहीन, मन्त्रशास्त्र के ज्ञान से रहित, वामन, गुरुनिन्दक, सदा मत्सर दोष से युक्त गुरु से मन्त्रदीक्षा लेना वर्जित है।।४४।।

गुरुर्मन्त्रस्य मूलं स्यान्मूलशुद्धौ तु तच्छुभम्।
सफलं जायते यस्मात् तस्माद् यत्नेन वीक्षयेत्॥४५॥

गुरु ही मन्त्र के मूल हैं। मूल शुद्ध होने से ही मन्त्र भी शुभ तथा सफल होता है। इसलिये यत्नपूर्वक (गुरु बनाने से पहले) उनके दोष तथा गुण का विचार कर लेना चाहिये।।४५।।

अभिशप्त = परिवादग्रस्तः। सावज्ञो वैधकर्मण्यश्रद्धावान्। कितवो धूर्त्तः। अकल्पज्ञस्तत् कल्यानभिज्ञः। मत्सरसंयुक्तः पदगुणासहिष्णुः। यत्नेन वीक्षयेदिति। कर्त्तव्यगुरोर्गुणदोषारित्यर्थः॥४६॥

अभिशप्त = जिसकी निन्दा हो रही हो। सावज्ञ = वैध कर्मों में श्रद्धारहित होना। कितव = धूर्त। अकल्पज्ञ—मन्त्रकल्प न जानने वाला। मत्सरसंयुक्त = दूसरों के गुण से जलने वाला। इसलिये शिष्य किसी को गुरु बनाने के पूर्व उनके गुण-दोष की सूक्ष्म जानकारी करे।।४६।।

तन्त्रे—

श्वित्री चैव गलत् कुष्ठी नेत्ररोगी च वामन।
कुनखी श्यावदन्तश्च स्त्रीजितो ह्यधिकाङ्गकः॥४७॥
हीनाङ्गः कपटी रोगी बह्वाशी बहुजल्पकः।
एतैर्दोषैर्विहीनो यः स गुरुः शिष्यसम्मतः॥४८॥

तन्त्र कहता है कि श्वित्री, गलत्कुष्ठी, नेत्ररोगी, वामन, कुनखी (खराब नख वाला), श्यावदन्त, स्त्री के वशीभूत, अधिक अंगों वाला, कम अंगों वाला, कपटी, रोगी, अधिक खाने वाला, बकवादी—यह दोष जिसमें नहीं है, वही गुरु है।

श्वित्री गण्डभालनासादिषुगलदन्यश्वित्रवान्। गलत्कुष्ठी यत्र कुत्रचिदङ्गे। नेत्ररोगी तिमिरादिमान्। अधिकाङ्गः मनुष्यप्रतिनियतातिरिक्ताङ्गवान्। हीनाङ्गः उत्सर्गिकपातच्छेदकेतरमनुष्यप्रतिनियतन्यूनाङ्गसमवायी, तेन नख-केशच्छेददन्तपातवतो न हीनाङ्गत्वम्। कपटी एकमन्त्रप्रार्थनायामितर-मन्त्रदायी। रोगी महारोगवान्। एतैरिति विशेषणीभूतैरित्यर्थः ॥४९॥

श्वित्री = जिसे श्वेत कुष्ठ हो। गलत् कुष्ठी जिसे कहीं भी गलित कुष्ठ हो। नेत्ररोगी = अन्धत्व। अधिकांग = शरीर में मनुष्य के लिये नियत अंगों से अधिक अंग हो। हीनांग = जिसे मनुष्य के लिये नियत अंगों से कम अंग हो। नख न होना, बाल उड़ जाना, दाँत गिर जाना आदि हीनांग के अन्तर्गत नहीं आता। कपटी = जो प्रार्थित मन्त्र के स्थान पर अन्य मन्त्र से दीक्षित करे। रोगी = रोगयुक्त—यह गुरु के दोषों का वर्णन है।।४९।।

मनुः—

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥५०॥

मनु कहते हैं कि सुयन्त्रित विप्र तो मात्र सावित्री मन्त्र से युक्त होकर भी श्रेष्ठ है; परन्तु सर्वभोगी, सर्वविक्रयी तथा अनियन्त्रित विप्र तो त्रिवेद जानने वाला होकर भी श्रेष्ठ नहीं है।।५०।।

सुयन्त्रितः सच्चरित्रः। वरमुत्कृष्टः। अन्ये च पातित्यप्रयोजकदोषाः लवणविक्रयादयः स्मृतिशास्त्रादवगन्तव्याः।

सुयन्त्रित = सचरित्र, वरं = उत्कृष्ट। पाप के प्रयोजक नमक, तेल-विक्रयादि अन्य दोषों को जानने के लिये स्मृति तथा शास्त्र का पठन करना चाहिये।

तन्त्रान्तरे—

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य हारकः।
उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः ॥५१॥

तन्त्र में गुरु शब्द का अर्थ है—ग = सिद्धिप्रद, र = पापनाशक, उ = अव्यक्त—इन तीनों का स्वरूप होने के कारण गुरु श्रेष्ठ है।।५१।।

भावचूड़ामणौ—

वैष्णवा विष्णुमन्त्रेषु गाणपत्या गणेश्वर।
शैवाः शाक्ताश्च सर्वत्र सर्वदीक्षाप्रवर्त्तकाः ॥५२॥

भावचूड़ामणि ग्रन्थानुसार वैष्णवगण विष्णुमन्त्रों द्वारा, गाणपत्यगण गणपतिमन्त्र द्वारा, शैव तथा शाक्तगण सभी मन्त्रों द्वारा दीक्षादान कर सकते हैं।।५२।।

शक्तिदीक्षायां तन्त्रान्तरे—

कुलदेवः द्विजं हित्वा वैष्णवं देशिकं यदि।
करोति कुलशिष्योऽसौ भ्रष्टो भवति निश्चितम्।।५३।।

शक्तिदीक्षा के सम्बन्ध में अन्य तन्त्रों में कहा गया है कि यदि कौल मार्ग का शिष्य अपने कौलगुरु का परित्याग करके वैष्णवादि को गुरु बनाता है, तब निश्चय ही उस शिष्य का पतन होगा।।५३।।

गुरुश्च ब्राह्मण एव कार्यः। यथा बृहद्गौतमीये—

हरिभक्तियुतोऽक्रूरः सदाचारो जितेन्द्रियः।
विप्र एव मुनिश्रेष्ठः वर्णानां गुरुरुच्यते।।५४।।

ब्राह्मण को ही गुरु बनाना उचित है। बृहद् गौतमीय ग्रन्थ में कहा गया है कि सदाचारी, जितेन्द्रिय, क्रूरता से रहित, हरिभक्ति करने वाले मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मण सभी वर्ण वाले मनुष्यों के गुरु बन सकते हैं।।५४।।

अथ पितृमातामहकनिष्ठादितो दीक्षानिषेधः। यथा योगिनीतन्त्रे—

पितुर्मन्त्रं न गृह्णीयात् तथा मातामहस्य च।
सोदरस्य कनिष्ठस्य वैरिपक्षाश्रितस्य च।।५५।।

पिता से, मातामह से, छोटे भाई से तथा शत्रुपक्ष से सम्बन्धित व्यक्ति से मन्त्र नहीं लेना चाहिये।।५५।।

पितुरिति षष्ठी। सर्वत्र स्थाने इत्यध्याहार्यम्। तथा च पितुः स्थाने मन्त्रं न गृह्णीयादित्यर्थः। एवमन्यत्रापि। न च पितुरुपास्यं मन्त्रं न गृह्णीयादित्यर्थ इति वाच्यम्। पित्र्युपास्यमन्त्रस्यान्यतो ग्रहणे दूषणाभावात्, व्यवहार-विरोधात्, तुल्ययुक्त्या मातामहसोदरकनिष्ठाद्युपास्य मन्त्रमात्रस्य परि-त्यागापत्तेश्च। सोदरस्येति। तेन वैमात्रेयादिमातृणां न निषेधः। कनिष्ठयेति। शास्त्रीयस्वज्ञानापेक्षया न्यूनशास्त्रीयज्ञानकस्येत्यर्थः।।५६।।

पितुः = षष्ठी विभक्ति। मतामह-प्रभृति स्थल पर 'स्थान' पद का अध्याहार करना होगा। इसका अर्थ अब होगा कि पिता के स्थान पर मन्त्र-ग्रहण नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार का अर्थ मातामह का भी होगा कि मातामह (नाना) के स्थान पर मन्त्र ग्रहण न करे। अब सूक्ष्म विचार किया जाता है। पिता के स्थान पर मन्त्र न ग्रहण करने का

यथार्थ अर्थ यह है कि जिस मन्त्र की उपासना पिता अथवा नाना करते हैं, उसकी दीक्षा नहीं लेनी चाहिये। यही अर्थ सहोदर (सगे भाई) तथा कनिष्ठ भ्राता के सन्दर्भ में भी जानना चाहिये। परन्तु सौतेले भाई के स्थान पर दीक्षा ग्रहण करना उचित है। कनिष्ठ का अर्थ है—जो शिष्य की तुलना में कम शास्त्रज्ञान रखता है।।५६।।

यथा मनुः—

बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः।
अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रको इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्यताम्।।५७।।

मनु कहते हैं—स्वधर्म का उपदेशक विप्र बालक होने पर भी ज्ञानवृद्ध है, वह धार्मिक दृष्टिकोण से वृद्ध का भी पिता (ज्ञान क्षेत्र में) कहा जा सकता है। प्राचीन काल में शिशु विद्वान् पुत्र ने आंगीरस पिता का अध्यापन किया था। उन्हें ज्ञान द्वारा ग्रहण करके (ज्ञान बुद्धि से) पुत्र कहकर सम्बोधित किया था।।५७।।

ते तमर्थमपृच्छन्त देवान् आगतमन्यवः।
देवाश्चैतान् समेत्योचूर्णायां वः शिशुरुक्तवान्।।५८।।

पितातुल्य व्यक्तिगण ने एक शिशु द्वारा किये गये 'पुत्र' सम्बोधन से क्रोधित होकर देवगण से इस सम्बन्ध में जिज्ञासा किया। देवगण ने एक स्वर में उत्तर दिया कि आंगीरस के शिशु पुत्र ने जो तुम लोगों को पुत्र शब्द से सम्बोधित किया है, वह समीचीन अर्थात् सही है।।५८।।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्।।५९।।
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनुचानः स नो महान्।।६०।।

जो अज्ञ है, वही बालक है। केवल अल्पवयस्कता से ही किसी को बालक नहीं कहा जा सकता। जो मन्त्र देता है अथवा वेद की व्याख्या करता है, वह पितातुल्य है। इसी कारण पूर्वकाल में मुनियों ने अज्ञ को बालक कहा है और मन्त्र देने वाले को पिता कहा है। अधिक वर्षों वाला (अधिक उम्र वाला) अथवा पके सफेद बालों वाला, धनपति अथवा रिश्ते में पिता अथवा पितातुल्य हो जाने मात्र से कोई महान् नहीं हो जाता। ऋषिगण का मत है कि जिसने अंग-उपांग सहित वेदाध्ययन किया है, वही महान् होता है।।५९-६०।।

विप्रानां ज्ञानतो ज्येष्ठ्यं क्षत्रियाणाञ्च वीर्यतः।
वैश्याणां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥६१॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥६२॥

ब्राह्मण विद्या द्वारा ज्येष्ठ होता है। क्षत्रिय बलवीर्य से एवं वैश्य धन-धान्य से ज्येष्ठ हो जाता है; किन्तु शूद्रगण जन्म से ही ज्येष्ठ हैं। जिनके शिर का बाल वार्धक्य से श्वेत हो गये हैं, वे वस्तुतः वृद्ध नहीं हैं; क्योंकि यदि वे अज्ञ हैं तो बालकवत् हैं। जो कम उम्र वाले विज्ञ हैं, वेदार्थ की व्याख्या में समर्थ हैं, उन्हें देवगण महान् तथा ऋषि कहते हैं।।६१-६२।।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥६३॥

जैसे लकड़ी का हाथी अथवा चमड़े से बनायी मृगाकृति तथा अध्ययनरहित ब्राह्मण, ये तीनों नाम मात्र हैं (अर्थात् किसी काम के नहीं हैं); हाथी, मृग तथा ब्राह्मण कहलाकर भी कोई कार्य नहीं कर सकते।।६३।।

यथा षण्डोऽफलः स्त्रिषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥६४॥

जैसे नपुंसक व्यक्ति किसी स्त्री के लिये व्यर्थ है। जैसे—गाय गाय के लिये निष्फल है, वैसे ही अज्ञ व्यक्ति को दिया गया दान भी व्यर्थ है। इसी प्रकार अध्ययन से विमुख रहने वाला विप्र भी निष्फल कहा गया है।।६४।।

केचित्तु सोदरस्य कनिष्ठो विशेषणमित्याचक्षते। तन्न, ज्येष्ठ्यसोदरस्या-निषेधापत्तेः। न च 'भ्राता भ्रातरं न च दीक्षयेदि'ति वचनान्तरेण ज्येष्ठ्यसोदरो वारणीय इति वाच्यम्। तथा सति कनिष्ठस्येत्यस्य वैयर्थ्यात्।

परे तु सोदराभिन्नकनिष्ठो निषिध्यते इत्यूचुः। वैरीति। समभावरहितस्येति पूरणीयम् ॥६५-६६॥

किसी सम्प्रदाय के कोई-कोई व्यक्ति यह कहते हैं कि कनिष्ठ सहोदर का विशेषण है। यह बात संगत नहीं है; क्योंकि इससे बड़े भाई के लिये अनिषेध करने पर आपत्ति हो जाती। वहा गया है कि भाई अपने भाई को दीक्षा न दे। इस वचन से बड़ा भाई वारणीय हो जाता है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा मान लेने पर तो 'कनिष्ठ' पद व्यर्थ हो जाता है। अन्य मतानुसार सहोदर से अभिन्न कनिष्ठ दीक्षा-

दान-हेतु निषिद्ध है। आगे कहते हैं कि समभाव-रहित जो वैरी है, ऐसे व्यक्ति से दीक्षा नहीं लेनी चाहिये।।६५-६६।।

तन्त्रान्तरे—

श्वसुरस्य मुखान् मन्त्रं श्रुत्वा नरकमश्नुते।
पुत्रशोकातुरमुखात् तथा भवति हे शिवे।।६७।।

अन्य तन्त्र में कहा गया है कि श्वसुर से मन्त्र-दीक्षा लेने पर अवश्यमेव नरक मिलता है। हे शिवे! जो पुत्र के शोक से आतुर है, उससे मन्त्रदीक्षा लेने पर भी नरक-यातना मिलती है।।६७।।

विष्णुपुराणे—

पुत्रैरध्यापिता ये च ते पतन्ति श्वभोजनि।

तच्च नरके विशेषः।।६८।।

विष्णुपुराण में कहा गया है कि जिन्हें पुत्र पढ़ाता है, वे श्वभोज नामक नरक में पतित होते हैं।।६८।।

गणेश्वरविमर्शिन्याम्—

यतेर्दीक्षा पितुर्दीक्षा या दीक्षा वनवासिनः।
विविक्ताश्रमिणो दीक्षा न सा कल्याणदायिका।।६९।।

यतेः = सन्यासिनः। वनवासिनो = वानप्रस्थस्य। विविक्तः = पुत्रपत्नी य आश्रमो गृहं तद्वतः। पुत्रपत्नीरहितस्येत्यर्थः। विशेषणरिक्त अर्थात् पुत्रपत्नीभ्यां रहितो य आश्रमस्तद्वत इति। रेफमध्यपाठ इति युक्तम्। पुत्रपत्नीमतोऽपि संन्यासित्वसम्भवात् पृथगुपादानम्।।७०।।

गणेश्वरविमर्शिनी नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि यति के स्थान की दीक्षा, पिता के स्थान वाली दीक्षा, वनवासी के स्थान की दीक्षा, विविक्ताश्रमी के स्थान की दीक्षा कल्याण देने वाली नहीं होती।

यति = सन्यासी। वनवासी—वानप्रस्थाश्रम वाले। विविक्ताश्रमी = पुत्र, पत्नीरहित जो घर हो। पुत्र-पत्नीयुक्त व्यक्ति में भी संन्यासित्व गुण सम्भव हैं। ऐसे व्यक्ति के यहाँ भी दीक्षा-ग्रहण का निषेध है। इसीलिये 'विविक्ताश्रमिणो' कहा गया है।

रुद्रयामले—

न पत्नीं दीक्षयेद् मर्त्ता न पिता दीक्षयेत् सुतम्।
न पुत्रश्च तथा भ्राता भ्रातरं न च दीक्षयेत्।।७१।।

रुद्रयामल में उक्त है कि पति पत्नी को दीक्षादान न करे। पिता पुत्र को दीक्षित न करे तथा भाई, भाई को दीक्षा न दे।।७१।।

सिद्धयामले—

प्रमादाच्च तथाऽज्ञानात् पितुर्दीक्षां समाचरन्।
प्रायश्चित्तं ततः कृत्वा पुनर्दीक्षां समाचरेत्।।७२।।

सिद्धयामल शास्त्र का वचन है कि प्रमाद अथवा अज्ञान के कारण यदि पिता से दीक्षा लिया गया हो तो उस स्थिति में पुत्र को प्रायश्चित्त करके पुनः दीक्षा ग्रहण करना होगा।।७२।।

दीक्षापदमत्र सावित्र्यन्यमन्त्रदीक्षापरम्, तथैव शिष्टाचारात्। अत्र पितुरित्युपलक्षणं मातामहभर्त्रादीनामपि बोध्यम्। प्रायश्चित्तन्तु अयुतसावित्रीजपः, सर्वत्र तथादर्शनात्। यथा शङ्खः।।७३।।

दशसाहस्रजापेन सर्वकल्मषनाशिनी।।७४।।

सावित्रीत्यनुषज्यते। अत्र सावित्री सप्रणवव्याहृतिका, न तु तान्त्रिकी, सामान्यतो निर्देशात् स्मृत्युक्तत्वाच्च। अत्र विषये स्त्रीशूद्रयोरुपवासः प्रायश्चित्तम्, तुल्यत्वात्। अत्र गुरुत्यागे दूषणं नास्ति, वाचनिकत्वात्।।७५।।

इस श्लोक में दीक्षा पद सावित्री मन्त्र से भिन्न अन्य मन्त्र की दीक्षा का बोधक है; क्योंकि इसी प्रकार का शिष्टगणों का आचार है। पिता आदि पुत्र को सावित्री मन्त्र की दीक्षा देते हैं। यहाँ पिता से तात्पर्य है—पिता, नाना, पति। अर्थात् नाना आदि से दीक्षा लेने पर उसका प्रायश्चित्त करके पुनः दीक्षा लेना होगा। प्रायश्चित्त अर्थात् दस हजार गायत्री जप। यहाँ किसी विशेष प्रायश्चित्त का उल्लेख न होने के कारण १०००० गायत्री जप का ही प्रचलन देखा जाता है। जैसे विद्वान् शङ्ख ने कहा है कि दस हजार गायत्री-जप करने से समस्त कलुष का नाश हो जाता है। यहाँ सावित्री का तात्पर्य है—गायत्री। तान्त्रिक सावित्री से तात्पर्य नहीं है; क्योंकि सामान्यतः स्मृतियों में इसका वर्णन मिलता है। स्त्री तथा शूद्र का प्रायश्चित्त है—उपवास, इस प्रसंग में गुरुत्याग करना पाप नहीं है; क्योंकि दीक्षा ही त्रुटिपूर्ण हो गयी।।७३-७५।।

यत् तु मत्स्यसूक्ते—

निर्वीर्य्यञ्च पितुर्मन्त्रं, शैवे शाक्ते न दूष्यति।

इति तत्तु कौलिकमन्त्रदीक्षापरम्। योगिनीतन्त्रे शक्तिविद्यामधिकृत्य दीक्षानिषेधात्। वस्तुतस्तु शाक्ते नक्षत्रविद्यायामित्यर्थः।।७६।।

पिता द्वारा प्राप्त सभी मन्त्र निर्वीर्य होते हैं। यह मत्स्यसूक्त में कहा गया है; किन्तु शैव तथा शाक्त को यह दोष नहीं होता। जबकि योगिनी-सूत्र में पिता पद वाले व्यक्ति से दीक्षा लेने का निषेध है। वास्तव में 'शाक्त' का अर्थ है—नक्षत्रविद्या के प्रसंग में।।७६।।

कृतसुकृतसहस्रानेकजन्मप्रभावै-
र्भवति यदि मनुष्यो गुर्वधीनश्चिरायुः।
कथमपि मनुमेनं प्राप्य शिष्याय तस्मै
निजकुलतिलकाय ज्येष्ठ्यपुत्राय दद्यात् ।।७७।।

इति मत्स्यसूक्ते तत्प्रकरण एवोक्तत्वात्। तथा—

मनुर्विमृष्य दातव्यो ज्येष्ठ्याय हितकारिणे।
पुत्राय किमु तातस्मै विगोत्राय सुपौरुषः ।।७८।।

यदि मनुष्य हजारो जन्मों के सुकृत से दीर्घायु होकर गुरु के शरणागत होता है और किसी प्रकार से उसे मन्त्र-प्राप्ति उन गुरु से हो जाती है, तब उस व्यक्ति को चाहिये कि अपने बड़े पुत्र को वह मन्त्र प्रदान करे।

मत्स्यसूक्त में उसी नक्षत्रविद्या प्रकरण में उपरोक्त श्लोक कहा गया है। और भी कहा गया है कि तेजस्वी पिता गुण तथा दोष का विचार करके हितकारी बड़े पुत्र को यह विद्या प्रदान करे। अब यह विचार करना है कि अन्य गोत्र वाले को यह विद्या प्रदान करने के सम्बन्ध में क्या कहा गया है।।७७-७८।।

इति श्रीक्रमवचनाच्छ्रीविद्यायामप्ययं कल्पः। तदर्थमश्च ज्येष्ठाय पुत्रायापि विमृष्य तदीयगुणदोषौ समवधृत्य मनुर्देयः, किमुतान्यस्मै, तत्र सुतरां विमर्शः ।।७९।।

श्रीक्रम ग्रन्थानुसार श्रीविद्या दान में भी यही कल्प (विधि) माना गया है। तदनुसार ज्येष्ठ पुत्र का गुण-दोष विचार करके उसे मन्त्र देना चाहिये। अन्य का गुण-दोष विचार करके देने के सम्बन्ध में यह मत है कि इसके लिये विचार करके कार्य करे।।७९।।

सिद्धमन्त्रे गुरुविचारो नास्ति 'सिद्धमन्त्रे न दूष्यति'ति वचनात्। तथा सिद्धयामले—

यदि भाग्यवशेनैव सिद्धविद्या लभेत् प्रिये।
तदैव तान्तु दीक्षेत त्यक्त्वा गुरुविचारणम् ।।८०।।

सिद्धमन्त्र ग्रहण में गुरु-विचार की आवश्यकता नहीं है। यही सिद्धयामल में भी

कहा गया है। शिव कहते हैं—हे प्रिये! यदि भाग्य से सिद्ध विद्या प्राप्त हो जाती है, तब गुरु-विचार न करके तत्काल उस मन्त्र की दीक्षा लेनी चाहिये।।८०।।

सिद्धमन्त्रः स्वयंसाधितमन्त्रः। गणेशविमर्शिन्याम्—

सिद्धमन्त्रो यदि पतिस्तदा पत्नीं स दीक्षयेत्।
शक्तित्वेन वरारोहे! न च सा पुत्रिका भवेत्॥८१॥

सिद्धमन्त्र = स्वयं साधित मन्त्र। गणेशविमर्शिनी ग्रन्थ में कहते हैं कि यदि पति को सिद्ध मन्त्र प्राप्त है, तब वह उससे पत्नी को दीक्षित करे। हे वरारोहे! पति द्वारा मन्त्र देने से पत्नी पुत्रीवत् नहीं मानी जायेगी (जबकि गुरु पिता-तुल्य कहा गया है)।।८१।।

अयं भावः—स्वस्य शिवरूपतया तस्याः शक्तिरूपत्वेन न सा कन्यका भवितुर्महतीति। तथा तत्रैव—

भ्राता तथाविधो देवि! भ्रातरञ्चापि दीक्षयेत्।
सिद्धमन्त्रो गुरुः सर्वमयोग्यं योग्यतां नयेत्॥८२॥

यहाँ यह तात्पर्य है कि पति शिवरूपता को प्राप्त है; अतः उसकी स्त्री शक्तिस्वरूपा होने के कारण पति से दीक्षा लेने पर भी उसकी कन्या नहीं कही जा सकती। यहाँ यह भी कहा गया है—हे देवि! भ्राता सिद्ध मन्त्र प्राप्त करके अपने भ्राता को दीक्षा-दान कर सकता है। सिद्धमन्त्र अयोग्य गुरु को भी योग्य बना देता है।।८२।।

महातीर्थे उपरागे सति पित्रादौ सर्वत्र न दोषः। यथा विष्णुमन्त्रमधिकृत्य वैशम्पायनसंहितायां शौनकं प्रति व्यासवचनम्—

साधु पृष्टं त्वया ब्रह्मन् वक्ष्यामि सकलं तव।
ब्रह्मणा कथितं पूर्वं वशिष्ठाय महात्मने॥८३॥

महान् तीर्थों में सूर्य अथवा चन्द्र का ग्रहण होने पर वहाँ पुत्रादि को दीक्षा देने से पिता को कोई दोष नहीं लगता। वैशम्पायन संहिता में विष्णुमन्त्र प्रकरण में व्यासदेव शौनकादि से कहते हैं—हे ब्रह्मन्! तुमने उत्तम प्रश्न किया है। तुमसे सब कुछ कहूँगा। पूर्वकाल में ब्रह्मा ने महर्षि वशिष्ठ को यही बतलाया था। (वशिष्ठ ब्रह्मा के पुत्र हैं)।।८३।।

वशिष्ठोऽपि स्वपुत्राय मत्पित्रे दत्तवान् स्वयम्।
प्रसन्नहृदयः स्वच्छः पिता मे करुणानिधि।
कुरुक्षेत्रे महातीर्थे सूर्यपर्वणि दत्तवान्॥

इत्यादि॥८४॥

व्यास जी कहते हैं—वशिष्ठ ने अपने पिता से प्राप्त किया मन्त्र से अपने पौत्र तथा मेरे पिता पराशर को मन्त्र दीक्षित किया था। प्रसन्न हृदय वाले करुणानिधि तथा पवित्र मेरे पिता ने महातीर्थ कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के समय मुझे दीक्षा दी थी—इत्यादि।।८४।।

ग्रस्तास्ते ह्यपुते नैव कुर्याद् दीक्षा जपं प्रिये।
कृते नाशो भवेदाशु ह्यायुश्रीसुतसम्पदाम् ।।८५।।

शिव कहते हैं—हे प्रिये! ग्रस्तास्त होने पर राहुयुक्त न होने पर (सूर्य के) दीक्षाग्रहण अथवा मन्त्रग्रहण नहीं करना चाहिये। करने पर आयु, धन, पुत्र, सम्पत्ति आदि का शीघ्रता से नाश होता है।।८५।।

पर्वणि दत्तवानित्यादि। दैवात् पित्रोदिता गृहीतस्य मन्त्रस्य पश्चात् दशविधि-संस्कारकरणादपि शुद्धिर्भवति। यथा योगिनीतन्त्रे—

निर्वीर्यञ्च पितुर्मन्त्रं तथा मातामहस्य च।
स्वप्नलब्धं स्त्रिया दत्तं संस्कारेणैव शुध्यति ।।८६-८७।।

दैवात् पिता प्रभृति से प्राप्त मन्त्र का १० प्रकार से संस्कार करके उसकी शुद्धि करना चाहिये। जैसा योगिनीतन्त्र में कहा गया है कि पिता द्वारा प्राप्त मन्त्र निर्वीर्य = शक्तिहीन होता है। स्वप्न में प्राप्त अथवा स्त्री से प्राप्त मन्त्र संस्कार द्वारा शुद्ध हो जाता है।।८६-८७।।

पितुरित्यादि निषिद्धमात्रोपलक्षणम्। एतेन स्त्रियो दीक्षा न कर्त्तव्येत्यायातम्, अन्यथा तत्र संस्कारेण शुद्धिकथनानुपयोगात् ।।८८।।

यत् तु—

साध्वी चैव सदाचारा गुरुभक्ता जितेन्द्रिया।
सर्वमन्त्रार्थतत्त्वज्ञा सुशीला पूजने रता ।।८९।।
गुरुयोग्या भवेत् सा हि विधवा परिवर्जिता।
मातुश्च विधवा दोषा नास्ति वै शङ्करोऽब्रवीत् ।।९०।।

इति केचित्।

श्लोक में 'पितु:' पद दीक्षादान में निषिद्ध समस्त व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। केवल पिता द्वारा प्रदत्त मन्त्र ही निर्वीर्य (शक्तिहीन) नहीं है, अपितु प्रत्येक निषिद्ध व्यक्ति द्वारा प्रदत्त मन्त्र निर्वीर्य है। इससे यह प्रकट होता है कि स्त्री से दीक्षा लेना उचित नहीं है। अन्यथा संस्कारों द्वारा मन्त्रशुद्धि का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

यह भी कहा गया है कि जो स्त्री साध्वी, सदाचारी, गुरुभक्ति में परायण, जितेन्द्रिय, मन्त्रार्थ जानने वाली, पूजा में लीन, सुशील और विधवा न हो, उसे गुरु बनाया जा सकता है। वह गुरु होने योग्य है; किन्तु माता यदि विधवा भी हो, तो उसे दोषयुक्त नहीं माना जाता। यह भगवान् शिव का कथन है।।८९-९०।।

तत् तु गुरुत्वेनाभिमताया उपासितमन्त्रपरम्। यथा भैरवतन्त्रे—

स्वीयमन्त्रोपदेशे तु न कुर्याद्गुरुचिन्तनम् ॥९१॥ इति।

गुरु केवल अपने द्वारा उपासित मन्त्र के ही गुरु हो सकते हैं, अन्य मन्त्रों के गुरु नहीं हो सकते। भैरवतन्त्र में कहा गया है कि अपने मन्त्र का उपदेश करने के लिये गुरु-चिन्तन (गुरु की) की आवश्यकता नहीं है।।९१।।

एतद्विषय एव 'स्त्रियो दीक्षा शुभाप्रोक्ता मातुचाष्टगुणा स्मृते'ति वचनार्द्धम्, अतएव मातुरिति उपासितेऽष्टगुणम्, अनुपासिते शुभफलमित्यर्थ इति तन्त्रसारव्याख्यानमपास्तम्। स्त्रियामुपासितमन्त्रग्रहणस्यानभिहितत्वात्। स्वीयमन्त्रोपदेशे त्विति वचनं तु पितृमातामहादिसर्वविषयकम्। सामान्यतोऽभिधानात् ॥९२॥

स्त्री से दीक्षा लेना शुभ कहा गया है। माता से प्राप्त दीक्षा आठगुनी फल देने वाली है। अत: कहा जा सकता है कि माता से प्राप्त उपासित मन्त्र दीक्षा का आठगुना फल मिलता है और अनुपासित मन्त्र-दीक्षा से शुभत्व प्राप्त होता है। तन्त्रसार में इस प्रसंग पर की गई व्याख्या यहाँ खण्डित हो रही है; क्योंकि यहाँ स्त्री द्वारा अनुपासित मन्त्र ग्रहण (दीक्षा) का वर्णन नहीं मिलता। 'स्वीयमन्त्रोपदेशे तु' यहाँ 'स्वीय' शब्द पिता, मातामह आदि के बारे में प्रयुक्त किया गया है।।९२।।

विधवा परिवर्जितेति वचनात् विधवा माताऽपि निषिद्धा। वस्तुतस्तु योगिनीतन्त्रे स्त्रीपदं विधवापरम्, वचनान्तरैकवाक्यत्वात्। एवञ्च स्त्रियो दीक्षेत्यस्य सामान्यतः स्त्रियो दीक्षा शुभफला मातुरष्टगुणफलेत्यर्थः। सम्प्रदायोऽप्येवम् ॥९३॥

'विधवा परिवर्जिता' इस वचन से यह ध्वनित होता है कि विधवा माता से दीक्षा लेना निषिद्ध है। परन्तु वास्तव में योगिनी तन्त्र में जिस स्त्री पद का वर्णन है, वह स्त्री पद है—विधवा स्त्रीपद। इस वर्णन के आधार पर 'स्त्रियो दीक्षा' इसका अर्थ होगा कि किसी भी स्त्री से दीक्ष। लेना शुभ फलप्रद है। माता से ली गई दीक्षा आठगुणा फल देती है। सम्प्रदाय भी यही अर्थ मानते हैं।।९३।।

केचित् तु तत्र विधवापदमवीरापरम्, पुत्रवत्या विधवाया न निषेधः इतिवदस्ति। स्वीयमन्त्रोपदेशे सर्वत्र गुरुविचारो नास्ति। 'स्वीयमन्त्रोपदेशे तु न कुर्याद् गुरुचिन्तन'मिति भैरवतन्त्रवचनात् ॥९४॥

कोई कहते हैं कि इस वचन में 'विधवा' पद एक ऐसी स्त्री का बोधक है, जो पति- पुत्र से रहित है। पुत्रवती विधवा से दीक्षा लेना कदापि निषिद्ध नहीं है। भैरवतन्त्र के अनुसार अपने सिद्धमन्त्र की साधना में गुरु की कोई आवश्यकता नहीं है।।९४।।

अथ स्वप्नलब्धमनुर्विधिः

तन्त्रान्तरे—

स्वप्नलब्धे तु कलशे गुरोः प्राणान् निवेशयेत्।
वटपत्रे कुङ्कुमेन लिखित्वा ग्रहणं शुभम्।
ततः सिद्धिमवाप्नोति अन्यथा विफलं भवेत् ॥९५॥

अब स्वप्न में प्राप्त किये गये मन्त्र का विधान कहते हैं। तन्त्र में कहा गया है कि स्वप्न में प्राप्त मन्त्र के विधानार्थ कलश में गुरु की प्राणप्रतिष्ठा करनी चाहिये। बरगद के पत्ते पर कुंकुम से स्वप्न में प्राप्त मन्त्र को लिखकर ग्रहण करने से शुभ होता है तथा मन्त्र की सिद्धि प्राप्त हो जाती है; अन्यथा मन्त्र-ग्रहण निष्फल हो जाता है।।९५।।

इदन्तु सद्गुरोरभावे, तत्सत्त्वे तत एव गृह्णीयात्, दीक्षां विना जपस्य दुष्टत्वात्। गुरोः प्राणानिति। गुरुशब्दनिर्देशेन शिवशब्दनिर्देशेन वा प्राणप्रतिष्ठा कार्येति तान्त्रिकाः ॥९६॥

सद्गुरु के अभाव में इस प्रकार से मन्त्र-ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु यदि सद्गुरु प्राप्त हैं, तब उनसे ही मन्त्र लेना होगा; क्योंकि दीक्षा के विना मन्त्रजप दुष्ट हो जाता है। इसीलिये तान्त्रिकगण का कथन है कि गुरु ही प्राण हैं। इससे गुरु शब्द अथवा शिव शब्द का यह निर्देश प्रतीत होता है कि मन्त्र की प्राणप्रतिष्ठा करनी चाहिये; क्योंकि गुरु ही प्राणरूप है (प्राण विना सब निर्जीव है)।।९६।।

अथ गुरोरलाभे कर्त्तव्यनिर्णयः

यथा पद्मपुराणे—

गुरोरभावे विप्रेन्द्र! मन्त्रग्रहणमुच्यते।
कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां दक्षिणामूर्त्तिसन्निधौ।
तालपत्रे मनुं लिख्य स्थापयेच्च तदग्रतः ॥९७॥

गुरु के अभाव में कर्तव्य-निर्णय—हे विप्रेन्द्र! गुरु के अभाव में मन्त्रग्रहण-विधि कहते हैं। कृष्णपक्ष की त्रयोदशी को दक्षिणामूर्त्ति की प्रतिमा के सामने तालपत्र पर मन्त्र लिखकर उनके आगे स्थापित करना चाहिये।।९७।।

सम्पूज्य दक्षिणामूर्तिमुपचारैः प्रयत्नतः।
पायसं विनिवेद्याथ प्रणमेद् दण्डवत् ततः ।।९८।।

विशेष यत्नपूर्वक विभिन्न प्रकार के उपचारों से प्रतिमा का पूजन करके पायस का भोग लगाकर दण्डवत् प्रणाम करे।।९८।।

तालपत्रं समालोक्य पठेदष्टोत्तरं शतम्।
एवं गृहीतो मन्त्रः स्याद् गुरोरपि विशिष्यते ।।९९।।
गुरौ सम्भाविता दोषाः प्रायेण तु कलौ युगे।
एवं गृहीतो मन्त्रः स्यात्सर्वसिद्धिप्रदो नृणाम् ।।१००।।

इति।

तालपत्र को अच्छी तरह से देखते हुये उस मन्त्र को १०८ बार जपना चाहिये। इस प्रकार से गृहीत मन्त्र गुरुप्रदत्त मन्त्र की अपेक्षा और भी अधिक फल देने वाला हो जाता है। कलियुग में प्रायः गुरु में सम्भावित अनेक दोष होते हैं, जो शिष्य में भी आ जाते हैं। अतः उपरोक्त प्रकार से ग्रहण किया गया मन्त्र साधक को समस्त सिद्धियाँ (वांछित सिद्धियाँ) प्रदान करता है।।९९-१००।।

●

अथ शिष्यलक्षणम्

शान्तो विनीतः शुद्धात्मा श्रद्धावान् धारणक्षमः।
समर्थश्च कुलीनश्च प्राज्ञः सच्चरितो यती।
एवमादिगुणैर्युक्तः शिष्यो भवति नान्यथा ॥१॥

धारणक्षमः मन्त्राद्यभ्यासानुकूलमेधावान् ॥२॥

शिष्य के लक्षण—शान्त, विनीत, शुद्ध चित्त वाला, श्रद्धावान, उपदेश धारण में समर्थ, कुलीन, प्राज्ञ, सच्चरित्र तथा यती (ज्ञानी)—इन गुणों से युक्त व्यक्ति ही शिष्य कहलाने योग्य है। अन्य व्यक्ति कदापि शिष्य कहलाने योग्य नहीं हैं।।१।।

समर्थस्तत्तत् = मन्त्रकल्प (मन्त्रविधि) करने में समर्थ।
प्राज्ञ = यहाँ स्वार्थ में अन् प्रत्यय है।
यती = इन्द्रियों का संयम रखने वाला।
धारणक्षमः = मन्त्राभ्यास के लिये अनुकूल मेधा शक्ति-युक्त।।२।।

तथा—

वाङ्मनःकायवसुभिर्गुरुशुश्रूषणे रतः।
एतादृशगुणोपेतः शिष्यो भवति नापरः ॥३॥

शिष्य के अन्य लक्षण हैं—वाणी, मन, देह तथा धन से गुरु की सेवा में रत रहना और इन्हीं गुण से मण्डित व्यक्ति ही शिष्य है; अन्य शिष्य नहीं हो सकते।।३।।

नारायणीये—

कुर्वन्नाचार्यशुश्रूषां मनोवाक्कायकर्मभिः।
शुद्धभावो महोत्साहो बोद्धा शिष्ये इति स्मृतः ॥४॥

नारायणीय तन्त्र में कहते हैं कि मन, वाक्य, देह तथा कर्मसमूह द्वारा गुरु की सेवा करने वाला, शुद्ध अन्तःकरण वाला, महा उत्साही, बुद्धिमान व्यक्ति ही शिष्य कहला सकता है।।४।।

मनुः—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषाव्यापि तद्विधा।
न तत्र विद्या वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥५॥

मनु महाराज कहते हैं—जैसे ऊषर भूमि में अच्छा बीज नहीं उगता, उसी प्रकार जहाँ धर्म तथा अर्थ नहीं है, यहाँ तक कि सेवाभाव भी नहीं है, वहाँ विद्यादान नहीं करना चाहिये।।५।।

कालिकापुराणे—

शठे क्रूरे च मूर्खे च छन्दकारिण्यभक्तके।
मन्त्रो न दूषिते देयः सुबीजं विपिने यथा ।।६।।

कालिकापुराण में कहा गया है—जैसे वन में अच्छे बीज को बो सकना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार शठ, क्रूर, मूर्ख, छली, भक्तिरहित तथा दूषित व्यक्ति को मन्त्र नहीं देना चाहिये।।६।।

विद्या ब्राह्मणमित्याह शेवधिस्तेऽस्ति रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तदा स्यां वीर्यवत्तमा ।।७।।

विद्यादेवी ब्राह्मण से कहती हैं—मैं तुम्हारी निधि (पूँजी) हूँ, मेरी रक्षा करो, मुझे दूसरे से जलन रखने वाले (दुर्गुणी) को मत देना। यदि ऐसा वर्जन करोगे तब मेरी शक्ति में वृद्धि होती रहेगी।।७।।

मनुः—

यमेव तु शुचिं विद्या नियतं ब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने ।।८।।

अध्यापक ब्राह्मण विप्र जिसे पवित्र, संयत तथा ब्रह्मचारी, विद्यानिधि के रक्षण में तत्पर देखें, उसे ही विद्या का दान करें, यह मनु कहते हैं।।८।।

सारसंग्रहे—

राज्ञि चामात्यजो दोषः पत्नीपापं स्वभर्त्तरि।
तथा शिष्यार्जितं पापं गुरुः प्राप्नोति निश्चितम् ।।९।।

सारसंग्रह में कहा है कि जैसे मन्त्री द्वारा की गई गलतियों का फल राजा भी भोगता है, जैसे पत्नी के पाप की छाया पति पर भी पड़ती है, वैसे ही शिष्य द्वारा अर्जित पाप गुरु को भी प्राप्त होता है।।९।।

इदन्तु राजामात्ययोर्दम्पत्योर्गुरुशिष्ययोश्च परस्परदोषभागिताबोधतात्पर्यकम्। अत एव कुनख्यादिशिष्योऽपि दुष्टः। ननु तर्हि गुरुशिष्ययोः कियता कालेन चरित्रपरीक्षा भवतीत्यत्र स्फुटमभिहितं सारसंग्रहे ।।१०।।

यहाँ राजा द्वारा मंत्री के तथा पति द्वारा पत्नी के किये पाप का भागी होना कहा

गया, इसका तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति दोषभागी होने पर उससे सम्बन्धित दूसरे में भी दोष का संक्रमण हो जाता है। अत: पहले कहे गये कुनखी, हीनांग, अधिक अंगों वाले आदि शिष्य भी दुष्ट श्रेणी में रखे गये हैं। शिष्य का चरित्रपरीक्षण करना भी आवश्यक है। इसके लिये सारसंग्रह में कहा गया है।।१०।।

सद्गुरुः स्वाश्रितं शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेत्।
गुरुता शिष्यता वपि तयोर्वत्सरवासतः ॥११॥

कहते हैं कि सद्गुरु एक वर्ष तक शिष्य की परीक्षा ले। एक वर्ष साथ रहने से गुरुता तथा शिष्यता की परीक्षा हो जाती है।।११।।

वत्सरवासत इति। वत्सरं व्याप्य सहवासत इत्यर्थः। इदन्तु विप्र-शिष्यविषयकम्। यथा—

वर्षैकेन भवेद्योग्यो विप्रो गुणसमन्वितः।
वर्षद्वयो तु राजन्यो वैश्यस्तु वत्सरैस्त्रिभिः।
चतुर्भिर्वत्सरैः शूद्रः कथिता शिष्ययोग्यता ॥१२॥

वत्सरवास का अर्थ है—एक वर्ष-पर्यन्त निरन्तर एक साथ निवास। यह ब्राह्मण शिष्य के लिये एक वर्ष का निश्चय है। तन्त्र कहता है—गुणयुक्त ब्राह्मण एक वर्ष में शिष्यत्व की योग्यता प्राप्त करता है। गुणयुक्त क्षत्रिय दो वर्ष में, वैश्य तीन वर्ष में तथा शूद्र चार वर्ष में यह योग्यता प्राप्त करता है।।१२।।

स्वप्नलब्धमन्त्रस्य गुरुकरणे तु उक्तकालप्रतीक्षा नास्ति, 'स्वप्ने तु नियमो नास्ती'ति नारदवचनात्॥१३॥

तन्त्रान्तरे—

प्रणवाद्यं न दातव्यं मन्त्रं शूद्राय सर्वथा।
आत्ममन्त्रं गुरोर्मन्त्रं मन्त्रं चाजपसंज्ञकम् ॥१४॥

स्वप्न में प्राप्त मन्त्र के लिये काल-परीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। नारद कहते हैं कि स्वप्न में नियम नहीं होता। अन्य तन्त्र में कहा गया है कि शूद्र को किसी भी प्रकार का प्रणवयुक्त मन्त्र नहीं देना चाहिये; साथ ही उसे आत्ममन्त्र, गुरुमन्त्र तथा अजपा मन्त्र भी देना निषिद्ध है।।१३-१४।।

मन्त्रस्य देशादेशत्वविचारः

प्रणवः आद्यः प्रधानं यत्र तादृशं प्रणवघटितमित्यर्थः। यथाश्रुते बीजान्तरादेः प्रणवमध्यस्य प्रणवान्तस्य च मन्त्रस्य निषेधाप्रसक्तेः।

आत्ममन्त्रं स्वोपासितमन्त्रम्। तेन ब्राह्मणाय कदाचिदात्ममन्त्रदानं प्रसज्यते गुरोरिति। यदि गुरुमन्त्रं जानाति, तदा तमपि शूद्राय न दद्यादित्यर्थः। अजपसंज्ञकं सूर्यमन्त्रविशेषं हंसः इत्यक्षरद्वयात्मकम् ॥१५॥

मन्त्र-साधना में देश-विचार—प्रणव आद्य = जिसमें प्रणव लगा हो। जिस मन्त्र के आदि में प्रणव लगा हो। इस अर्थ को लेने पर (स्वीकार करने पर) जिन मन्त्रों के मध्य में अथवा अन्त में प्रणव लगा है, उनको शूद्र को देने में कोई निषेध नहीं रह जाता। आत्ममन्त्र = स्वयं द्वारा उपासित मन्त्र। गुरोः = यदि गुरुदेव के इष्टमन्त्र की जानकारी हो भी जाय, तब भी वह शूद्र को नहीं देना चाहिये। अजपसंज्ञक = हंसः रूपी दो अक्षरों वाला मन्त्र।।१५।।

एतेन हंसमन्त्रस्य शूद्रादेयत्वे व्यवस्थिते शूद्रानुच्चार्यतापि प्रतीयते। अतएव वाराहीतन्त्रे—

हंसाख्यं न स्मरेच्छूद्रो भूतशुद्धौ कदाचन।
स्मरणान्नरकं याति दीक्षा च विफला भवेत् ॥१६॥

इत्युक्तम्।

इस निषेध द्वारा यह नियम है कि शूद्र को हंसः मन्त्र नहीं दिया जा सकता। इसीलिये वाराहीतन्त्र में कहते हैं कि भूतशुद्धि में शूद्र कभी भी हंसः मन्त्र का उच्चारण न करे; अन्यथा उसकी दीक्षा विफल हो जायेगी तथा नरक में निवास मिलेगा।१६।।

तत्र भूतशुद्धावित्युपलक्षणम्। नृसिंहतापनीये—सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्रयोर्नेच्छन्ति। सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं यदि स्त्रीशूद्रो जानीयात् स मृतोऽधोगच्छतीति। नेच्छन्तीति पर्यन्तं पराशरभाष्येपि लिखितम्। सावित्रीं वैदिकगायत्रीम्, न तु तान्त्रिकीमपि। प्रणवोऽपि वेदादिवर्णरूपः न तु तत्तद्देवताप्रणवरूपोऽपि। यजुः स्वाहा मन्त्रविशेषो वा। लक्ष्मीः श्रीबीजम् ॥१७॥

यहाँ भूतशुद्धि अन्य का भी उपलक्षण है। नृसिंहतापनीयोपनिषद् में कहा है कि सावित्री, प्रणव, यजुः तथा लक्ष्मीमन्त्र का उच्चारण स्त्री तथा शूद्र के लिये वर्जित है। यदि स्त्री तथा शूद्र इन्हें जान लेते हैं तब वे मृत्यु के उपरान्त अधोलोक में जाते हैं। इन सबके बारे में पाराशर भाष्य में भी लिखा गया है। यह वैदिक गायत्री सावित्री है, जो तान्त्रिक गायत्री नहीं है। प्रणव भी यहाँ वेद का आदिवर्ण ओंकार है, उन-उन देवताओं का प्रणवरूप नहीं है। यजु = स्वाहा अथवा मन्त्रविशेष। लक्ष्मी = श्रीं बीज।।१७।।

तन्त्रान्तरे—

स्वाहा प्रणवसंयुक्तं शूद्रे मन्त्रं दद्द्विजः।
शूद्रो निरयमाप्नोति ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ॥१८॥

तन्त्रान्तर में कहते हैं जो ब्राह्मण स्वाहा तथा प्रणव-संयुक्त मन्त्र शूद्र को प्रदान करते हैं वह शूद्र तथा ब्राह्मण नरक तथा अधोगति को प्राप्त हो जाते हैं।।१८।।

ब्राह्मणः शूद्रतामियादिति चतुर्थचरणः क्वचित्। स्वाहाप्रणवसंयुक्तं मन्त्रं द्विजो यदि शूद्रे ददत् ददाति इति पूर्वार्द्धार्थः ॥१९॥

किसी पुस्तक में इस श्लोक के चतुर्थ चरण में 'ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्' के स्थान पर 'ब्राह्मणः शूद्रतामियात्' कहा गया है। इसका अर्थ है कि यदि ब्राह्मण शूद्र को स्वाहा तथा प्रणवयुक्त मन्त्र देता है। यही बात श्लोक १८ के पूर्वार्द्ध में ही कह दी गयी है।।१९।।

अत्र केचित् स्वाहाप्रणवोभयघटितमन्त्रो निषिद्धः। न तु केवलस्वाहा-घटितोऽपि।

प्रणवाद्या महेशानि स्वाहान्तां मीनलोचने।
न विद्यां परमेशानि! गृह्णीयुः शूद्रजातयः ॥२०॥

यहाँ कोई-कोई कहते हैं कि स्वाहा तथा प्रणव से घटित मन्त्र शूद्र के लिये निषिद्ध है। जहाँ केवल स्वाहा शब्द हो और प्रणव न हो, वह कदापि निषिद्ध नहीं है। कहा भी है—

हे महेश्वरि! हे मीनलोचने! हे परमेशानि! शूद्र लोग प्रणवाद्य तथा स्वाहान्त मन्त्र को ग्रहण न करें।।२०।।

इति वचनान्तरैकवाक्यत्वात्। अत एव दशाक्षरगोपालमन्त्रस्य सर्ववर्णजप्यता संगच्छते। अत एवाङ्गन्यासादौ देवीसहस्रनामपाठादौ षोडशमातृकापूजादौ च शूद्राणां स्वाहाशब्दपाठः प्रवर्त्तते॥२१॥

इस प्रकार के अन्य वचनों के साथ एकवाक्यता है। इसी कारण १० अक्षरों वाले गोपाल मन्त्र के सभी वर्णों की जप्यता सुसंगत है। इसीलिये अंगन्यास, करन्यास आदि में, देवीसहस्रनाम पाठ में, षोडशमातृका पूजादि में शूद्र द्वारा स्वाहा शब्द का पाठ किया जा सकता है (क्योंकि वहाँ केवल स्वाहा है, ॐ नहीं है)।।२१।।

एवञ्च 'प्रणवं वह्निजायाञ्च न शूद्रोऽप्युच्चरेत् क्वचित्' इति चिन्ता-मणितन्त्रवचनमपि विशिष्टपरं बोध्यम्॥२२॥

अतएव तन्त्रान्तरे—

तस्माद् यत्नेन सततं तन्त्रोक्तं शूद्रजातय: ।
कवचं हि पठेद् देवि! वह्निजायासमन्वितम् ॥२३॥
एतत्तत्त्वं महेशानि! यो जानाति नरोत्तम: ।
सोऽहमेव महादेवो देवीरूपश्च साधक: ॥२४॥

अतएव प्रणव तथा स्वाहा का (एक ही मन्त्र में) शूद्र कदापि (एक साथ) उच्चारण न करे। यह चिन्तामणि तन्त्र का यह वचन है। विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है।

अन्य तन्त्र में कहते हैं कि हे देवि! अत: शूद्र लोग यत्न के साथ केवल स्वाहा-समन्वित (जिसमें प्रणव न हो) कवच का पाठ कर सकते हैं। हे महेशानि! जो मनुष्यों में उत्तम व्यक्ति इस तत्त्व को जानता है, वही महादेव तथा देवीरूप है।।२२-२४।।

इत्युक्तं सङ्गच्छते। एवञ्च—

प्रणवाद्या महाविद्या शूद्रादौ न समीरिता ।

इति प्रचण्डचण्डिकामन्त्र: प्रणवादिरेव शूद्रादौ निषिद्धो न तु वह्निजायान्तोऽपीति युक्तम् ॥२५॥

यह उचित तथा संगत उक्ति है। इसी कारण कहा गया है कि प्रणवाद्या (प्रारम्भ में प्रणवयुक्त मन्त्र) शूद्र को नहीं देना चाहिये। इसी कारण शूद्रादि के लिये प्रणवाद्य प्रचण्डचण्डिका मन्त्र निषिद्ध है। किन्तु जहाँ केवल स्वाहा लगा हो, वह निषिद्ध नहीं है।।२५।।

तत्र प्रणवाद्यपदस्य स्वाहान्तस्याप्युपलक्षणत्वे मानाभाव:। न चैवं सति केवलप्रणवघटितमन्त्रोऽपि देय: स्यादिति वाच्यम् प्रणवोच्चारणस्य नृसिंहतापनीये पृथङ् निषेधात् ॥२६॥

प्रणवोच्चारणाद्धोमाच्छालग्रामशिलार्चनात् ।
ब्राह्मणीगमनाच्चैव शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत् ॥२७॥

इस स्थान पर प्रणवाद्य पद स्वाहान्त का उपलक्षण है, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। अत: शूद्र को मात्र प्रणवयुक्त मन्त्र दिया जाय, यह नहीं कहा जा सकता। नृसिंह-तापनीयोपनिषत् में शूद्र को मात्र प्रणवगठित मन्त्र देने से मना किया गया है। कहते हैं कि प्रणव के उच्चारण करने से, शालग्राम शिला के पूजन से तथा ब्राह्मणी के साथ समागम करने से शूद्र को चाण्डालत्व प्राप्त हो जाता है।।२६-२७।।

इति वचनान्तरेण निषेधाश्च इत्याहु:। परे तु प्रत्येकमेव निषिद्धम्;

अन्यथा विशिष्टस्य प्रणवनिषेधेनैव निषेधप्राप्तौ स्वाहानिषेधस्य वैयर्थ्यापत्तेः। अतएव 'प्रणवं वह्निजायाञ्च न शूद्रोऽप्युच्चरेत् क्वचि'दिति यथाश्रुतमेव साधु सङ्गच्छते ॥२८॥

इस वचन द्वारा भी प्रणव का निषेध कहा गया है। किसी-किसी का मत है कि प्रणव तथा स्वाहा दोनों शूद्रादि के लिये निषिद्ध हैं। यदि इसे स्वीकार न किया जायेगा तब प्रणव के निषेध द्वारा विशिष्ट का निषेध हो जायेगा और स्वाहा का निषेध व्यर्थ हो जायेगा। इसी कारण किसी स्थान पर यह वचन यथाश्रुत रूप से सुसंगत प्रतीत होता है कि शूद्र गण प्रणव तथा स्वाहा—दोनों का उच्चारण न करें।।२८।।

'स्वाहाप्रणवसंयुक्त'मित्यस्य तु स्वाहासंयुक्तं प्रणवसंयुक्तञ्चेत्यर्थः। 'प्रणवाद्या महेशानि! स्वाहान्तां मीनलोचने' इत्यादि वचनम् उपलक्षणपरतया प्रत्येकनिषेधार्थकम्। सहस्रनामपाठविरहापत्तारिष्टापत्तिरेव, मातृकापूजादौ तन्नामपूर्वकोच्चारणाभावेऽपि ब्राह्मणोच्चारणात् सिद्धिः। दशाक्षरगोपालमन्त्रोऽपि न शूद्रोपास्यः, 'तत्र सर्वेषु सेव्य एषः' इति वचनस्य माहात्म्यपरत्वात्। अङ्गन्यासादौ स्वाहापदस्थाने नमःपदमेव प्रयोज्यम्। एवं 'कवचं हि पठेद् देवि! वह्निजायासमन्वित'मिति प्रागुक्तवचने असमन्वितमेव पाठः। प्रचण्डचण्डिकाविषये च प्रणवाद्यमन्त्रस्य स्वाहान्तमन्त्रस्याप्युपलक्षकत्वादुभयमेव निषिद्धमित्याहुः ॥२९॥

इसका तात्पर्य है—स्वाहा-संयुक्त तथा प्रणव-संयुक्त। 'प्रणवाद्या महेशानि' इत्यादि वचनों द्वारा प्रत्येक के निषेध का प्रतिपादन होता है। अर्थात् शूद्र-हेतु निषेध। सहस्रनाम पाठ के लिये तो सीधे यह आपत्ति है कि सहस्रनाम का पाठ शूद्रादि न करें। मातृका पूजा काल में शूद्र स्वाहा का उच्चारण स्वयं न करें; अपितु स्वाहा का उच्चारण ब्राह्मण पुरोहित करे। इससे शूद्र की पूजा सिद्ध मानी जायेगी। दशाक्षर गोपालमन्त्र का शूद्र को अधिकार नहीं है। वही पर 'तत्र सर्वेषु वर्णेषु सेव्य एष' अर्थात् यह मन्त्र सभी वर्ण वालों के लिये सेव्य है—ऐसा कहा गया है। यह गोपाल मन्त्र के माहात्म्य को बतलाने वाला कथन है। शूद्र को अंगन्यासादि के समय स्वाहा के स्थान पर नमः कहना चाहिये। इसी प्रकार 'कवचं हि पठेद् देवि' इत्यादि में पूर्वोक्त वचनों से असमन्विता दृगोचर हो रही है। प्रचण्डचण्डिका मन्त्र के विषय में प्रणवाद्य मन्त्र तथा स्वाहा मन्त्र उसमें होने के कारण (शूद्रादि के लिये) निषिद्ध माना गया है (क्योंकि उसमें ॐ तथा स्वाहा, दोनों हैं, ऐसा किसी-किसी का मत है)।।२९।।

वस्तुतस्त्वयं कल्पः साधीयान्, धर्मतत्त्वास्यातिदुरूहत्वादिति। एवञ्च

स्वाहा प्रणवयोरन्यतरेणोभयेन वा विशिष्टस्य स्वीयस्य गुरूपास्य-स्याऽजपस्य च मन्त्रस्य शूद्रदेयत्वव्यवस्थितौ तत्तदन्यमन्त्रस्य शूद्राय दाने दूषणं नास्तीति साम्प्रदायिकाः ॥३०॥

न च—'न शूद्राय मतिं दद्यात् प्राणैः कण्ठगतैरपी'ति तन्निषेध इति वाच्यम्, तत्र मतिपदस्य तत्त्वज्ञानपरत्वात्। मन्त्रपरत्वे वा तत्तद्वचनैक-वाक्यतया निषिद्धतत्तन्मन्त्रपरत्वाच्च। एतेन स्त्रीदीक्षापि व्याख्याता ॥३१॥

वास्तव में कल्प सर्वोत्तम है, तभी धर्मतत्त्व अत्यन्त कठिन है। इसी कारण स्वाहा तथा प्रणव एक साथ किंवा अलग-अलग एक विशिष्ट मन्त्र हैं। गुरु को जिस मन्त्र का इष्ट है, वह मन्त्र तथा अजपा मन्त्र शूद्र को नहीं देना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसे मन्त्र के अलावा अन्य सभी मन्त्र शूद्र को देने में कोई दोष नहीं है। ऐसा सम्प्रदाय वालों का कथन है।

'प्राण कण्ठगत हो रहा है तब भी शूद्र को मति नहीं देनी चाहिये।' क्या इस वचन से अन्य मन्त्रों का भी (शूद्र को न दिये जाने का) निषेध किया गया है। यहाँ पर 'मति' शब्द तत्त्वज्ञान का बोधक है; मन्त्र का बोधक नहीं है। इसके द्वारा स्त्री-दीक्षा भी व्याख्यात की गई है।।३०-३१।।

अथ स्वदेवतामन्त्रान्तरब्राह्मणाय देयं न वेति चेत्, उच्यते। न हि स्वदेव-तामन्त्रान्तरदाने निषेधकं वचनमस्ति। किन्तु निजदेवताप्रधानबीज-घटितमन्त्रदाने तद्बीजघटितनिजमन्त्रस्य हीनवीर्यत्वं भवति, मन्त्रमयक-वचाध्यापने निजमन्त्रस्यापि पाठनं प्रसज्यते, स्तवादिनिजमन्त्रस्य सर्वस्यैव दानं प्रकाशश्च स्यादिति निजदेवतामन्त्रान्तरदानमर्थतो निषिद्धमेव। यदि तु निजमन्त्रघटकप्रधानबीजघटितेतरमन्त्रो मन्त्रघटितकवचश्च विद्यते, तदा निजदेवतामन्त्रान्तरदानेऽपि न क्षतिरिति तत्त्वम् ॥३२॥

क्या गुरु अपने देवता (इष्ट) का मन्त्र ब्राह्मण को दे सकता है? यदि इसका उत्तर यह है कि इसके निषेध का कोई भी शास्त्रवचन नहीं मिलता। किन्तु अपने इष्ट देवता का बीजमन्त्र किसी को प्रदान करने से अपना मन्त्र हीनवीर्य निर्बल हो जाता है। मन्त्रमय (मन्त्रघटित) कवच का दान करने से अपने मन्त्र का पाठन प्रसक्त हो जाता है; क्योंकि उस कवचस्तवादि समस्त निज मन्त्र का ही दान और प्रकटीकरण होगा। इसीलिये निज इष्ट देवता के मन्त्र का दूसरों को दान करना निषिद्ध है। यदि अपने इष्ट मन्त्र के घटक प्रधान बीज से अतिरिक्त मन्त्र अथवा इस अतिरिक्त मन्त्र से घटित कवच का ज्ञान हो, तब अपने इष्टदेवता के अन्य मन्त्र का दान करने में कोई दोष नहीं है। यही तत्त्व है।।३२।।

मन्त्रविद्यालक्षणम्

पिङ्गलातन्त्रे—

मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात्।
यतः करोति संसिद्धौ मन्त्र इत्युच्यते ततः ॥३३॥

मन्त्र विद्या लक्षण—अब 'मन्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति कहते हैं। पिङ्गलातन्त्र के अनुसार जो मुक्ति के लिये सर्वात्मक ज्ञान प्रदान करे और संसार के बन्धन से मुक्त कर देता है, उसे 'मन्त्र' कहते हैं।।३३।।

अन्यत्रापि—

गुप्तोपदेशतो मन्त्रो मननाद् गोपनादपि ॥३४॥ इति।

अन्यत्र कहा गया है कि गोपनीय होने के कारण तथा प्रदान करते समय इसे शिष्य के अतिरिक्त कोई नहीं सुनता; अतः मनन योग्य तथा गोपन होने के कारण इसे 'मन्त्र' कहते हैं।।३४।।

शारदायाम्—

मन्त्रविद्याविभागेन द्विविधा मन्त्रजातयः।
मन्त्राः पुंदेवता ज्ञेया विद्याः स्त्रीदेवताः स्मृता ॥३५॥

शारदातिलक ग्रन्थ के अनुसार मन्त्र तथा विद्या—यह हैं मन्त्र के दो भाग। जिसके देवता पुरुष हैं, वह मन्त्र है तथा जिसके देवता स्त्री हैं, उसे विद्या कहा गया है।।३५।।

वाशिष्ठेऽपि इदमन्यच्चाधिकम्। यथा—

पुंमन्त्रा हुंफडन्ताः स्युर्द्विठान्ताः स्युः स्त्रिया मताः।
नपुंसका नमोऽन्ताः सूरित्युक्ता मनवस्त्रिधा।
एतच्छून्या भवेद् विद्या महाशब्देन गीयते ॥३६॥

वशिष्ठ संहिता में और भी विस्तृत रूप से इसे कहा गया है। जैसे जिस मन्त्र के अन्त में हुं-फट् हैं, वे पुरुष मन्त्र हैं। जिस मन्त्र के अन्त में द्विठ (स्वाहा) लगा है, उन्हें स्त्रीमन्त्र कहा जाता है। जिस मन्त्र के अन्त में नमः लगा है, उसे नपुंसक मन्त्र कहते हैं। शून्य मन्त्र विद्या होते हैं। महा शब्द के द्वारा इसे सम्बोधित करते हैं अर्थात् 'महाविद्या' कहते हैं।।३६।।

एवं महामन्त्रोऽपि। यच्चोक्तं हुंफडन्ता नपुंसका इति। तच्च पञ्चमस्वर-मध्येऽवगन्तव्यः। अतएव दीक्षासङ्कल्पादौ मन्त्रत्वेन विद्यात्वेन च यथा-यथमुल्लेखः कार्य इति दीक्षातत्त्वे स्मार्त्ताः। अत्र च शारदोक्तविभागो ग्राह्यः। पितुर्मन्त्रमित्यादौ तु विद्यामन्त्रपदयोरैकार्थत्वम् ॥३७॥

यह ऐसे ही महामन्त्र है। महाविद्या = महामन्त्र। 'हुं फडन्तो नपुंसका' यह जो कहा गया है, वह हुं को पञ्चम स्वर मान कर कहा गया है। इसलिये दीक्षातत्त्व में स्मार्त्त रघुनन्दन ने दीक्षा के संकल्प में यह उल्लेख किया है कि मैं अमुक मन्त्र की दीक्षा दे रहा हूँ। जहाँ विद्या दीक्षा है, वहाँ संकल्प है कि मैं अमुक विद्या की दीक्षा दे रहा हूँ। इस कारण शारदातिलक में वर्णित मन्त्र तथा विद्या का जो विभाग है (पुरुषदेवता वाला मन्त्र तथा स्त्रीदेवता वाला विद्या) वही ग्रहण योग्य है। पितृमन्त्र इत्यादि में दोनों का एक ही अर्थ है।।३७।।

एवञ्च—

शक्तिबीजं रमाबीजं कामबीजं ततः प्रिये।
विद्या श्रुतिधरी प्रोक्ता एषा वर्णत्रयात्मिका ॥३८॥

इति।

मञ्जुघोषमन्त्रे 'एकाक्षरी महाविद्या कथिता पद्मयोनिने'ति गणेशमन्त्रे च यद् विद्यापदं श्रूयते, तत् सामान्यनिर्देशान्मन्त्रमात्रपरमेवेति तत्त्वम् ॥३९॥

शिव कहते हैं—हे प्रिये! तत्पश्चात् शक्तिबीज, रमाबीज तथा कामबीज—वर्णत्रयरूप इस विद्या को श्रुतिधरी कहा गया है।

मंजुघोष मन्त्र में 'एकाक्षरी महाविद्या जिसे ब्रह्मा ने कहा' इस गणेशमन्त्र में जिस विद्या पद को कहा गया है, वह सामान्य भाव से वर्णित होने पर भी मन्त्रमात्र के लिये तत्त्व है।।३८-३९।।

●

अथ दीक्षायां मासादिनियमः

तत्र मासः सौरमानेनैव राशिसमन्वितत्त्वात्; यथा वैशम्पायनसंहितायाम्—

मन्त्रस्यारम्भणं मेषे धनधान्यप्रदं भवेत्।
वृषे मृत्युप्रदञ्चेति मिथुनेऽपत्यनाशनम् ॥१॥

दीक्षा में मास का नियम—दीक्षा के लिये सौरमान से मासगणना की जाती है; क्योंकि उसका राशियों से सम्बन्ध है। वैशम्पायन संहिता में कहते हैं—मेष के सूर्य में मन्त्र की दीक्षा से धन-धान्य मिलता है। वृष के सूर्य में मन्त्रारम्भ से मृत्युकष्ट तथा मिथुन के सूर्य में मन्त्रारम्भ भी अपत्यनाशक होता है।।१।।

सर्वसिद्धिप्रदं तुर्ये सिंहे मेधाविनाशनम्।
लक्ष्मीप्रदञ्च कन्यायां तुलायां सर्वसिद्धिदम् ॥२॥
वृश्चिकं स्वर्णदञ्चैव कोदण्डे माननाशनम्।
मकरे पुण्यजनकं कुम्भे धनसमृद्धिदम्।
मीने दुःखप्रदं नित्यमेष मासविधिक्रमः ॥३॥

कर्क राशि में जब सूर्य हो तब मन्त्रारम्भ से सर्व-सिद्धि प्राप्त होती है। सिहस्थ सूर्य-काल में मन्त्रारम्भ से बुद्धिनाश, कन्या के सूर्य में लक्ष्मी-प्राप्ति, तुला के सूर्य में सर्वसिद्धि, वृश्चिकस्थ सूर्य में स्वर्ण-प्राप्ति तथा धनुस्थित सूर्यकाल में मन्त्रारम्भ से माननाश (अपमान) होता है। मकर-स्थित सूर्य में मन्त्रारम्भ पुण्यप्रद, कुम्भ-स्थित सूर्य में मन्त्रारम्भ से धन-समृद्धि, मीनस्थित सूर्य में मन्त्रारम्भ दुःखप्रद होता है। यह मासविधि क्रम कहा गया।।२-३।।

यत् तु—

मन्त्रारम्भस्तु चैत्रे स्यात् समस्तपुरुषार्थदः।
वैशाखे रत्नलाभः स्याद् ज्येष्ठ्ये तु मरणं ध्रुवम् ॥४॥
आषाढ़े बन्धुनाशः स्यात् पूर्णार्थः श्रावणे भवेत्।
प्रजानाशो भवेद् भाद्रे आश्विने रत्नसंचयः ॥५॥
कार्त्तिके मन्त्रसिद्धिः स्यान्मार्गशीर्षे तथा भवेत्।

पौषे तु शत्रुपीड़ा स्यान्माघे मेधाविवर्द्धनम्।
फाल्गुने सर्वकामाः स्युर्मलमासं विवर्जयेत् ॥६॥

अब मासविधिक्रम कहा जा रहा है—
चैत्र में मन्त्रारम्भ—समस्त पुरुषार्थ-प्राप्ति।
वैशाख में मन्त्रारम्भ—रत्नलाभ।
ज्येष्ठ में मन्त्रारम्भ—ध्रुव (निश्चित) मरण।
आषाढ में मन्त्रारम्भ—बन्धुनाश।
श्रावण में मन्त्रारम्भ—समस्त अर्थ (इच्छा) पूर्त्ति।
भाद्रपद में मन्त्रारम्भ—प्रजानाश।
आश्विन में मन्त्रारम्भ—रत्नसंचय।
कार्त्तिक में मन्त्रारम्भ—मंत्रसिद्धि।
मार्गशीर्ष में मन्त्रारम्भ—मन्त्रसिद्धि।
पौष में मन्त्रारम्भ—शत्रुपीड़ा।
माघ में मन्त्रारम्भ—मेधा (बुद्धि) वृद्धि।
फाल्गुन में मन्त्रारम्भ—समस्त कामना-सिद्धि।
मलमास में मन्त्रारम्भ नहीं करना चाहिये।।४-६।।

इति गौतमीये चैत्रादिपदम्, तदापि सौरचैत्राद्यभिप्रायकम्। पूर्वोक्तवचनैक-वाक्यत्वात् 'सौरे' मासि शुभा दीक्षा न चान्द्रे न च तारके' इति गौत-मीयाच्च। चैत्रप्रशंसा तु गोपालविषया, गौतमीयोक्तत्वात्। नान्यत्र 'मधुमासे भवेद् दीक्षा दुःखाय मरणाय वा' इति वचनात् ॥७॥

गौतमीय तन्त्र में यह जो चैत्रादि मासक्रम से मन्त्रारम्भ-विषयक तत्त्व कहा गया है, वह भी सौरमान से चैत्रादि अभिप्राय से कहा गया है। इसकी पूर्वोक्त वचन के साथ एकवाक्यता है। साथ ही सौरमास में दीक्षा शुभ होती है। चान्द्र मास अथवा नाक्षत्रिक मास में दीक्षा शुभ नहीं होती—यह है गौतमीय तन्त्र का वचन। केवल गोपाल मन्त्र के विषय में चैत्रमास की प्रशंसा की गयी है। जबकि गौतमीय तन्त्र में भी यही कहा गया है। साथ ही यह भी वचन है कि मधुमास में दीक्षा लेने से दुःख तथा मरण की प्राप्ति होती है।।७।।

तन्त्रान्तरे—

रविवारे भवेद् वित्तं सोमे शान्तिर्भवेत् किल।
आयुरङ्गारको हन्ति तत्र दीक्षां विवर्जयेत् ॥८॥

बुधे सौन्दर्यमाप्नोति ज्ञानं स्यात्तु बृहस्पतौ।
शुक्रे सौभाग्यमाप्नोति यशोहानिः शनैश्चरे ॥९॥

रविवार की दीक्षा से धनलाभ।
सोमवार की दीक्षा से शान्ति-प्राप्ति।
मंगलवार की दीक्षा से आयुनाश।
बुधवार की दीक्षा से सौन्दर्यलाभ।
बृहस्पतिवार की दीक्ष से ज्ञानलाभ।
शुक्रवार की दीक्षा से सौभाग्यप्राप्ति।
शनिवार की दीक्षा से यश की हानि होती है।।८-९।।

दीक्षायां शुभाशुभतिथिनिर्णयः

प्रतिपत्सु कृता दीक्षा ज्ञाननाशकरी मता।
द्वितीयायां भवेज्ज्ञानं तृतीयायां शुचिर्भवेत् ॥१०॥
चतुर्थ्यां धननाशः स्यात् पञ्चम्यां बुद्धिवर्द्धनम्।
षष्ठ्यां ज्ञानक्षयं सौख्यं लभते सप्तमीदिने ॥११॥
अष्टम्यां बुद्धिनाशः स्यान्नवम्यां वपुषः क्षयः।
दशम्यां राजसौभाग्यमेकादश्यां शुचिर्भवेत् ॥१२॥
द्वादश्यां सर्वसिद्धिः स्यात् त्रयोदश्यां दरिद्रता।
तिर्यग्योनिश्चतुर्दश्यां हानिर्मासावसानके ॥१३॥

दीक्षा में शुभाशुभ तिथि का वर्णन—अब दीक्षा के लिये तिथिक्रम से फल बताते हैं—

प्रतिपदा की दीक्षा—ज्ञाननाशक।
द्वितीया की दीक्षा—ज्ञानदायक।
तृतीया की दीक्षा—पवित्रता-प्रदायक।
चतुर्थी की दीक्षा—धननाशक।
पञ्चमी की दीक्षा—बुद्धिवर्द्धक।
षष्ठी की दीक्षा—ज्ञानक्षयकारक।
सप्तमी की दीक्षा—सुखदायक।
अष्टमी की दीक्षा—बुद्धिनाशक।
नवमी की दीक्षा—शरीर का क्षय (रोग)।
दशमी की दीक्षा—राजसौभाग्यप्रद।

एकादशी की दीक्षा—पवित्रताप्रदायक।
द्वादशी की दीक्षा—सर्वसिद्धिप्रदायक।
त्रयोदशी की दीक्षा—दरिद्रताकारक।
चतुर्दशी की दीक्षा—तिर्यग् योनी-पतनकारक।
अमावस्या तिथि की दीक्षा—हानि।।१०-१३।।

वस्तुतस्तु विष्णुविषय एव त्रयोदशी शस्ता।

वास्तव में विष्णुमन्त्र-दीक्षा के लिये त्रयोदशी ही उचित है।

द्वितीया पञ्चमी चैव षष्ठी चैवाविशेषतः।
द्वादश्यामपि कर्त्तव्यं त्रयोदश्यामथापि वा ॥१४॥

इति रामार्चनचन्द्रिकाधृतत्वात्।

दीक्षाहेतु द्वितीया, पञ्चमी, षष्ठी शुभा हैं। द्वादशी तथा त्रयोदशी को भी दीक्षा कर्त्तव्य किया जा सकता है। इस प्रकार रामार्चनचन्द्रिका में कहा गया है।।१४।।

पञ्चमी सप्तमी षष्ठी द्वितीया पूर्णिमा सिता।
त्रयोदशी च दशमी प्रशस्ता सर्वकामदा ॥१५॥

इति सनत्कुमारवचनाच्च। मासावसानममावस्या। पक्षान्तः पूर्णिमा।

सनत्कुमार का वचन है कि पञ्चमी, सप्तमी, षष्ठी, द्वितीया, पूर्णिमा, शुक्लपक्ष की त्रयोदशी तथा दशमी को दी गई दीक्षा प्रशस्त तथा सब कामनाओं को पूरा करती है। मास के अन्त को अमावस्या तथा पक्षान्त को पूर्णिमा कहा जाता है।।१५।।

चतुर्थी पञ्चमी चैव चतुर्दश्यष्टमी तथा।
तिथयः शुभदा प्रोक्ता इत्याहु भगवान् शिवः ॥१६॥

इत्यत्र चतुर्दश्यष्टम्यौ शक्तिविषये चतुर्थी गणेशविषये।

चतुर्थी, पञ्चमी, चतुर्दशी तथा अष्टमी शुभप्रद हैं—यह भगवान् शिव का वचन है। चतुर्थी एवं अष्टमी शक्ति-दीक्षा के विषय में शुभ हैं। चतुर्थी गणेश-दीक्षा के लिये शुभ है।।१६।।

पक्षान्ते धर्मवृद्धिः स्यादस्वाध्यायं विवर्जयेत्।
सन्ध्यागर्जितनिर्घोषभूकम्पोल्कानिपातने ।
एतानन्यांश्च दिवसान् श्रुत्युक्तान् परिवर्जयेत् ॥१७॥

त्रयोदश्यामिति कृष्णायामिति शेषः।

पक्षान्त (पूर्णिमा) की दीक्षा से धर्मवृद्धि होती है। अनध्याय के दिन दीक्षा नहीं लेनी चाहिये। जिस दिन सायंकाल बादल गरजे, भूकम्प अथवा उल्कापात हो, उस दिन दीक्षा न ले तथा श्रुति में जिस दिन अध्ययन करना वर्जित है, उस तिथि को भी दीक्षा नहीं लेनी चाहिये। यहाँ के त्रयोदशी से कृष्णपक्ष की त्रयोदशी का तात्पर्य है।।१७।।

पूर्णिमा पञ्चमी चैव द्वितीया दशमी तथा।
त्रयोदशी सप्तमी च प्रशस्ता सर्वकामदा ॥१८॥

इति तन्त्रान्तरवचनादिति दीक्षातत्त्वे स्मार्त्तः। शिवविषये सप्तमीदशम्यौ निषिद्धौ। यथा शिवागमे—

शुक्लपक्षस्य दशमी सप्तमी च विशेषतः।
निन्द्या सदैव षष्ठी स्यादिति शैवागमान्तरे ॥१९॥

दीक्षा के लिये पूर्णिमा, पञ्चमी, द्वितीया, दशमी, त्रयोदशी तथा सप्तमी सर्वकामदा कही गई हैं। यह तन्त्रान्तर का वचन है। ऐसा स्मार्त रघुनन्दन ने दीक्षातत्त्व में कहा है। शिवमन्त्र दीक्षा के लिये सप्तमी तथा दशमी निषिद्ध है। शिवागम में कहा गया है कि शुक्लपक्ष की दशमी, विशेषत: सप्तमी निन्दनीय है। षष्ठी सर्वदा निन्दनीय है। अन्य शैवागमों का भी यही मत है।।१८-१९।।

शुभाशुभनक्षत्रनिर्णयः

वीरतन्त्रे—

रोहिणी श्रवणार्द्रा च धनिष्ठा चोत्तरात्रयम्।
पुष्यः शतभिषार्कौ च दीक्षानक्षत्रमिष्यते ॥२०॥

(अर्को हस्तः)।

दीक्षा-हेतु शुभाशुभ नक्षत्रों का निर्णय—वीरतन्त्र में कहा गया है कि रोहिणी, श्रवण, आर्द्रा, धनिष्ठा, उत्तरभाद्रपद, उत्तराषाढा तथा उत्तरफाल्गुनी, पुष्य, शतभिषा तथा हस्त दीक्षानक्षत्र हैं। (इनमें दीक्षा देना उचित है)।।२०।।

तन्त्रान्तरे—

अश्विन्यां सुखमाप्नोति भरण्यां मरणं ध्रुवम्।
कृत्तिकायां भवेद् दुःखी रोहिण्यां वाक्पतिर्भवेत् ॥२१॥
मृगशीर्षे सुखाव्याप्तिरार्द्रायां बन्धुनाशनम्।
पुनर्वसौ धनाड्यः स्यात् पुष्ये शत्रुविनाशनम् ॥२२॥

अश्लेषायां भवेन्मृत्युर्मघायां दुःखमोचनम्।
सौन्दर्यं पूर्वफाल्गुन्यां प्राप्नोति च न संशयः ॥२३॥
ज्ञानं चोत्तरफल्गुन्यां हस्तायाञ्च धनं भवेत्।
चित्रायां ज्ञानसिद्धिः स्यात्स्वात्यां शत्रुविनाशनम् ॥२४॥
विशाखायां सुखञ्चानुराधायां बन्धुवर्द्धनम्।
ज्येष्ठायां सुतहानिः स्यान्मूलायां कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥२५॥
पूर्वाषाढ़ोत्तराषाढ़े भवेतां कीर्त्तिदायिके।
श्रवणायां भवेद् दुःखी धनिष्ठायां दरिद्रता ॥२६॥
वृद्धिं शतभिषायां स्यात् पूर्वभाद्रे सुखी भवेत्।
सौख्यं चोत्तरभाद्रे च रेवत्यां कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥२७॥

अन्य तन्त्र में कहा गया है कि अश्विनी नक्षत्र में दीक्षा से सुखप्राप्ति, भरणी में मरण, कृत्तिका में दुःख, रोहिणी में वाक्-सिद्धि, मृगशीर्ष में सुखलाभ, आर्द्रा में बन्धु-नाश, पुनर्वसु में धनप्राप्ति, पुष्य में शत्रुविनाश होता है। आश्लेषा नक्षत्र में दीक्षा लेने से मृत्यु, मघा में दुःखनिवृत्ति, पूर्वफाल्गुनी में सौन्दर्यवृद्धि, उत्तरफाल्गुनी में ज्ञान, हस्त में धन-प्राप्ति होती है। इसी प्रकार चित्रा नक्षत्र में दीक्षा लेने से ज्ञानसिद्धि, स्वाती में शत्रुनाश, विशाखा में सुख, अनुराधा में बन्धुगण की वृद्धि, ज्येष्ठा में पुत्रहानि, मूल में कीर्त्ति में वृद्धि होती है। पूर्वाषाढ़ा तथा उत्तराषाढ़ा में दीक्षा लेने से कीर्त्ति मिलती है। श्रवण में दुःख, धनिष्ठा में दरिद्रता, शतभिषा में वृद्धि तथा पूर्वभाद्रपद में दीक्षा लेने से जीवन सुखमय हो जाता है। तदनुसार उत्तरभाद्रपद की दीक्षा सुखप्रद तथा रेवती में प्राप्त दीक्षा कीर्त्ति बढ़ाने वाली होती है।।२१-२७।।

तन्त्रे—

आर्द्रायां कृत्तिकायाञ्च मन्त्रारम्भः प्रशस्यते।
यदीशस्य कृशानोर्वा मन्त्रारम्भो यथा भवेत् ॥२८॥

अन्य तन्त्र में कहा गया है कि यदि ईश अथवा कृशानु (अग्नि) का आरम्भ (इनके मन्त्र का आरम्भ) आर्द्रा तथा कृत्तिका नक्षत्र में किया जाय तो उत्तम होगा; परन्तु यह अन्य देवताओं के लिये प्रशस्त नहीं है।।२८।।

शुभाशुभयोगकरणनिर्णयः

रत्नावल्याम्—

योगाश्च प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्यः शोभनो धृतिः।
वृद्धिर्ध्रुवः सुकर्मा च साध्यः शुक्रश्च हर्षणः।
वरीयांश्च शिवः सिद्धो ब्रह्म इन्द्रश्च षोडश ॥२९॥

अब दीक्षा के शुभाशुभ योग तथा करण का निर्णय करते हैं। रत्नावली में कहते हैं कि प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन, धृति, वृद्धि, ध्रुव, सुकर्मा, साध्य, शुक्र, हर्षण, वरीयान्, शिव, सिद्ध, ब्रह्म तथा इन्द्र—ये षोडश (१६) योग प्रशस्त हैं।।२९।।

तथा—

शुभानि करणानि स्युर्दीक्षायाञ्च विशेषतः।
शकुन्यादीनि विष्टिञ्च त्रिशेषेण विवर्जयेत्॥३०॥

शकुन्यादीनि = शकुनिप, नाग, चतुष्पद, किंतुघ्नानि। और भी कहा गया है कि दीक्षा में करण शुभ होना चाहिये। शकुनी प्रभृति तीन का तथा विष्टि का विशेष रूप से वर्जन करे अर्थात् शकुनी, नाग, चतुष्पद, किंस्तुघ्न एवं विष्टि करण में दीक्षा नहीं देनी चाहिये।।३०।।

तन्त्रे—

वृषे सिंहे च कन्यायां धनुर्मीनाख्यलग्नके।
चन्द्रतारानुकूलौ च कुर्याद् दीक्षाप्रवर्त्तनम्॥३१॥
स्थिरलग्नं विष्णुमन्त्रे शिवमन्त्रे चरं शुभम्।
द्विस्वभावगतं लग्नं शक्तिमन्त्रे प्रशस्यते।
शुक्लपक्षे शुभा दीक्षा कृष्णेऽप्यापञ्चमाद् दिनात्॥३२॥

तन्त्र में कहा गया है कि वृष, सिंह, कन्या, धनु तथा मीन नामक लग्न में चन्द्र तथा तारा की शुद्धि के समय दीक्षा-कृत्य करे। विष्णु-मन्त्र की दीक्षा के लिये स्थिर लग्न—वृष, सिंह, वृश्चिक तथा कुम्भ शुभ हैं। चर लग्न—मेष, कर्क, तुला तथा मकर शिवमन्त्र दीक्षा के लिये शुभ हैं। द्विस्वभाव वाले मिथुन, कन्या, धनु तथा मीन शक्तिमन्त्र की दीक्षा के लिये शुभ हैं। शुक्ल पक्ष की दीक्षा शुभ तथा कृष्ण पक्ष की पञ्चमी तक शुभ हैं।।३१-३२।।

तथा—

पञ्चाङ्गशुद्धदिवसे सोदये शशितारयोः।
गुरुशुक्रोदये शुद्धलग्ने द्वादशशोधिते॥३३॥

पञ्चाङ्गशुद्धदिवसे—तिथि, वार, नक्षत्र, करण, योग के शुद्ध दिन में। अन्य तन्त्र में कहते हैं कि जब तारक तथा चन्द्र उदित हों, शुद्ध हो तथा तिथि, वार, नक्षत्र, करण तथा योग शुद्ध हो, उस समय दीक्षा-कृत्य सफल होता है।।३३।।

कापिले—

एवं नक्षत्रतिथ्यादौ करणे योगवासवे ।
मन्त्रोपदेशो गुरुणां साधकस्य शुभावहः ॥३४॥

जैसाकि कापिल तन्त्र में कहा गया है कि शुभ नक्षत्र-तिथि में, शुद्ध करण, योग तथा वार में गुरु द्वारा किया गया मन्त्रोपदेश शिष्य के लिये शुभकारी होता है।।३४।।

तस्मिन्नेव दिने शशितारयोश्चन्द्रतारानुकूल्यसहिते। गुरुशुक्रोदये गुरुशुक्रानस्तसमये। एतच्च समयशुद्ध्यान्तरोपलक्षणम्। द्वादशशोधित—द्वादशांश-शोधित। मलमासतत्त्वेऽप्येवम् ॥३५॥

दीक्षा काल में चन्द्र तथा तारक की शुद्धि के साथ गुरु तथा शुक्र को उदित होना चाहिये। वे अस्तंगत न हों। द्वादश शोधित—द्वादशांश शोधित दिन भी होना चाहिये। स्मार्त विद्वानों ने मलमासतत्त्व में ऐसा कहा है।।३५।।

अथ समयाशुद्धिनिर्णयः

अगस्त्यसंहितायां—

> **यदा ददाति सन्तुष्टः प्रसन्नवदनो मनूम्।**
> **अयमेव तथा चैवमिति कर्त्तव्यताक्रमः।**
> **विशुद्धदेशकालेषु शुद्धात्मा नियतो गुरुः ॥१॥**

दीक्षा में समयशुद्धि वर्णन—अगस्त्यसंहिता में कहते हैं कि जब शुद्धात्मा, नियमपरायण, प्रसन्न वदन गुरु सन्तुष्ट होकर विशुद्ध देश तथा काल में मन्त्र दीक्षा देते हैं तब वह मन्त्र हर प्रकार से शुभ हो जाता है; क्योंकि दीक्षा कृत्य यथायथ क्रम से सम्पन्न हुआ है।।१।।

गुरुरित्यस्य ददातीत्यनेनान्वयः। अत्र कालस्य विशुद्धत्वं तथा रिक्तादि-दोषरहितत्वं शोभनचन्द्रादिमत्वञ्च, तथा मलिम्लुचादिदोषरहितत्वमपि। तथा च रत्नाकरादिधृतन्यायरत्नवाक्यम्—समयस्य शुद्धत्वञ्च मलिम्लु-चगुरुशुक्रबाल्यवार्द्धकास्तमयसिंहमकरान्यतरगुरुस्थितिपूर्वराश्यनाग-तातिचारी गुरुकसंवत्सरपूर्वराशिसंगमिष्यमाणातिचारी गुरुकपक्षत्रयवक्री गुरुकाष्ठाविंशतिवासरकम्पाद्यद्भुतोत्तरसप्ताहसिंहादित्यगुर्वादित्यपौषादि-मासचतुष्टयान्यतमेकद्विद्वितदधिकान्यतमदिनवृष्टिकालिकवृष्ट्युत्तरैकत्रि-सप्ताहान्यतमदिनानि निषिद्धसमयान्यसमयत्वमिति ॥२॥

'गुरु' पद से 'ददाति' पद का सम्बन्ध होता है (यही दीक्षा है)। यहाँ दीक्षा में जिस प्रकार से काल का विशुद्धत्व है, जैसे रिक्तादि तिथि दोषरहित होना तथा शोभन चन्द्र-दिमत्व (चन्द्रतारक शुद्धि) हैं, उसी प्रकार मलमासादि दोषरहित समय पर दीक्षा देना ही कालविशुद्धत्व कहा जाता है। रत्नाकरादि ग्रन्थ से लिये गये वाक्यों में समय के शुद्धत्व को कहा गया है। मलमास समय, गुरु तथा शुक्र की बाल्यावस्था, वार्द्धक्य तथा अस्त होना, सिंह तथा मकर में गुरु की स्थिति का समय, पूर्वराशि में अनागत अतिचारी बृहस्पति का संवत्सर समय, पूर्वराशि से जाने को उद्यत गुरु ग्रह के पक्षत्रय का समय, वक्री गुरु के २८ दिनों का समय, भूकम्पादि अद्भुत के उत्तर सप्ताह का समय, सिंहस्थ सूर्य का समय, गुरु तथा रवि के एक राशि में होने का समय, पौषादि मासचतुष्टय में अन्यतम कोई मास, एक, दो, तीन या उससे अधिक

दिन में अन्यतम कोई एक दिन, वृष्टिकालिक वृष्टि के उत्तर में एक दिन, तीन दिन तथा सप्ताह में से अन्यतम दिनादि समय से भिन्न समयत्व अर्थात् निषिद्ध समय से अलग जो समय है, वही शुद्ध काल है; जो दीक्षाहेतु प्रशस्त है।।२।।

माङ्गलिकेषु वर्जनीयः कालः

ज्योतिषे—

गुरोर्भृगोरस्तबाल्ये वार्द्धके सिंहके गुरौ।
गुर्वादित्ये दशाहे तु वक्री जीवेऽष्टविंशके ।।३।।

मांगलिक कार्यों में निषिद्ध काल—ज्योतिष के अनुसार गुरु तथा शुक्र के अस्त, वार्द्धक्य तथा बाल्य काल में, सिंह राशीस्थ गुरु के काल में, जब गुरु तथा सूर्य एक राशि में हो दश दिन, बृहस्पति के वक्री काल में अट्ठाईस दिन माङ्गलिक कार्य का परित्याग करना चाहिये।।३।।

दिने प्राग्राश्यनायत्ताऽतिचारी गुरुवत्सरे।
प्राग्राशिगन्तृजीवस्य चातिचारे त्रिपक्षके ।।४।।
कम्पाद्यद्भुतसप्ताहे नीचस्थज्ये मलिम्लुचे।
भानुलङ्घितके मासि क्षये राहुयुते गुरौ ।।५।।
पौषादिकचतुर्मासे चरणाङ्कितवर्षणे।
एकेनाऽह्ना चैकदिनं द्वितीयेन दिनत्रयम्।
तृतीयेन तु सप्ताहान्मङ्गलानि जिजीविषु ।।६।।

पूर्वराशि से अनागत अतिचारी बृहस्पति की स्थिति में एक वर्ष, पूर्वराशि से प्रत्यागमनकारी अतिचारी बृहस्पति के अतिचार दिन से लेकर ४५ दिनों तक, भूकम्प उल्कापात, दिक्दाह, वज्रपात, धूमकेतु उदय प्रभृति में सात दिनों तक, जब तक बृहस्पति नीच का मकर राशि हो तब तक, मलमास में, भानुलङ्घित मास में, क्षयमास में, जब बृहस्पति राहुयुक्त हो, पौष आदि चार मास में, चरणाकिंत वर्षण में एक दिन, दो दिन चरणाकिंत वर्षण में प्रथम दिन से लेकर तीन दिन तक और तीन दिन वर्षण में प्रथम दिन से लेकर सात दिन तक व्यक्ति को माङ्गलिक कार्य नहीं करना चाहिये।।४-६।।

विद्यारम्भकर्णविधौ चूड़ोपनयनोद्वहान्।
तीर्थस्नानमनावृत्तं तथाऽनादिसुरेक्षणम्।
परीक्षाऽऽरामयज्ञांश्च पुरश्चरणदीक्षणे ।।७।।
व्रतारम्भप्रतिष्ठे च गृहारम्भप्रवेशने।
प्रतिष्ठारम्भणे देवकूपादेः परिवर्जयेत् ।।८।।

माङ्गलिक कार्य = विद्यारम्भ, कान छेदना, चूड़ाकरण, उपनयन, विवाह, तीर्थस्नान, अनादि देवता-दर्शन, धर्माधर्म-परीक्षण, उपवन लगाना, यज्ञ, पुरश्चरण, दीक्षा, व्रतारम्भ तथा उसकी प्रतिष्ठा, गृहनिर्माण का प्रारम्भ, गृहप्रवेश, देवता की प्रतिमा-निर्माण का प्रारम्भ, मूर्त्ति प्रतिष्ठा-स्थापन, कूआँ खोदना, प्रारम्भ करना तथा प्रतिष्ठा परिवर्जन।।७-८।।

गुरोर्भृगोरिति। अस्तबाल्यवार्द्धक्यकालं व्याप्य इत्यर्थः। अस्तमत्र पादास्तं महास्तञ्च। अत्यन्ताशक्तौ राजमार्तण्डः—

बाले वृद्धे च सन्ध्यांशे चतुःपञ्चत्रिवासरान्।
जीवे च भार्गवे चैव विवाहादिषु वर्जयेत्॥९॥

पूर्व श्लोक में 'गुरोर्भृगोः' का तात्पर्य है—बृहस्पति तथा शुक्र की अस्त स्थिति, बाल्य तथा वार्द्धक्य काल के मध्य की स्थिति। यहाँ अस्त का तात्पर्य है—पादान्त तथा महान्त। अत्यन्त अशक्त व्यक्ति के लिये राजमार्त्तण्ड ग्रन्थ में कहा गया है कि बृहस्पति-शुक्र के बाल्य समय काल में प्रथम चार दिन, इनके वृद्ध काल में प्रथम पाँच दिन तथा इनके सन्ध्यांश काल में प्रथम तीन दिन माङ्गलिक कार्य का परित्याग करना चाहिये।।९।।

दिनग्रहणं वार्द्धकेऽस्ताव्यवहितोत्तरपूर्वं बाल्य बाल्याव्यवहितोत्तरम्। सिंहगे—सिंहराशिस्थे। शान्तानन्दः—

माघ्यां यदि मघा नास्ति सिंहं गुरुरकारणम्॥१०॥

वार्द्धक्य अस्त के अव्यवहित उत्तर के पूर्व दिन तथा बाल्य के अव्यवहित उत्तर दिन के लिये 'दिन' शब्द का प्रयोग किया गया है। सिंहगे का अर्थ है—सिंह राशि में स्थित। शान्तानन्द कहते हैं—माघी पूर्णिमा को यदि मघा नहीं है तब सिंहस्थ गुरु समयाशुद्धि का कारण नहीं है अर्थात् सिंहस्थ गुरु का समय अशुद्ध नहीं है।।१०।।

ज्योतिषे—

गण्डकौ उत्तरे तीरे गिरिराजस्य दक्षिणे।
सिंहस्थं मकरस्थं च गुरुं यत्नेन वर्जयेत्॥११॥

गुर्वादित्य = गुरुसहितरवौ। दशाह इति। नक्षत्रभेदनैकराशिस्थितौ, नक्षत्रैक्ये तु सर्वमेव निषेधः।

एकराशिगतौ स्यातामेकर्क्षविषये यदि।
गुर्वादित्यौ तदा त्याज्या यज्ञोद्वाहादिकाः क्रिया॥१२॥

इति वचनात्।

ज्योतिष में कहा है कि गण्डकी के उत्तर तट पर, गिरिराज हिमालय के दक्षिण में सिंह राशिस्थित तथा मकर राशिस्थित गुरुकाल में दीक्षादि कृत्य का वर्जन करे। गुर्वादित्य—बृहस्पति तथा सूर्य का एक राशि में होना। दशाहे = नक्षत्रभेद में एक राशि में स्थिति के कारण १० दिन निषेध। जैसा कहा भी गया है—यदि बृहस्पति तथा सूर्य एक राशि में स्थित हो तब यज्ञ तथा विवाहादि क्रिया न करे।।११-१२।।

ऋक्षैकमन्दिरगतौ यदि जीवभानू
शुक्रोऽस्तगः सुरवरैकगुरुश्च सिंहे।
नारभ्यते व्रतविवाहगृहप्रतिष्ठा-
क्षौरादि कर्म गमनागमनन्तु धीरैः ॥१३॥

इति काश्यपवचनाच्च।

यदि बृहस्पति तथा सूर्य एक ही नक्षत्र के घर में स्थित है, यदि शुक्र अस्त है, यदि बृहस्पति सिंह राशि में है, ऐसी स्थिति में धीर व्यक्ति व्रत, विवाह, गृहप्रतिष्ठा, क्षौरादि कर्म, दूर आना-जाना नहीं करते—इस प्रकार से काश्यप ने भी कहा है।।१३।।

ऋक्षैकमन्दिरगताविति विशिष्टम्, न पृथक्, पूर्ववचनैकवाक्यत्वात्। वाराहीतन्त्रे—

शुक्रोऽस्तो यदि वा वृद्धो गुर्वादित्यो भवेद्यदि।
मेषवृश्चिकसिंहेषु तदा दोषो न विद्यते ॥१४॥

रवि के साथ बृहस्पति की गति के सम्बन्ध में कहा गया। वहाँ दोनों की युति के सम्बन्ध में कहा गया। दोनों अलग-अलग हों तब उसके सम्बन्ध में नहीं कहा गया। वाराहीतन्त्र का मत है कि यदि सिंह, मेष तथा वृश्चिक राशि में अस्तगत अथवा वृद्ध रूप से शुक्र स्थित हों, तब गुरु आदित्य युति का दोष मान्य नहीं होता।।१४।।

वक्री अर्थात् जीवेति। तथा च गर्गः—

गुरोर्वक्रादिचरिते वर्जयेत् तदनन्तरम्।
व्रतयज्ञविवाहादावष्टाविंशतिवासरान् ॥१५॥

वक्री अर्थात् बृहस्पति। गर्ग ऋषि कहते हैं कि गुरु के वक्री तथा अतिचारी होने पर व्रत, यज्ञ, विवाहादि का २८ दिन निषेध है।।१५।।

वात्स्यायनः—

अतिचारे त्रिपक्षः स्याद् वक्रे पक्षचतुष्टयम्।

अत्र माण्डव्यः—

यदा वक्रातिचाराभ्यां राशिं गच्छति वाक्पतिः।
दिनानि सप्तविंशानि त्यक्त्वा कर्म समाचरेत् ॥१६॥

वात्स्यायन के अनुसार अतिचार स्थिति में ४५ दिन तथा वक्र स्थिति में ६० दिन शुभकार्य के लिये वर्जित हैं। इस सम्बन्ध में माण्डव्य ऋषि कहते हैं कि जब बृहस्पति वक्र अथवा अतिचार गति द्वारा चले तब २७ दिन-पर्यन्त शुभ कार्य का परित्याग करना चाहिये।।१५-१६।।

राशिम् राश्यन्तरम्, अन्यथा वैयर्थ्यात्, सर्वत्राधिककल्पाचरणं श्रेयः। बृहद्राजमार्तण्डे—

वक्रातिचारोपगताः कुजाद्या यद्यन्यराशौ परिवर्जनीयाः।
यथास्थितो वा स्वगृहस्थितो वा न वर्जनीया यवना वदन्ति ॥१७॥
अतिचारं गते जीवे वृषे वृश्चिककुम्भयोः।
यज्ञोद्वाहादिकं कुर्यात् तत्र कालो न लुप्यते ॥१८॥

यहाँ राशि का अर्थ है—अन्य राशि। अन्यथा यहाँ राशि शब्द बेकार होगा। सभी जगह अधिक कल्प का आचरण ही श्रेयस्कर है। बृहत् राजमार्त्तण्ड ग्रन्थ में कहा गया है कि मंगलादि ग्रह यदि अन्य राशि में वक्र अथवा अतिचारी होकर आते हैं तब मांगलिक कार्य नहीं करना ही उचित है। लेकिन इनका यथास्थल पर अथवा अपने गृह में अवस्थित स्थिति में मांगलिक कार्य का वर्जन नहीं होता। यह यवन का मत है। बृहस्पति जब वृष में, वृश्चिक अथवा कुम्भ राशि में अतिचारी होकर जाता है तब माङ्गलिक कार्य किया जा सकता है।।१७-१८।।

यत्तु—

कन्यावृश्चिकमेषेषु मन्मथे च झषे वृषे।
अतिचारे च कर्त्तव्यं विवाहादि बुधैः सदा ॥१९॥

इति। तदमूलमिति द्वैतनिर्णये मिश्राः—

अतिचारं गतो जीवस्तत्रैव कुरुते स्थितिम्।
तदा महातिचारः स्याल्लुप्तसंवत्सरक्रियः ॥२०॥

जैसे कि कोई कहते हैं कि कन्या, वृश्चिक, मेष, मिथुन, मीन तथा वृष में अतिचार होने पर भी विवाहादि क्रिया पण्डितगण सम्पन्न करते हैं। यह कथन प्रमाणहीन है। द्वैतनिर्णय ग्रन्थ में वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि जब बृहस्पति अतिचारी होते हैं तब महातिचार होता है। इससे १ वर्ष तक समस्त शुभ क्रिया नहीं किया जाता।।१९-२०।।

तन्त्रान्तरे—

अस्तंगते दैत्यगुरौ शिशौ वा वृद्धेऽथ बाले च गुरौ तथैव।
भवेन्न दीक्षाग्रहणं शुभाय जीवातिचारे मलमाससंज्ञे ॥२१॥

अन्य तन्त्र में कहते हैं कि शुक्र के अस्त होने से अथवा बाल होने से अथवा वृद्ध एवं शिशु होने पर तथा इसी प्रकार की स्थिति गुरु की होने पर अथवा मलमास में दीक्षा लेने पर शुभ नहीं होता।।२१।।

जीवे हरौ देवगुरौ ससूर्ये केतूद्गमे भूचलनादि दोषे।
अकालवृष्टौ जलदस्य गर्भे दीक्षा भवेन्नैव च साधकानाम् ॥२२॥

बृहस्पति का सिंह में गमन होने पर, बृहस्पति की सूर्य से युति होने पर, धूमकेतु के उदय पर, भूकम्प आदि होने पर, असमय वर्षा होने पर, बादलों का विकट गर्जन होने पर साधक की दीक्षा नहीं हो सकती।।२२।।

वाराहीतन्त्रे—

शुक्रोऽस्तो यदि वा वृद्धो गुर्वादित्यो भवेद् यदि।
मेषवृश्चिकसिंहेषु तदा दोषो न विद्यते ॥२३॥

सिंहस्थगुर्वादीनां प्रतिप्रसववचनान्तराणि ग्रन्थगौरवभिया न लिखितानि स्मृति ज्योतिर्ज्ञज्ञातव्यानि। कम्पाद्यद्भुतसप्ताहे तदुत्तरसप्ताहे इत्यर्थः ॥२४॥

वाराहीतन्त्र में कहते हैं कि यदि शुक्र मेष, वृश्चिक तथा सिंह राशि में वृद्ध अथवा अस्त होते हैं और यदि गुरु तथा सूर्य एक राशि में स्थित हैं तब निषेध दोष नहीं होता। सिंहस्थ गुरु प्रभृति की निषिद्ध स्थिति के वचनान्तरों का वर्णन लिखते रहने से ग्रन्थभार बढ़ जाने के भय से अब नहीं लिखा जा रहा है। 'कम्पाद्यद्भुत' आदि का तात्पर्य है कि जिस दिन भूकम्पादि हो उस दिन से एक सप्ताह-पर्यन्त मांगलिक कार्य का निषेध रहता है।।२३-२४।।

विशेषमाह भृगुः—

कम्पे राजनि सप्ताहो ब्राह्मणानां त्र्यहस्तथा।
शूद्रस्यार्धदिनं प्रोक्तं सर्वकार्येषु वै भृगुः ॥२५॥

आहेति शेषः। शूद्रस्येत्यापद्विषयम्। कम्प इत्युपलक्षणम्। गर्गः—

दिग्दाहे दिनमेकञ्च ग्रहे सप्तदिनानि च।
भूकम्पे तु समुद्भूते त्र्यहानि परिवर्जयेत् ॥२६॥

इस सम्बन्ध में विशेषतः भृगु ऋषि कहते हैं कि भूकम्प से सात दिन तक राजा

के लिये शुभ कार्य का निषेध है। ब्राह्मण हेतु तीन दिन का तथा शूद्र के लिये आधा दिन का निषेध है।

इस श्लोक में भृगु ने शूद्र हेतु आधा दिन कहा है। यह आपद् विशेष के लिये है। जब ऐसी आपत्ति आये तब शूद्र आधा दिन तक शुभ कर्म नहीं कर सकता। गर्ग कहते हैं कि दिग्दाह में एक दिन, ग्रहण में सात दिन एवं भूकम्प में तीन दिन शुभ कार्य न करे।।२५-२६।।

उल्कापाते च त्रितयं धूमे पञ्च दिनानि च।
दिनमेकं वज्रपाते वर्जयेत् सर्वकर्मसु ॥२७॥

उल्कापात में तीन दिन, धूमकेतु उदय में पाँच दिन, बिजली गिरने पर एक दिन तक शुभ कार्य वर्जित है।।२७।।

भोजराजः—

ग्रहे रवीन्दोरवनिप्रकम्पे केतूदयोल्कापतनादि दोषे।
व्रते दशाहानि वदन्ति तज्ज्ञा त्रयोदशाहानि वदन्ति केचित् ॥२८॥

भोजराज का कथन है कि चन्द्र-सूर्यग्रहण में, भूकम्प में, धूमकेतु के उदय में, उल्कापातादि दोष में उपनयनादि कार्य दस दिन बाद करे। किसी का कथन है कि दस दिन तक शुभ कार्य न करे।।२८।।

ग्रहे ग्रहणकाले। भूकम्पोल्कानिपातकरकापातवज्रपातादिसमाहारे त्रयोदशाहम्, किञ्चिदूनन्तत् समाहारे दशाहम्, ग्रहणाद्यैकैकोदये त्र्यहमिति वाचस्पतिमिश्राः ॥२९॥

ग्रहे = ग्रहणकाल। भूकम्प इत्यादि में १३ दिन, कुछ कम प्राकृतिक उत्पातों में १० दिन, ग्रहणादि में ग्रहणकाल से ३ दिन तक शुभ कार्य वर्जनीय है।।२९।।

अन्यत्रापि—

उल्कापाते भुवः कम्पे अकालवर्षगर्जिते।
वज्रकेतूद्गमोत्पाते ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
प्रयाणन्तु त्यजेत् क्षत्रः सप्तरात्रमतः परम् ॥३०॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः त्यजेत्कर्म त्रिरात्रकम्।
शूद्रस्योक्तं चैकरात्रं सर्वकर्म समाचरेत् ॥३१॥

अन्यत्र भी कहा गया है कि उल्कापात में, भूकम्प में, असमय वर्षा में, मेघ-गर्जन में, वज्रपात में, धूमकेतु उदय में, चन्द्र-सूर्यग्रहण में सात रात्रि तक दीक्षादि शुभ कार्य का परित्याग करना होगा।।३०-३१।।

भोजराजः—

एकरात्रं परित्यज्य कुर्यात् पाणिग्रहं ग्रहे।
प्रयाणे सप्तरात्रन्तु त्रिरात्रं व्रतबन्धने ॥३२॥

भोजराज कहते हैं कि ग्रहण के एक रात्रि के अनन्तर विवाह हो सकता है। ग्रहण के पश्चात् सात दिन यात्रा न करे और व्रतबन्धन कृत्य, उपनयन कृत्य का परित्याग करे।।३२।।

व्रतमुपनयनम्। उपदेशोऽपि तथा। नीचस्थेज्य इति। मकरस्थगुर्वारित्यर्थः। यत् तु—

मकरस्थो यदा जीवो वर्जयेत् पञ्चमांशिकम्।

इत्यादि, तद् विवाहमात्रपरम्। क्षये—क्षयाख्यमासे ॥३३॥

व्रत अर्थात् उपनयन। दीक्षोपदेश भी व्रत है। नीचस्थेज्ये अर्थात् मकर राशिस्थ गुरु। जब गुरु मकर राशिगत हों तब पंचमांश का वर्जन करे इत्यादि जो वचन है, वह विवाह-मात्र के लिये कहा गया है। अर्थात् तब विवाह न करे। क्षये—अर्थात् क्षय नामक महीना ।।३३।।

राहुयुत इति। तथा च स्मृतिसागरसारे ज्योतिषे—

एकराशिस्थितौ स्यातां यदि राहु बृहस्पति।
विवाहव्रतयज्ञादिसर्वं तत्र परित्यजेत् ॥३४॥

राहुयुत वाक्य द्वारा जो कहा गया है, उसे स्मृतिसागरसार ज्योतिषग्रन्थ में कहा गया है कि यदि राहु तथा बृहस्पति एक ही राशि में हैं तब उस समय विवाह, उपनयन, यज्ञादि सभी कर्म वर्जित होते हैं।।३४।।

एकदिन इति। वृष्ट्युत्तरैकदिने इत्यर्थः। एवं परत्रापि। वृष्टिदिनोत्तरत्वविवक्षायां वृष्टिदिने वृष्ट्युत्तरमपि क्रियाकरणप्रसङ्गः। अतएव प्रागुक्तन्यायरत्नवाक्ये वृष्ट्युत्तरत्वमेव निविष्टम् ॥३५॥

'एक दिन' इसका अर्थ है कि वृष्टि होने के पश्चात् एक दिन। वृष्टि होने के दिन के उत्तर (बाद में) विवक्षा होने से वृष्टि के दिन से ही वृष्टि के उत्तर (अगले दिन) को मानने का प्रसंग होता। इसलिये पहले कहे गये न्यायरत्न के वाक्य में वृष्टि उत्तरत्व निविष्ट है।।३५।।

यत् तु द्वितीयदिनानि वृष्ट्यौ प्रथमवृष्टिदिनमादाय दिनत्रयादिदोषकथनम्,

तदपि तुच्छम्, द्वितीयदिनस्य रात्रौ वर्षणे दिवाकृतोपनयनस्याकालकृतत्वात् पुनःकरणापत्तेः ॥३६॥

यदि द्वितीय दिन भी वृष्टि हो जाय, तब प्रथम दिन की हुई वृष्टि को लेकर तीन दिन का निषेध कहना तुच्छ बात है; क्योंकि द्वितीय दिन की रात्रि को हुये वर्षण के उपरान्त अगले दिन किये गये उपनयनादि को अकाल में हुआ माना जायेगा और पुन: करने की आपत्ति होगी।।३६।।

तदयं निष्कर्षः—एकस्मिन् दिने वृष्ट्या वृष्ट्युत्तरं तद्दिनमात्रं, द्वितीयदिनवृष्ट्या वृष्ट्युत्तरं द्वितीयदिनमारभ्य दिनत्रयं, तृतीयदिनवृष्ट्या वृष्ट्युत्तरं तृतीय-दिनमारभ्य दिनसप्तकम्, चतुर्थदिनादौ तु वृष्ट्युत्तरं तत्तद्दिनमारभ्य दिन-सप्तकम् शुभम्। तृतीयदिनादौ विध्यानुवादवैषम्यं नाशङ्कनीयम्। एक-धर्मप्रकारेण पुनरभिधानस्यैवाऽनुवादत्वात् ॥३७॥

अतएव अकालवर्षण के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष है कि एक दिन वृष्टि होने पर केवल वह दिन, द्वितीय दिन वृष्टि होने पर वृष्टि के पश्चात् उस द्वितीय दिन से आरम्भ करके तीन दिन, तीसरे दिन वृष्टि होने पर उस तीन दिन से आरम्भ करके सात दिन और चौथे दिन भी वृष्टि होने पर उस चतुर्थ दिन से आरम्भ करके सात दिन अशुद्ध माने गये हैं। तृतीय दिनादि के सम्बन्ध में विविध पुन:कथन (अनुवाद) की विषमता की आशंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि एक ही बात का पुन:कथन ही अनुवाद हो जाता है।।३७।।

अत्र—

चतुर्मासे निवृत्ते तु चक्रपाणौ समुत्थिते।
अकालवृष्टिं जानीयाद् यावद् वह्निमहोत्सवः ॥३८॥

इति योगीश्वरवचनादुत्थानोत्तरं फाल्गुनीं व्याप्य वृष्ट्यकाल इत्येकः कल्पः ॥३९॥

इस अकालवृष्टि के सम्बन्ध में अनेक कल्प कहे गये हैं। चतुर्मास समाप्त होने पर तथा तत्पश्चात् देवोत्थान एकादशी हो जाने के बाद होली उत्सव पर्यन्त (अर्थात् देवोत्थान से होलिका पर्व के बीच) जो वर्षा होती है, उसे अकाल वर्षा कहते हैं। योगीश्वर के इस वचन के अनुसार देवोत्थान एकादशी से लेकर फाल्गुनी पूर्णिमा के मध्य जो वर्षा होती है, वह अकाल वृष्टि है।।३८-३९।।

तत्र वह्निमहोत्सवः फाल्गुनी पूर्णिमेति जीमूतवाहनः। यस्तु उक्तवचने

यावन्न सुप्यते हरिरिति चतुर्थचरणं क्वचिद् दृश्यते, स त्वयुक्तः जीमूतवाहनापरिगृहीतत्वाद् व्यवहारविरोधाच्च ॥४०॥

यहाँ वह्निमहोत्सव को जीमूतवाहन ने फाल्गुनी पूर्णिमा कहा है। 'यावन्न सुप्यते हरि:' यह चतुर्थ चरण कहीं-कहीं मिलता है, जो कि समीचीन नहीं है। इसीलिये जीमूतवाहन ने इस चतुर्थ चरण को स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि व्यवहार के साथ इसका विरोध हो जाता है (अर्थात् प्रचलित व्यवहार के प्रतिकूल है; क्योंकि इससे देवशयनी तिथि का द्योतन होता है)।।४०।।

पौषादिचतुरो मासान् ज्ञेया वृष्टिरकालजा।
व्रतयज्ञादिकं तत्र वर्जयेत् सप्तवासरान्॥

इति भोजराजादिधृतवचनात् पौषादि चत्वारो मासा इत्यपरः कल्पः ॥४१॥

पौष, माघ, फाल्गुन तथा चैत्र मास में जो वर्षा होती है, वह अकाल वर्षा है। अकाल वर्षा के सात दिन बाद तक व्रत-यज्ञादि को नहीं करना चाहिये। इस प्रकार भोजराजादि के वचनानुसार पौषादि चार माह की वर्षा अकाल वर्षा है। यह एक कल्प है।।४१।।

सप्तवासरानिति। दिनत्रयवृष्टौ। सौरपौषमाघावेवेत्यन्यः कल्पः ॥४२क॥

सप्तवासरान् का तात्पर्य है कि तीन दिन वृष्टि होने पर सात दिन अशुद्ध माने जाते हैं। अन्य कल्प में कहा गया है कि सौर पौष तथा माघ मास अशुद्धि के कारण हैं। अब इसी प्रकरण में ज्योतिष वचन कहा जा रहा है।

मार्गान् मासात् प्रभृति मुनयो व्यासवाल्मीकिगर्गा-
श्चैत्रं यावत् प्रवर्षणविधौ नेति कालं वदन्ति।
नाडीजङ्घः सुरगुरुमुनिः प्राह वृष्टेरकालौ
मासावेतौ न शुभफलदौ पौषमाघौ न शेषाः ॥४२ख॥

व्यास, वाल्मीकि, गर्ग आदि ने अकाल वर्षा हेतु आग्रहायण मास से लेकर चैत्र मास पर्यन्त अशुद्ध काल कहा है। नाड़ीजङ्घ तथा देवगुरु मुनि का कथन है कि पौष तथा माघ की वर्षा अकाल वर्षा है तथा अशुभ फलदायक है। इनके दृष्टिकोण से फाल्गुन तथा चैत्र की वर्षा अशुभ फलप्रद नहीं है।।४२ख।।

इति ज्योतिर्वचनात्। अत्र पूर्वार्द्धं मध्यकल्पगतार्थम्, मार्गादित्यवधौ पञ्चमीविधानात् ॥४३॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में मध्यम कल्प गतार्थ है; क्योंकि 'मार्गात्' इस स्थल में अवधि से 'पञ्चमी' विहित हो रही है।।४३।।

केचित् तु मार्गादित्याभिविधौ पञ्चमी। चैत्रमित्यवधो द्वितीया। मार्गचैत्रो गौणचान्द्रो तथा च गौणमार्गमारभ्याऽर्थादुत्थानपक्षानन्तरं गौणचैत्रात् प्रागर्थात् फाल्गुनीं व्याप्येत्यर्थकरणात् प्रथमकल्प एवैतद्वचनार्द्धं प्रमाणयन्ति। तन्न; सौरपौषमाघसाहचर्यान्मार्गादीनामपि सौरत्वादिति। एवं पक्षत्रये व्यवस्थिते येन सर्वपरिग्रहः स्यात्, तस्यैवं ग्रहणमिति न्याये-नाद्य पक्षः श्रेयान्। उत्तरन्तु पक्षद्वयमापदत्यन्तापद्विषयम्। एवमन्यत्रापि ।।४४।।

किसी किसी का कथन है कि 'मार्गात्' यहाँ अभिविधि में पञ्चमी है। 'चैत्रं' इसमें अवधि से द्वितीया है। तथा चैत्र गौण चान्द्र हैं। ऐसा होने पर गौण मार्गशीर्ष मास से प्रारम्भ करके अर्थात् देवोत्थान पक्ष के अनन्तर गौण चैत्र के पूर्व में अर्थात् फाल्गुनी पूर्णिमा पर्यन्त। इस अर्थ द्वारा प्रथम कल्प में इस वचनार्ध का प्रमाण मिल जाता है।।४४।।

अतएव राजमार्त्तण्डः—

उक्तानि प्रतिषिद्धानि पुनः सम्भावितानि च।
सापेक्षनिरपेक्षाणि मीमांस्यानीह कोविदैः ।।४५।।

सापेक्षनिरपेक्षाणि समर्थासमर्थविषयाणि। यद्वा स्पष्टस्य तु विधानान्यैरूप-संहारसम्भव इति न्यायेन दोषातिशयार्थ एव। सामान्यनिषेध इति मल-मासतत्त्वे स्मार्त्ताः।।४६।।

राजमार्त्तण्ड ग्रन्थ में कहते हैं कि सापेक्ष तथा निरपेक्ष (सावकाश तथा निरवकाश अथवा समर्थ तथा असमर्थ) उक्त परिषिद्ध वचनसमूह तथा पुनः सम्भावित वचनसमूह पण्डितों द्वारा विचार (मीमांसा योग्य) योग्य है।

सापेक्ष तथा निरपेक्ष है—समर्थ तथा असमर्थ-विषयक। अथवा स्पष्ट विषय का अन्य विधान द्वारा उपसंहार सम्भव है। इस न्याय द्वारा अतिशय दोषों के कारण निषेध है। सामान्य निषेध विषय का निषेध नहीं है। सामान्य निषेध में विशेष का निषेध होता है, ऐसा मलमास तत्त्व में स्मार्त्त रघुनन्दन ने कहा है।।४५-४६।।

अत्र चैत्रशेषेऽकालवृष्टौ वैशाखप्रथमे कालाशुद्धिर्न वेति चेत्, अत्र केचित् अशुद्धिर्भवत्येव, कारणसत्त्वादिति वदन्ति ।।४७।।

यहाँ कोई-कोई यह शंका करते हैं कि चैत्र मास के अन्त में अकाल वृष्टि होने पर वैशाख के प्रथम दिन कालाशुद्धि होगी कि नहीं? कालाशुद्धि होगी ही। इसका कारण है।।४७।।

वयन्तु पौषादिचतुर्मासे चरणाङ्कितवर्षणे इत्यत्र चतुर्मासस्य चरणाङ्कित-वर्षणे इत्यत्र एकत्रिसप्ताहेषु चान्वयाच्चैत्रनिवृत्तौ समयाशुद्धिनिवृत्तिर्जायते एव। एवं गुर्वादित्यादावपि। अतएव वक्रीगुरुकाष्टाविंशतिवासरेति पूर्वोक्त-न्यायरत्नवचने तथाभिहितम्। तदर्थश्च वक्रीगुरुर्यत्र तादृशाष्टाविंशतिवासर इति। कम्पाद्यद्भुतसप्ताहे इत्यादौ तु गत्यन्तराभावात् तदुत्तरत्वमास्थीयते इति क्रमः॥४८॥

'पौषादि चार मास में चरणाङ्कित वर्षा', 'एक त्रि सप्ताह सहित चरणाङ्कित वर्षा', यहाँ चार मास का अन्वय होकर यह ज्ञात होता है कि चैत्र की निवृत्ति से समयाशुद्धि की भी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् चैत्र मास समाप्त होने पर चरणाङ्कित वर्षा की समयशुद्धि समाप्त हो जाती है। ऐसा ही गुरु तथा आदित्य की युति के सम्बन्ध में भी होता है। इसी कारण वक्री गुरु की स्थिति में २८ दिन की अशुद्धि से सम्बन्धित पण्डित न्यायरत्न का वाक्य भी इसी प्रकार उक्त है। उसका अर्थ है कि जहाँ पर वक्री गुरु है अर्थात् जिस-जिस दिन है, उससे २८ दिन पर्यन्त। 'भूकम्पादि सप्ताह जनित अशुद्धि' के लिये कोई गत्यन्तर ही नहीं है। यह मेरा मत है। अर्थात् उस वचन में कोई त्रुटि नहीं है।।४८।।

तीर्थस्नानमनावृत्तमिति। तत्पुरुषीयतत्तीर्थस्नानध्वंसाधिकरणकालो-त्पन्नमित्यर्थः। तथा चाद्यस्नानादिकमेव निषिद्धम्, न तु द्वितीयमपि। अतएव उपनीतस्य मगधगमनादौ प्रतिष्ठितप्रतिमायाः शूद्रस्पर्शादौ च पुनः संस्कारकरणे समयशुद्ध्यपेक्षा नास्ति, तस्यावृत्तत्वात्। अनावृत्त-त्वविशेषणन्तु पुरश्चरणादावपि, एकत्र दृष्टत्वाद् बाधकाभावाच्च। अतएव 'पक्षयोर्माघमासस्य द्वितीयां परिवर्जयेदि'त्यत्र कृष्णद्वितीयानिषेधः पुनः संस्कारविषयतया सार्थकः, अन्यथा कृष्णपक्षस्य सामान्यतो निषेधात् माघकृष्णद्वितीयाया अप्रसक्ततया निषेधानौचित्यात्। अतएव श्रीपुरुषोत्तम-क्षेत्रे श्रीभगवतः स्नानानन्तरमङ्गरागकरणे शूद्रादिस्पर्शसम्भवादमावस्यायां मलमाससम्बन्धेऽपि प्रतिष्ठामाचरन्तीति तत्वम्॥४९॥

यहाँ 'तीर्थस्नान' इसका अर्थ है—उस व्यक्ति का ऐसे समय में स्नान, जब तीर्थस्नान के ध्वंस वाला काल है (अर्थात् निषिद्ध काल में स्नान)। इसका अर्थ है कि प्रथम स्नान, प्रथम अनादि देवता का दर्शन इत्यादि निषिद्ध है। द्वितीय तीर्थस्नानादि कदापि निषिद्ध नहीं हैं। इसी कारण उपनीत व्यक्ति का मगध आदि देश में गमनादि में तथा प्रतिष्ठित प्रतिमा का शूद्रादि द्वारा स्पर्श करने पर फिर से इनको शुद्ध करने

में समयशुद्धि की आवश्यकता नहीं है। इसलिये वह आवृत्त है। पुरश्चरणादि में अनावृत्तत्व विशेषण है। इसलिये एक स्थान पर (पुरश्चरणादि सन्निधान में) इस विशेषण को देखा जाता है और इसमें कोई बाधा भी नहीं है। इसी कारण माघ मास के दोनों पक्ष में से द्वितीय पक्ष का वर्जन करना है। यहाँ पुन: संस्कारार्थ कृष्ण पक्ष की द्वितीया का निषेध सार्थक है; अन्यथा सामान्यत: कृष्ण पक्ष की द्वितीया के निषिद्ध होने पर भी माघ कृष्ण द्वितीया का निषेध अनुचित है। अतएव श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में श्रीभगवान् के स्नान के पश्चात् अंगराग के करणकाल में शूद्रादि का स्पर्श सम्भव होने पर अमावस्या तथा मलमास में भी प्रतिष्ठा का आचरण करते हैं। यही तत्त्व है।।४९।।

निषिद्धतिथिमासेऽपि प्रशस्ततिथिमासाः

अथ निषिद्धतिथिमासेष्वपि तिथिविशेषाः प्रशस्ताः। यथा देवपर्वणि। यथा रत्नावल्याम्—

षष्ठी भाद्रपदे ईषे तथा कृष्णा चतुर्दशी।
कार्त्तिके नवमी शुक्ला मार्गे शुक्ला तृतीयका ॥१॥
पौषे च नवमी शुक्ला माघे शुक्ला चतुर्थिका।
फाल्गुने नवमी शुक्ला चैत्रे कामचतुर्दशी ॥२॥
वैशाखे चाक्षया चैव ज्येष्ठे दशहरा तिथिः।
आषाढ़े पञ्चमी शुक्ला श्रावणे कृष्णपञ्चमी ॥३॥
एतानि देवपर्वाणि तीर्थकोटिफलं लभेत्।
अत्र दीक्षा प्रकर्त्तव्या न मासञ्च परीक्षयेत् ॥४॥
न वारं न च नक्षत्रं न तिथ्यादिकदूषणम्।
न योगरकणञ्चैव शङ्करेण प्रभाषितम् ॥५॥

अब यह बतलाते हैं कि निषिद्ध तिथि तथा मास में भी तिथिविशेष शुभ कार्य (दीक्षादि) के लिये प्रशस्त हैं; जैसे—देवपर्व। रत्नावली में कहते हैं—भाद्रपद की षष्ठी, आश्विन की कृष्णा चतुर्दशी (कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी), कार्तिक के शुक्ल पक्ष की नवमी, मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया, पौष की शुक्ला नवमी, माघ की शुक्ला चतुर्थी, फाल्गुन की शुक्ला नवमी, चैत्र की काम चतुर्दशी, वैशाख की अक्षय तृतीया, ज्येष्ठ मास की दशहरा तिथि, आषाढ़ की शुक्ला पञ्चमी, श्रावण की कृष्णा पञ्चमी तथा देव पर्व—इन तिथियों पर दीक्षा लेने से करोड़ों तीर्थ का फल प्राप्त होता है। इसमें मासादि विचार की कोई आवश्यकता नहीं है। इन सब तिथियों में तिथिगत दोष, योग, करणादि विचार ही नहीं करना चाहिये। इस तथ्य को भगवान् शंकर ने कहा है।।१-५।।

तीर्थकोटिफलमिति। आसु दीक्षायामिति शेषः। तन्त्रान्तरे—

चैत्रे त्रयोदशी शुक्ला वैशाखे द्वादशी तथा।
ज्येष्ठ्ये चतुर्दशी कृष्णा आषाढ़े नागपञ्चमी ॥६॥

श्रावणैकादशी भाद्रे रोहिणीसंयुताऽष्टमी।
आश्विने च महापुण्या महाष्टम्यप्यभीष्टदा ॥७॥
कार्त्तिके नवमी शुक्ला मार्गशीर्षे तथा सिता।
षष्ठी चतुर्दशी पौषे चेति कालविनिर्णयः ॥८॥

'तीर्थकोटिफलम्' इस वाक्य के पूर्व यह उक्त करना है कि 'आसु दीक्षायाम्' अर्थात् इन तिथियों पर दीक्षा से तीर्थ कोटि का फल मिलता है। तन्त्रान्तर में कहा गया है कि चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, वैशाख की शुक्ला द्वादशी, ज्येष्ठ की कृष्णा चतुर्दशी, आषाढ़ की नागपञ्चमी, श्रावण की कृष्णा एकादशी, भाद्रपद की रोहिणीयुक्ता अष्टमी (कृष्णाष्टमी), आश्विन की महापुण्यप्रदा नवरात्र की महाष्टमी, कार्तिक की शुक्ला नवमी, मार्गशीर्ष की शुक्ला षष्ठी तथा चतुर्दशी, पौष मास की कृष्णा एकादशी तथा फाल्गुन की कृष्णा षष्ठी यह दीक्षा हेतु प्रशस्त तिथियाँ हैं।।६-८।।

योगिनीतन्त्रे—

अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
रविसंक्रान्तिदिवसे युगाद्यासु सुरेश्वरि ॥९॥
मन्वन्तरासु सर्वासु महापूजादिने तथा।
महातीर्थेषु सर्वेषु नास्ति कालस्य निर्णयः ॥१०॥

योगिनीतन्त्र में भगवान् भी कहते हैं कि हे सुरेश्वरि! उत्तरायण तथा दक्षिणायन में (जिस दिन उत्तरायण अथवा दक्षिणायन लगे), चन्द्र तथा सूर्यग्रहण में, रवि संक्रान्ति के दिन, युगाद्य में (युगाद्य अर्थात् युगाद्य तिथि) समस्त मन्वन्तरादि में महापूजा के दिन तथा समस्त महातीर्थों में काल का निर्णय (दीक्षादि हेतु) आवश्यक नहीं है।

विशेष—युगाद्य अर्थात् चार तिथि, जिनका वर्णन आगे होगा तथा मन्वन्तरादि अर्थात् कुछ तिथियाँ; देखें—मन्वन्तर प्रसंग।

आसु वक्ष्यमाणासु च तिथिषु सर्वत्र गौणचान्द्रेनैव मासग्रहणम्। अथ युगाद्या। यथा ब्रह्मपुराणे—

वैशाखमासस्य च या तृतीया नवम्यसौ कार्त्तिकशुक्लपक्षे।
नभस्य मासस्य तमिस्रपक्षे त्रयोदशी पञ्चदशी च माघे।
एता युगाद्याः कथिता मुनीन्द्रैरनन्तपुण्यास्तिथयश्चतस्रः ॥११॥

इन वक्ष्यमाण तिथियों में सर्वत्र गौण चान्द्ररूप से ही मासों को ग्रहण किया गया है (अर्थात् कृष्णपक्ष शुक्लपक्ष का मास)। तदनन्तर युगाद्या कहा गया है। जैसे ब्रह्मपुराण में कहते हैं कि वैशाख के शुक्ल पक्ष की तृतीया, कार्त्तिक की शुक्ला

नवमी, श्रावण की कृष्ण त्रयोदशी, माघ मास की पूर्णिमा—इन तिथियों को युगाद्य कहा गया है। ये अनन्त पुण्य तिथि हैं।।११।।

अत्र पञ्चदशी पूर्णिमा, 'माघे च पौर्णमास्यां वै घोरं कलियुगं स्मृतमि'-त्येकवाक्यत्वात् ॥१२॥

इस श्लोक में पञ्चदशी पूर्णिमा को कहा गया है। जबकि माघ मास की पूर्णिमा को कलिकाल का प्रादुर्भाव हुआ है।।१२।।

यत्तु—'द्वे शुक्ले द्वे तथा कृष्णे युगाद्ये परिकीर्त्तिते' इति वचनान्तरैक-वाक्यतया पञ्चदश्यत्रामावस्येति वदन्ति। तन्न तद्वचनस्य समूलकत्त्वे कल्पान्तरत्वात् ॥१३॥

कोई-कोई कहते हैं कि दो शुक्ला तिथि तथा दो कृष्णा तिथि—इन चार को युगाद्य कहा गया है। इस वचन के साथ एकवाक्यता के कारण यहाँ पञ्चदशी अमा-वस्या मानी जायेगी।

वह समीचीन नहीं है (अर्थात् पञ्चदशी पूर्णिमा नहीं है)। पञ्चदशी को अमावस्या मानने के लिये प्रमाण होने पर वह मान्यता कल्पान्तर होगी कि पञ्चदशी पूर्णिमा है।।१३।।

वस्तुतस्तु पञ्चदश्यत्रामावास्यैव, कलिप्रादुर्भावतिथित्वात्। युक्तश्च सत्यत्रेतायुगयोः पुण्यायाः शुक्लपक्षे द्वापरकल्याः पापयोः कृष्णपक्षे प्रादुर्भावः। अतएव द्वे शुक्ले, द्वे कृष्णे इति साधु युज्यते ॥१४॥

वास्तव में यहाँ पञ्चदशी अमावस्या को ही माना गया है; क्योंकि यही कलिकाल के प्रादुर्भाव की तिथि है। पुण्यप्रधान सतयुग तथा त्रेतायुग का प्रादुर्भाव शुक्ल पक्ष में हुआ है; इसलिये पापबहुल द्वापर युग तथा कलिकाल का प्रादुर्भाव कृष्णपक्ष में होना समीचीन (उचित) प्रतीत होता है। इस कारण दो शुक्ल पक्ष तथा दो कृष्ण पक्ष का वचन सुसंगत है। यह किसी-किसी का कथन है।।१४।।

यत् तु—

वैशाखे शुक्लपक्षे तु तृतीयायां कृतं युगम्।
कार्त्तिके शुक्लपक्षे तु त्रेताथ नवमेऽहनि ॥१५॥
अथ भाद्रपदे मासि त्रयोदश्यान्तु द्वापरम्।
माघे च पौर्णमास्यां वै घोरं कलियुगं स्मृतम् ॥१६॥

इति।

तत्रापि मुख्यचान्द्राभिप्रायेण मासान्त्यतिथिरुपादेयेति। माघे तु पञ्चदश्यां वै इत्यपि क्वचिद् दृश्यते। पूर्णिमापाठस्य कल्पान्तरविषयत्वेनाप्युपपत्तिश्चेति तत्त्वम्। हलायुधगोविन्दानन्दप्रभृतयोऽप्येवम् ॥१७॥

इस स्थल पर भी मुख्य चान्द्र अभिप्राय से मास की अन्त्य तिथि ग्रहणीय है (अर्थात् पूर्णिमा)। कहीं पर 'माघे तु पञ्चदश्यां वै' यह भी पाठ देखा जाता है। कल्पान्तर के विषयरूप से 'पूर्णिमा' की ही उपपत्ति होती है (अर्थात् कलियुग का प्रादुर्भाव माघी पूर्णिमा को हुआ था)—यही तत्त्व है। आचार्य हलायुध तथा गोविन्दानन्द ने भी यही माना है।।१७।।

●

मन्वन्तराः

यथा भविष्यमात्स्ययोः—

अश्वयुक् शुक्ल नवमी द्वादशी कार्त्तिकी तथा।
तृतीया चैत्रमासस्य तथा भाद्रपदस्य च ॥१॥
फाल्गुनस्याप्यमावास्या पौषस्यैकादशी तथा।
आषाढस्यापि दशमी तथा माघस्य सप्तमी ॥२॥
श्रावणस्याऽष्टमी कृष्णा तथाषाढस्य पूर्णिमा।
कार्तिकी फाल्गुनी चैत्री ज्येष्ठी पञ्चदशी सिता।
मन्वन्तरादयस्त्वेता दत्तसाक्षयकारिका ॥३॥

अब मन्वतर के सम्बन्ध में कहते हैं; जैसा कि भविष्यपुराण तथा मत्स्यपुराण में कहा गया है। आश्विन की शुक्ला नवमी, कार्तिक की शुक्ला द्वादशी, चैत्र तथा भाद्रपद की शुक्ला तृतीया, फाल्गुन की अमावस्या, पौष की शुक्ला एकादशी, आषाढ़ की शुक्ला दशमी, माघ की शुक्ला सप्तमी, श्रावण की कृष्णा अष्टमी, आषाढ़ की पूर्णिमा, कार्तिक-फाल्गुन-चैत्र तथा ज्येष्ठ की अमावस्या—इन तिथियों को मन्वन्तर कहते हैं। इन तिथियों में दान का अक्षय फल होता है।।१-३।।

अत्रामावास्याष्टमीभिन्नाः शुक्लाः पुनः पुनस्तथापदोपादानात् उपक्रमोपसंहारयोः शुक्लत्वकीर्त्तनाच्च। अत्र च कामधेनौ—तृतीया चैव माघस्येति, कल्पतरौ तु—तृतीया चैत्रमासस्येति लिखितम्। अत्र पाठद्वेषे श्रीपतिरत्नमालायां अश्वयुजि शुक्लनवमी द्वादश्यूर्जे मधौ तृतीया चेति पाठाच्चैत्रतृतीयैव ग्राह्या इति श्रीदत्तस्मार्तप्रभृतयः ॥४-५॥

इस मन्वन्तर विषय के सम्बन्ध में लिखा गया है 'माघ की तृतीया' परन्तु कल्पतरु ग्रन्थ में चैत्रमास की तृतीया लिखा गया है। इस प्रकार से पाठ दो तरह का होने के कारण श्रीपति रत्नमाला का पाठ ग्रहणीय है, जिसमें आश्विन की शुक्ला नवमी, कार्त्तिक की द्वादशी तथा चैत्र मास की तृतीया—इस पाठ के अनुसार चैत्र तृतीया ही ग्रहणीय है। यही श्रीदत्त स्मार्त्त प्रभृति ने भी कहा है।।४-५।।

समयातन्त्रे—

शरत् काले युगाद्यायां ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
बोधने चैव दुर्गायाः कालाकालं न शोधयेत्।।६।।

समयातन्त्र के अनुसार शरत् काल में, युगाद्या तिथि में (वैशाख मास की शुक्ला तृतीया, कार्त्तिक की शुक्ला नवमी, श्रावण मास की कृष्णा त्रयोदशी, माघ मास की पञ्चदशी ही युगाद्या है), चन्द्र तथा सूर्यग्रहण काल में, दुर्गा-बोधन के समय कालाकाल का विचार दीक्षादि कार्य में नहीं करना चाहिये।।६।।

यामले—

देव्या बोधं समारभ्य यावत् स्यान्नवमी तिथिः।
कृतैतासु बुधैर्दीक्षा सर्वाभीष्टफलप्रदा।।७।।

यामलतन्त्र में कहा गया है कि देवी के बोधन से प्रारम्भ करके (नवरात्र में) नवमी तिथि-पर्यन्त काल में दीक्षा लेने से अभीष्ट फल प्राप्त होता है।।७।।

इदन्तु शक्तिविषये। तन्त्रान्तरे—

अमावस्या सोमवारे भौमवारे चतुर्द्दशी।
सप्तमी रविवारे च सूर्यग्रहशतैः समा।।८।।

यह सब शक्ति-विषयक है। अन्य तन्त्र में कहते हैं कि सोमवती अमावस्या, मंगल को पड़ रही चतुर्दशी, रविवार की सप्तमी एक सौ सूर्यग्रहण के समान होती है।।८।।

सारसंग्रहे—

शिष्यत्रिजन्मदिवसे संक्रान्तौ विषुवायणे।
सत्तीर्थेऽर्कविधुग्रासे तन्तुदामनपर्वणोः।
मन्त्रदीक्षां प्रकुर्वाणो मासर्क्षादीन्न शोधयेत्।।९।।

सारसंग्रह ग्रन्थ में कहते हैं कि शिष्य त्रिजन्म दिवसों में, संक्रान्ति में, विषुव नामक अयन में, सत् तीर्थ में, चन्द्र तथा सूर्यग्रहण में, तन्तुपर्व तथा दामन पर्व में मन्त्र दीक्षा ले और मास-नक्षत्रादि का विचार न करे।।९।।

तन्तुपर्व—परमेश्वरोपवीतदानतिथिः श्रावणी पूर्णिमा। दामनपर्व—दमनक-पुष्पभञ्जनतिथिश्चैत्र शुक्ल चतुर्द्दशी ॥१०॥

तन्तु पर्व = परमेश्वर को यज्ञोपवीत दान की तिथि—श्रावणपूर्णिमा । दामन पर्व = दमनक पुष्पभंजन तिथि—चैत्र शुक्ल चतुर्दशी ।।१०।।

तथा—

निषिद्धेष्वपि मासेषु दीक्षोक्ता ग्रहणे शुभा ।
रविसंक्रमणे चैव नान्यदन्वेषितं भवेत् ॥११॥

और भी कहा है कि निषिद्ध मास होने पर भी उसमें चन्द्र-सूर्यग्रहण पड़ने पर उस दिन तथा उस मास की सूर्य संक्रान्ति को शुभकारी है। इसमें काल-अकालसम्बन्धी विचार नहीं करना चाहिये।।११।।

ज्ञानमालायां—

रविसंक्रमणे चैव सूर्येन्दुग्रहणे तथा ।
अत्र स्नानादिकं किञ्चिन्न विचार्यं कथञ्चन ॥१२॥

ज्ञानमाला में कहते हैं कि रविसंक्रान्ति के दिन, सूर्य तथा चन्द्रग्रहण में स्नानादि किसी कार्य में तनिक भी विचार न करे।।१२।।

अन्यत्रापि—

सूर्यग्रहणकालेन समानो नास्ति कश्चन ।
तद्यद्यत् कृतं सर्वमनन्तफलदं भवेत् ।
न मासतिथिवारादिशोधनं सूर्यपर्वणि ॥१३॥

अन्यत्र भी कहा गया है कि सूर्यग्रहण के समान कुछ भी नहीं है। उस समय जो भी किया जायगा (दीक्षादि) वह सब अनन्त फलप्रद होता है। इसमें मास, वार, तिथि आदि का विचार अथवा शोधन नहीं किया जाता।।१३।।

रविसंक्रमेण चैव सूर्यस्य ग्रहणे तथा ।
तत्र लग्नादिकं किञ्चिन्न विचार्य कथञ्चन ॥१४॥
ददातीष्टं गृहीतं यत्तस्मिन् काले गुरोर्नृभिः ।
सिद्धिर्भवति मन्त्रस्य विनायासेन वेगतः ॥१५॥

(वेगतः—अविलम्बात्)।

रविसंक्रमण (संक्रान्ति) तथा सूर्यग्रहण में दीक्षादिक के लिये लग्नादि का तनिक भी विचार न करे। इस समय गुरु के देने पर शिष्य जो कुछ प्राप्त करता है, वह सब

इष्टानुरूप फल देता है। इस काल में मन्त्र भी विना प्रयास सिद्ध हो जाते हैं।।१५।।

(वेगतः = विना देर किये)।

रुद्रयामले—

न कुर्याच्छाक्तिकीं दीक्षामुपरक्ते विभावसौ।
न कुर्याद् वैष्णवीं तान्तु यदि चन्द्रमसो ग्रहः ॥१६॥

रुद्रयामल में कहा गया है कि सूर्य के राहुग्रस्त होने पर शक्तिदीक्षा नहीं लेनी चाहिये। चन्द्रग्रहण के समय वैष्णवी दीक्षा लेना वर्जित है।।१६।।

तां दीक्षाम्। एतद्वचनन्तु गोपालश्रीविद्येतरविषयकम्, अन्येषु पुण्ययोगेषु ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोरिति गौतमीयात्। सूर्यग्रहणकाले तु नान्यदन्वेषितं भवेदिति योगिनीहृदयाच्च ॥१७॥

तां = दीक्षा। उपर्युक्त वचन गोपाल तथा श्रीविद्या के अतिरिक्त अन्य के लिये कहा गया है। गौतमीय तन्त्र में तो यह कहते हैं कि सूर्य-चन्द्रग्रहण में तथा अन्य पुण्ययोगों के समय कालविचार नहीं किया जाता। यही योगिनीहृदय तन्त्र में भी कहा गया है।।१७।।

तत्त्वसारे—

यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपतः।
न तिथिर्न व्रतं होमो न स्नानं न जपक्रिया।
दीक्षायां कारणं किन्तु स्वेच्छावाप्ते तु सद्‌गुरौ ॥१८॥

तत्त्वसार ग्रन्थ के अनुसार गुरु की जब इच्छा हो जाय तभी गुरु की आज्ञा के अनुरूप दीक्षा हो सकती है। इसमें तिथि-विचार नहीं होता और होम, स्नान, जप क्रिया की भी कोई आवश्यकता नहीं होती।।१८।।

सद्‌गुरौ सिद्धमन्त्रगुराविति मलिम्लुचतत्त्वम्।

सद्‌गुरु = सिद्ध मन्त्रज्ञाता गुरु। ऐसा मलमासतत्त्व ग्रन्थ में कहा गया है।

वाराहीतन्त्रे—

शिष्यानाहूय गुरुणा कृपया दीयते यदा।
तदा लग्नादिकं किञ्चिन्न विचार्यं कथञ्चन ॥१९॥

वाराही तन्त्र में कहते हैं कि जब गुरु शिष्य को बुलाकर कृपापूर्वक दीक्षा देते हैं, तब लग्नादि किसी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिये।।१९।।

सर्ववारा ग्रहाः सर्वे नक्षत्राणि च राशयः।
यस्मिन्नहनि सन्तुष्टो गुरुः सर्वे शुभावहाः ॥२०॥

जिस दिन गुरु शिष्य से सन्तुष्ट हो जाते हैं, उस दिन समस्त वार, समस्त ग्रह, नक्षत्रगण, समस्त राशिसमूह शिष्य के लिये शुभ हो जाते हैं।।२०।।

मुण्डमालातन्त्रे—

महाविद्यासु सर्वासु दीक्षाकर्मणि पार्वति।
कालादिशोधनं नास्ति न चामित्रादिदूषणम् ॥२१॥

मुण्डमालातन्त्र में भगवान् कहते हैं कि हे पार्वति! महाविद्याओं की दीक्षा देने में किसी कालशोधनादि की आवश्यकता नहीं होती और अमित्रादि दोष भी नहीं होता।।२१।।

एतवता समयादिसर्वशुद्धौ मुख्यकल्पः। ग्रहणकल्पोऽपि मुख्यः ततस्तत्तत् तिथिशेषसंक्रान्तिकल्पः। ततो महातीर्थकल्पः। ततः केवलगुर्वाज्ञा इति पञ्चकल्पाः ॥२२॥

इन ग्रन्थों के आधार पर दीक्षा के पाँच कल्प ज्ञात होते हैं। समयप्रभृति सबकी शुद्धि से दीक्षादि, यह मुख्य कल्प है। ग्रहण भी मुख्य कल्प है। तदनन्तर वे तिथिविशेष तथा संक्रान्ति कल्प हैं। तत्पश्चात् महातीर्थ कल्प है। सर्वान्त में गुरु की आज्ञा ही कल्प है। इस प्रकार से पञ्च कल्प हैं।।२२।।

योगिनीतन्त्रे—

गयायां भास्करक्षेत्रे विरजे चन्द्रपर्वते।
चट्टले च मतङ्गे च तथा कल्पाश्रमेषु च।
न गृह्णीयात् ततो दीक्षां तीर्थेष्वेतेषु पार्वति ॥२३॥

योगिनीहृदय तन्त्र में भगवान् कहते हैं कि हे पार्वति! गया में, भास्कर क्षेत्र में, विरजा, चन्द्रपर्वत, मतङ्ग तथा कल्पाश्रय में गुरु से दीक्षा नहीं लेनी चाहिये।।२३।।

मनुः—

नाधीयीते श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धकं प्रतिगृह्य च ॥२४॥

मनु कहते हैं कि श्मशान के निकट, गाँव के समीप तथा गोष्ठ (जहाँ गौ रहती है) में श्राद्ध का सिद्धान्न ग्रहण करना तथा दो वस्त्र पहन कर अध्ययन करना वर्जित है।।२४।।

अतएव एतद् वचनबलादेव वैदिककर्ममात्रे रात्रिवासो निषेधो रतिवासपर एव प्रतीयते। एवमेव दीक्षातत्त्वे स्मार्त्ता विवव्रुः ॥२५॥

अतएव इस वचन के बल से ही वैदिक कर्मों में रात्रिवास का निषेध होने के कारण वह दो कपड़े (रतिवास) पर ही प्रतीयमान हो रहा है। ऐसा दीक्षातत्त्व में स्मार्त कहते हैं।।२५।।

नाड़ीचक्रादिविचारः

इदानीं चक्राणि निरूप्यन्ते। तत्र नाड़ीचक्रम्। यथा स्वरोदये—

अश्विन्यादि लिखेच्चक्रं सर्पाकारं त्रिनाड़िकम्।
तत्र वेधवशाज्ज्ञेयं विवाहादि शुभाशुभम्।।१।।

नाड़ीचक्रादि का विचार—अब चक्रसमूह निरूपित किया जा रहा है। प्रथम नाड़ीचक्र पहले कहा जायेगा। जैसे स्वरोदय ग्रन्थ में कहा है कि सर्पाकार त्रिनाड़ी चक्र का अंकन करके उस चक्र में अश्विनी आदि नक्षत्रों को लिखे। इस नाड़ीवेध के अनुसार विवाह, दीक्षा, गृहारम्भ प्रभृति शुभ कार्य का शुभाशुभ ज्ञात होते हैं।।१।।

त्रिनाड़ीवेधनक्षत्रमश्विन्यार्द्रायुगोत्तरा।
हस्तेन्द्रमूलवारुण्यः पूर्वभाद्रपदस्तथा।।२।।

इति क्रोड़नाडी।

त्रिनाड़ी (प्राङ् नाड़ी, मध्यनाड़ी तथा पृष्ठ नाड़ी)। वेध नक्षत्र हैं—अश्विनी, आर्द्रा, पुनर्वसु, उत्तरफाल्गुनी, हस्त, ज्येष्ठा, मूल, शतभिषा तथा पूर्वभाद्रपद। इनको प्राङ् नाड़ी में लिखे (यही क्रोड़ नाड़ी है)।।२।।

याम्यः सौम्यो गुरुर्योनिश्चित्रा मित्रजलाह्वयम्।
धनिष्ठा चोत्तरा भाद्रा मध्यनाड़ी व्यवस्थिता।।३।।

भरणी, मृगशिरा, पुष्य, पूर्वफाल्गुनी, चित्रा, अनुराधा, पूर्वाषाढ़ा, धनिष्ठा तथा उत्तरभाद्रपद—ये सभी मध्यनाड़ी में अवस्थित हैं। इन्हें वहाँ अंकित करना चाहिये।।३।।

कृत्तिका रोहिणी सर्पो मघा स्वाती विशाखके।
उत्तरा श्रवणा पौष्णं पृष्ठनाड़ी व्यवस्थिता।।४।।

कृत्तिका, रोहिणी, आश्लेषा, मघा, स्वाती, विशाखा, उत्तराषाढ़ा, श्रवणा तथा रेवती—इनको पृष्ठ नाड़ी में लिखे।।४।।

अश्वादि नाड़ी वेधर्क्षे षष्ठं द्वितीयकं क्रमात्।
याम्यादितुर्यतुर्यञ्च कृत्तिकादि द्विषट्ककम्।।५।।

प्राङ् नाड़ी वेध के नक्षत्र अश्विन्यादि से षष्ठ, द्वितीय, षष्ठ, द्वितीय इस क्रम से

अर्थात् पहले अश्विनी, उसके बाद अश्विनी से छठा नक्षत्र आर्द्रा, तत्पश्चात् आर्द्रा से द्वितीय पुनर्वसु, तत्पश्चात् पुनर्वसु से छठा उत्तराषाढ़ा—इस क्रम से लिखे।

मध्यनाड़ी वेध के नक्षत्रसमूह (भरणी प्रभृति) से चतुर्थ अर्थात् पहले भरणी, तदनन्तर भरणी से चौथा मृगशिरा, तदनन्तर मृगशिरा से चतुर्थ पुष्य—इस क्रम से नक्षत्र लिखे; जैसे क्रमानुसार प्राङ् नाड़ी हेतु लिखा था। अब पृष्ठ नाड़ी में भी उसी क्रम से लिखना चाहिये। यह क्रम इस प्रकार होगा—

प्राङ् नाड़ी में—१,६,७,१२,१३,१८,१९,२४,२५

मध्य नाड़ी में—२,५,८,११,१४,१७,२०,२३,२६

पृष्ठ नाड़ी में—३,४,९,१०,१५,१६,२१,२२,२७

इसी प्रकार से नक्षत्र संख्या वाले नक्षत्र नाम को लिखे।।५।।

एवं निरीक्षयेद् वेधं कन्यामन्त्रे गुरौ सुरे।
पण्यस्त्रीस्वामिमित्रेषु देशे ग्रामे पुरे गृहे ।।६।।

इस प्रकार तीनों नाड़ियों में तदनुसार नक्षत्र नाम लिखकर उनका वेध कन्या, उपासनीय मन्त्र, गुरु, देवता, गणिका, स्वामी, मित्र, देश, ग्राम, पुर, गृहप्रभृति के सम्बन्ध में निरीक्षण करे।।६।।

एकनाडीनु धिष्ण्यानि यदि स्युर्वरकन्ययाः।
तदा वेधं विजानीयाद् गुर्वादिषु तथैव च ।।७।।

यदि वर तथा कन्या का एक ही नक्षत्र हो तब यह जानना चाहिये कि यह नाड़ीवेध है। इसी प्रकार गुरु-शिष्य, सेव्य-सेवक, उपास्य-उपासक आदि के सम्बन्ध में भी देखा जाता है। दोनों के नक्षत्र एक ही नाड़ी के होने पर नक्षत्रवेध होता है।।७।।

एकनाड़ीस्थिता यत्र गुरुर्मन्त्रश्च देवता।
तत्र द्वेषं रुजं मृत्युं क्रमेण फलमादिशेत् ।।८।।

जहाँ अपने नक्षत्र के साथ गुरु, मन्त्र तथा देवता का नक्षत्र एक ही नाड़ी में हो, वहाँ यथाक्रम से विद्वेष, रोग तथा मरण का फल होगा—ऐसा कहे।।८।।

एकनाड़ीस्थिता इति। स्वनक्षत्रेण सह गुरुनक्षत्रं यद्येकनाड़ीस्थं, तदा द्वेषः, यदि मन्त्रनक्षत्रं, तदा रोगः, यदि देवतानक्षत्रं, तदा मृत्युः स्यादित्यर्थः। एतावता गुरुनक्षत्रमपि ज्ञातुमुचितमित्यायातम्। स्वस्य गुरोश्च प्रकृत-नक्षत्राज्ञाने वक्ष्यमाणनक्षत्रचक्रानुसारेण नामाद्यक्षरतो नक्षत्रं ग्राह्यम्, मन्त्रदेवतयोः सुरारामाद्यक्षरक्रमेणेति विभावनीयम् ।।९।।

एकनाड़ीस्थिता—यदि अपने नक्षत्र के साथ गुरु का नक्षत्र एक ही नाड़ी में है तब रोग, यदि देवता तथा अपना नक्षत्र एक नाड़ी में है तब मृत्यु होती है। इससे यह ज्ञात होता है कि गुरु का नक्षत्र जानना आवश्यक है। अपने तथा गुरु के नक्षत्र का ज्ञान न होने पर इस नक्षत्र चक्र के अनुसार अपना तथा अपने गुरु के नामाक्षर से नक्षत्र का निर्धारण करना होगा। मन्त्र तथा देवता के प्रथम वर्णाक्षर से नक्षत्र का ज्ञान करना चाहिये।।९।।

कुलाकुलचक्रनिरूपणम्

'षनिमन्त्रं न गृह्णीयादकुलञ्च तथैव च' इति तन्त्रवचनादकूले मन्त्रस्या-ग्राह्यत्वात् कुलमन्त्रस्य ग्राह्यतार्थं कुलाकुलचक्रं निरूप्यते। तत्र च कुलं मित्रम्, अकुलं शत्रुः तयोर्ज्ञापकतया कुलाकुलपदवाच्यता ।।१०।।

निरुक्ते—

कुलाकुलविभेदं हि वक्ष्यामि मन्त्रिणामिह।
वाय्वग्निभूजलाकाशां पञ्चाशल्लिपयः क्रमात् ।।११।।
पञ्चह्रस्वाः पञ्च दीर्घा बिन्द्वन्ताः सन्धिसम्भवाः।
कादयः पञ्चशः षक्षलसहास्ताः समीरिताः ।।१२।।

यथा—

अ आ ए क च ट त प य षा मारुताः।
इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र क्षा आग्नेयाः।
उ ऊ ओ ग ज ड़ द ब ल ळा पार्थिवाः।
ऋ ॠ औ घ झ ढ ध भ व सा वारुणाः।
ऌ ॡ अं ङ ञ ण न म श हा नाभसाः ।।१३।।

कुल तथा अकुल चक्र का निरूपण—षनि मन्त्र को ग्रहण नहीं करना चाहिये। अकुल मन्त्र भी ग्रहण न करे। इस तन्त्रवचन के अनुसार अकुल मन्त्र की अग्राह्यता के कारण कुलमन्त्र ग्रहण करने के लिये कुलाकुल चक्र निरूपित होता है। इसमें अकुल शत्रु है, कुल मित्र है। कुल (मित्र) तथा अकुल (शत्रु) का ज्ञापक होने के कारण इसे कुलाकुल चक्र कहते हैं।

निबन्ध में कहा गया है कि यहाँ मन्त्रिगण के कुलाकुल विभेद को कहते हैं। (मन्त्रिगण—जो मन्त्र लेते हैं) वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल तथा आकाश—इन पञ्चभूतमय ५० वर्ण के क्रमान्वय को रखने से कुलाकुल निर्णय होता है।

पाँच ह्रस्व, पाँच दीर्घ वर्ण, अनुस्वार, सन्धिजात, ककारादि पाँच वर्ग, ष क्ष ल

स ह और क्ष—इन छ: वर्णों द्वारा कुलाकुल के ५० वर्ण कहे जाते हैं। जैसे—

अ आ ए क च ट त प य ष—वायवीय वर्ण।

इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र क्ष—आग्नेय वर्ण।

उ ऊ ओ ग ज ड द ब ल ळ—पार्थिव वर्ण।

ऋ ॠ औ घ झ ढ़ ध भ व स—वारुण वर्ण।

ऌ ॡ अं ङ ञ ण न म श ह—आकाश वर्ण।

इस प्रकार से ५० वर्ण कहे गये।।१०-१३।।

अथ लकारद्वयस्य पृथक् प्रयोजनाभावेऽपि मातृकावर्णानां लकार-द्वयवत्त्वानुरोधात् तथा निर्देशः। लकारद्वयस्य चैकस्थानपरत्वान्न फलवैजात्यमाशङ्कनीयम्। एवमेव चक्रे क्षकारः क्षकारत्वेनाग्नेयतया ग्राह्यः, न तु ककारादित्वेन वा यवीयतया इत्यवधेयम् ॥१४॥

यहाँ लकारद्वय का पृथक् प्रयोजन न रहने पर भी मातृका वर्णसमूह के लकार-द्वयवत्व अनुरोध से ऐसा निर्देश हुआ है। लकारद्वय की एक ही स्थान पर स्थिति होने के कारण फलभेद की आशंका नहीं है। इस कारण इस चक्र में क्ष को क्षकारत्व रूप से आग्नेय वर्ण कहकर माना जाता है। तथापि यह ककारादि रूप से अथवा यवीय रूप से ग्रहणीय नहीं है।।१४।।

निबन्धे—

साधकस्याक्षरं पूर्वं मन्त्रस्यापि तदक्षरम्।
यद्येकभूतदैवत्यं जानीयात् स्वकुलं हि तत् ॥१५॥
भौमस्य वारुणं मित्रमाग्नेयस्यापि मारुतम्।
मारुतं पार्थिवानाञ्च चाग्नेयमम्भसां रिपुः ॥१६॥

निबन्ध में कहा गया है कि प्रथम मन्त्र लेने वाले साधक के नाम का प्रथम अक्षर तथा जिस मन्त्र की दीक्षा ली जा रही है, उसका प्रथमाक्षर यदि एक ही भूत तथा एक देव तक हों (एक ही पञ्च महाभूत वाले तथा एक ही देवता वाले हों) तब इसे स्वकुल समझना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि सोम तथा वारुण वर्ण की आग्नेय तथा वायवीय वर्ण की और मारुत तथा वारुण वर्ण की पारस्परिक मित्रता है। पार्थिव वर्ण का शत्रु है—वायवीय वर्ण। आग्नेय वर्ण तथा जलीय वर्ण पारस्परिक रूप से शत्रु हैं।।१५-१६।।

अस्यार्थः—सोमवारुणयोराग्नेयमारुतयोर्मारुतपार्थिवयोः परस्परं मित्रता।

आग्नयेवारुणयोश्चकारादाग्नेयपार्थिवयोः परस्परं शत्रुता। आग्नेयमम्भसाञ्च शत्रुरिति चकारव्यत्ययादन्वयः। नाभसः सर्वेषां मित्रमेव ।।१७।।

इसका तात्पर्य यह है कि सोम तथा वारुण वर्ण की, आग्नेय तथा वायवीय वर्ण की पारस्परिक मित्रता है। इसी प्रकार मरुत् तथा पार्थिव भी मित्र हैं। अग्नि तथा वरुण (जल) के सम्बन्ध में भी परस्पर शत्रुता है। आग्नेय वर्ण जलीय वर्ण के शत्रु हैं। इसी प्रकार आग्नेय वर्ण की पार्थिव वर्ण से शत्रुता है। नाभस वर्ण (आकाशीय) सबके मित्र हैं।।१७।।

तथाह रुद्रयामले—

पार्थिवे वारुणं मित्रं तैजसं शत्रुरीरितम् ।
नाभसं सर्वमित्रं स्याद् विरुद्धं नैव शीलयेत् ।।१८।।

रुद्रयामल तन्त्र में कहते हैं कि वारुण तथा पार्थिव वर्ण मित्र हैं; किन्तु आग्नेय वर्ण (तैजस वर्ण) इन दोनों का शत्रु है। नाभस वर्ण सबके मित्र हैं। इस नियम के विरुद्ध अनुशीलन (व्यवहार) करना गलत है।।१८।।

(मित्र वर्ण से सिद्धि-लाभ, उदासीन वर्ण निष्फल तथा शत्रुवर्ण मृत्युतुल्य कहे गये हैं। स्वकुल से उत्तमा सिद्धि की प्राप्ति होती है)।

अथ षट्चक्रम्

यथा शारदातिलके टीकाकारराघवभट्टधृतवचनम्—

षट्पदं चक्रमालिख्य प्रागादिषु दलेषु च ।
अकाराद्यस्तमेकैकं लिखेन्निःषण्डकूटकम् ।
स्वनामाद्यक्षरं यत्र तदारभ्य विचारयेत् ।।१९।।

मन्त्राद्यक्षरपर्यन्तमित्यर्थः।

अब षट्चक्र के सम्बन्ध में कहते हैं। जैसा शारदातिलक तन्त्र के टीकाकार राधवभट्ट ने कहा है कि षटपद् चक्र को सम्यक् रूप से अंकित करके उसके पूर्वादि दलसमूह में अकार से लगकर अन्त वर्ण पर्यन्त एक-एक वर्ण लिखे। उसमें षण्ड तथा क्लीब वर्णरहित वर्णकूट (लिखा जाय) हो। यहाँ अपने नाम के प्रथम अक्षर को लेकर मन्त्र के आदि अक्षर से विचार करे (यह विचार करे कि दोनों प्रथमाक्षरों में मित्रता, शत्रुता अथवा उदासीनता में से क्या है)।।१९।।

अपने नाम के प्रथम अक्षर से मन्त्र के आद्य (प्रथम) अक्षर- पर्यन्त विचार करना चाहिये, यही अर्थ है।

फलन्तु—

उदिते सम्पदुद्दिष्टा द्वितीये सम्पदां क्षयः।
तृतीयेक च धृतिं विद्याच्चतुर्थे बन्धुविग्रहः।
पञ्चमं संशयार्थः स्यात् षष्ठः सर्वविनाशकः ॥२०॥

उदिते प्रथमे इत्यर्थः।

फल कहते हैं कि प्रथम (उदित) दल से सम्पत्ति, द्वितीय दल से सम्पत्ति का नाश, तृतीय दल से धृति-प्राप्ति, चतुर्थ दल से बन्धु-विग्रह, पञ्चम दल से संशय तथा षष्ठ दल से सब कुछ के विनाश का विधान है।।२०।। (यहाँ उदित का अर्थ है—प्रथम दल)।

अथाष्टवर्गचक्रम्

यथा राघवभट्टे—

अवर्गं पक्षी विज्ञेयो मार्जारश्च कवर्गकः।
चवर्गश्च तथा सिंहष्टवर्गश्चैव कुक्कुरः ॥२१॥
तवर्गो नाग इत्युक्तो मूषिकश्च पवर्गकः।
यवर्गश्च गतो ज्ञेयाः शवर्गो ह्यजमेषकः ॥२२॥

अब अष्टवर्गचक्र कहते हैं। राघव भट्ट कहते हैं कि अवर्ग = गरुड़पक्षी, कवर्ग = मार्जार (बिल्ली), चवर्ग = सिंह, टवर्ग = कुत्ता, तवर्ग = नाग कहा गया है। पवर्ग = मूषक, यवर्ग = हाथी तथा शवर्ग को बकरा तथा भेड़ा कहा गया है।।२१-२२।।

अजमेषक इति। अजात्मको मेषात्मकश्च परिभाषित इत्यर्थः। अयमर्थः नवरेखा दत्त्वा अष्टगृहाणि कृत्वा तेषु वर्णान् न्यसेत्। अवर्ग इति। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः। यवर्गः—य र ल वाः। शवर्गः—श ष स ह क्षाः। तथा च मन्त्रस्याद्यक्षरेण साधकनामाद्यक्षरेण च गृहं लक्षयित्वा फलं वदेत् ॥२३॥

'अजमेषक' का तात्पर्य है कि अजस्वरूप (बकरा) तथा मेषस्वरूप (भेड़ा) परिभाषित है। प्रक्रिया यह है कि नौ रेखायें बनाकर उसमें आठ कोष्टक (गृह) बनाये। इनमें क्रमानुसार वर्ण-स्थापन करे। अवर्ग है—अ से अः तक। यवर्ग है—य र ल व। शवर्ग है—श ष स ह। इस प्रकार से अपने नाम के प्रथमाक्षर तथा मन्त्र के प्रथमाक्षर को लक्ष्य करके वह किस गृह में है, तदनुसार फल जाने।।२३।।

यथा—

गरुत्मसर्पयोर्वैरं तथा च गजसिंहयोः।
मार्जारमूषयोर्वैरं वैरं कुक्कुरमेषयोः ॥२४॥

जैसे गरुड़ पक्षी से सर्प की शत्रुता है। गज तथा सिंह की बिल्ली तथा चूहे की और कुत्ता से भेड़ा की शत्रुता है (उसी प्रकार यह देखे कि मन्त्र का अक्षर तथा अपने नाम का अक्षर परस्पर शत्रु कोष्ठक में तो नहीं हैं)।।२४।।

ततश्च वैरीमन्त्रं न गृह्णीयादिति लब्धम्। अत्रेदं तत्त्वं—साधकस्य सर्पत्वे गजत्वे, मूषिकत्वे वा साध्यस्य गरुत्मत्वं सिंहत्वं मार्जारत्वञ्च विरुद्धमेव। यदि च शुद्धमन्त्रो न मिलति, साधको गरुड़ो सिंहो मार्जारो वा भवति, तदा सर्पो गजो मूषिको वा मन्त्रो ग्राह्यः साधकस्य साध्यक्षतिकरणा-समर्थत्वादित्यस्माकीना युक्तिरित्यष्टवर्गचक्रम् ॥२५॥

वैरी मन्त्र की दीक्षा नहीं लेनी चाहिये। यहाँ तत्त्व यह है कि जो साधक सर्प, गज तथा मार्जार हों; उन्हें क्रमशः गरुड़त्व, सिंहत्व और मर्जारत्व विरुद्ध (शत्रु) होगा। यदि शुद्ध मन्त्र नहीं मिल रहा है, तब यदि साधक गरुड़ है अथवा सिंह या मार्जार है तब सर्प, गज अथवा मूषिक मन्त्र लेना चाहिये। यह मेरी युक्ति है। अष्टवर्ग का चक्र समाप्त होता है।।२५।।

राशिचक्रम्

शारदायां—'स्वताराराशिकोष्ठानामनुकूलान् भजेन् मनून्' इति वचना-न्नक्षत्रचक्रराशिचक्रसिद्धादिचक्राणामावश्यकतया लाघवात् प्रथमं राशिचक्रं निरूप्यते। यथा कल्पद्रुमे—

रेखाद्वयं पूर्वपरेण कुर्यात् तन्मध्यतो याम्यकुबेरभेदात्।
एकैकमीशाननिशाचरे तु हुताशवाण्यार्विलिखेत् ततोऽर्णान् ॥२६-२७॥

अब राशिचक्र कहा जाता है। शारदातिलक में कहा गया है कि अपने नाम के नक्षत्रचक्र तथा राशिचक्र के अनुकूल मन्त्र की उपासना करे। इस वचनानुसार नक्षत्र-चक्र, राशिचक्र तथा सिद्धादि चक्रसमूह का विचार आवश्यक है। विषय को सरल बनाने के लिये पहले राशिचक्र निरूपित किया जा रहा है। जैसाकि कल्पद्रुम ग्रन्थ में कहा गया है—प्रथमतः पूर्व तथा पश्चिम की ओर आपस में कुछ जगह छोड़ते हुये दो रेखा का अंकन करे। इन रेखाद्वय के बीच में उत्तर-दक्षिण की ओर लम्बायमान और दो रेखाओं का अंकन करना चाहिये। इससे एक राशिचक्र चित्रित होगा। तदनन्तर मेष-वृष आदि क्रम से वर्ण लिखे।।२६-२७।।

वेदाग्निवह्नियुगलश्रवणाक्षिसंख्यान्,
पञ्चेषुबाणशरपञ्चचतुष्टयार्णान् ।
मेषादितः प्रविलिखेत् सकलांस्तु वर्णान्
कन्यागतान् प्रविलिखेदथ शादिवर्णान् ॥२८॥

प्रथमतः मेष-वृष प्रभृति को पहले चार खानों में लिखे (विद = चार), अब अग्निसंख्यक (३), वह्निसंख्यक (३), युगल (२), श्रवण (२) संख्यक, अक्षि (२) संख्यक तदनन्तर तुला में पाँच संख्यक, तदनन्तर ईषु (पाँच) संख्यक, तदनन्तर बाण (पाँच) संख्यक, शर (पाँच संख्यक), बाद के गृह में कुम्भ में पाँच संख्यक और मीन में पाँच संख्यक वर्ण लिखना चाहिये। इसी क्रम से मेषादि वर्ण लिखे। तत्पश्चात् कन्या में श ष स ह ळ क्ष वर्ण लिखे।।२८।।

शारदायां—

बालं गौरं खुरं शोणं शमी शोभेति राशिषु।
क्रमेण भेदिता वर्णाः कन्यायां शादयः स्मृताः ॥२९॥

शारदातिलक में कहते हैं कि बाल गौर खुर शोण शमी शोभा—इस संकेतानुसार मेषादि १२ राशि के वर्णों का विभागक्रम स्थापित किया गया है। कन्या में शादि वर्ण श ष स ह ळ क्ष तथा अं ह कथित है।।२९।।

अस्याभिप्रेतसंकेतस्तु कू चू टू तू पू तथा या वर्गास्तेषां प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमवर्णैर्मेषादीषु एकद्वित्रिचतुःपञ्चवर्गाः क्रमेण बोध्याः। तथाच वशब्द वकारो यवर्गचतुर्थेन मेषे वर्णचतुष्कम्, लकारो यवर्ग-तृतीयस्तेन वृषे वर्णत्रयम्। एवमुत्तरत्रापि। वचनद्वये शादिपदेन शषस-हलक्षाणां वर्णानां ग्रहणम्, अं अः शषसहलक्षाश्च, कन्यायामष्टकं भवेदिति मन्त्रमुक्तावलीवचनात्। अत्र चतुर्भिर्यादिभिः सार्द्धं क्षकारश्चैव मीनगः इति प्रपञ्चसारवचनात् क्षकारस्यापि मीने प्रवेश इति राघवभट्टः। सकारस्योभयत्र सम्बन्धेऽपि मीने विचार आवश्यकः। क्षकारस्य तु कन्यायां विचार आवश्यकः बहुसम्मतत्वादिति तत्त्वम् ॥३०॥

इस कारिका का संकेत है कि कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग तथा यवर्ग— इन वर्णों के पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे तथा पाँचवें वर्ण के साथ यथाक्रम से मेषादि राशि में एक, दो, तीन, चार वर्ण तथा पाँच वर्ग जानना चाहिये। इस प्रकार प्रथम संकेत वाकार का 'व' ही 'य'वर्ग का चतुर्थ वर्ण है, इसलिये मेष में अकारादि चार वर्ण लिखे। द्वितीय संकेत है—'ल'। यह 'य' वर्ग का तृतीय वर्ण है। अतएव वृष में तीन वर्ण लिखे। 'र' शब्द 'य'वर्ग का द्वितीय वर्ण है। अतएव कर्क राशि में दो वर्ण लिखे। मिथुनादि में भी यही क्रम चलेगा। जैसे गो शब्द का गकार कवर्ग का तीसरा वर्ण है। इसलिये मिथुन में तीन वर्ण लिखा जायेगा। इसी प्रकार से संकेतित वर्ण जितने संख्या का वर्ण है, राशि के खाने में उतनी संख्या का वर्ण लिखे।

आगमकल्पद्रुम तथा शारदातिलक के वचन में शादि पद द्वारा श ष स ह ल क्ष वर्णसमूह का तात्पर्य है। अतएव कन्या में अं अः श ष स ह ल क्ष—ये आठ वर्ण लिखे जायेंगे। यह मन्त्रमुक्तावली का वचन है। इस चक्र में षादि (श ष स ह) वर्ण के साथ क्षकार मीन राशिगत होगा। इस प्रपञ्चसार के कथन के अनुसार क्षकार का भी मीन में प्रवेश होगा। यह विद्वान् राघवभट्ट भी कहते हैं। लकार का दोनों स्थल पर सम्बन्ध होने के कारण मीन में उसका विचार आवश्यक है तथा क्षकार का कन्या में विचार होना आवश्यक है। यही है मान्य तत्त्व।।३०।।

तथा च—अ आ इ ई मेषः। उ ऊ ऋ वृषः। ॠ ऌ ॡ मिथुनम्। ए ऐ कर्कटः। ओ औ सिंहः। अं अः श ष स ह ल क्षाः कन्या। कु तुला। चु वृश्चिकः। टु धनुः। तु मकरः। पु कुम्भः। य र ल वाः मीनः ॥३१॥

जैसे कि अ आ इ ई—ये चार मेष राशि के वर्ण हैं। उ ऊ ऋ- -तीन वृष राशि के वर्ण हैं। ॠ ऌ ॡ—ये तीन मिथुन राशि के वर्ण हैं। ए ऐ—ये दोनों कर्क राशि के वर्ण हैं। ओ औ—ये दोनों सिंह राशि के वर्ण हैं। अं अः श ष स ह ल क्ष—ये आठों कन्या राशि के वर्ण हैं। कवर्ग तुला राशि के वर्ण हैं। चवर्ग वृश्चिक राशि के वर्ण हैं। टवर्ग धनु राशि के वर्ण हैं। तवर्ग मकर राशि के वर्ण हैं। पवर्ग कुम्भ राशि के वर्ण हैं। य र ल व मीन राशि के वर्ण हैं।।३१।।

ततश्च—

स्वराशेर्मन्त्रराश्यन्तु गणनीयं विचक्षणैः।
राशीनां शुद्धता ज्ञेया त्यजेच्चक्रं मृतिं व्ययम् ॥३२॥

तदनन्तर अपनी राशि से मन्त्र की राशि के अन्त पर्यन्त विचारवान् साधक गणना करे। इससे मेषादि राशि की शुद्धता का ज्ञान होगा। मृत्यु राशि तथा व्ययराशि के मन्त्र का त्याग करे।।३२।।

स्वराशेरज्ञाने तु राशिचक्रानुसारेण स्वनामाद्यक्षरसम्बन्धिराशिं गृहीत्वा गणयेत्, साध्याद्यक्षरराश्यन्तं गणयेत् साधकाक्षरादिति रामार्चनचन्द्रिका-वचनात्, अज्ञाते राशिनक्षत्रे नामाद्यक्षरराशिते इति नारायणीयाच्च ॥३३॥

अपनी राशि का ज्ञान न रहने की स्थिति में राशिचक्र के अनुसार अपने नाम के प्रथमाक्षर से अपनी राशि का ज्ञान करे और उसके आधार पर गणना करे। इस प्रकार मन्त्र के प्रथमाक्षर की राशि से अपने नाम के अक्षर की राशिपर्यन्त गणना करे। ऐसा रामार्चन चन्द्रिका में कहा गया है। इस प्रकार का ही वचन नारायणीय तन्त्र में भी कहा गया है।।३३।।

यत् तु—

एक पञ्च नव बान्धवाः स्मृता द्वौ च षट् च दशमाश्च सेवकाः ।
वह्निरुद्रमुनयस्तु पोषका द्वादशाष्टचतुरस्तु घातकाः ॥३४॥

कहते हैं कि प्रथम, पञ्चम तथा नवम राशि वाले बन्धु होते हैं। अर्थात् यदि मन्त्र से साधक की राशि पञ्चम, नवम या प्रथम हो अथवा साधक से मन्त्र की राशि पञ्चम, नवम या प्रथम हो तो उनमें बन्धु सम्बन्ध होगा। इसी प्रकार द्वितीय, षष्ठ तथा दशम होने पर सेवक का (आपस में) सम्बन्ध होगा। इसी प्रकार तृतीय, एकादश, सप्तम राशि का सम्बन्ध परस्परतः पोषक होगा। द्वादश, अष्टम तथा चतुर्थ राशि का सम्बन्ध घातक कहा गया है।।३४।।

इति तद् विष्णुविषयम्, रामार्चनचन्द्रिकोक्तत्वात्। शक्तादौ तु—षष्ठाष्ठमद्वादशानि वर्जनीयानि देशिकैः, पूर्वोक्तवचनात् ॥३५॥

उपरोक्त कथन विष्णु-विषयक है (शक्ति-शैवविषयक नहीं है); क्योंकि यह वचन (वैष्णव ग्रन्थ) रामार्चनचन्द्रिका से लिया गया है। शाक्त दृष्टि से पूर्वोक्त वचनानुसार गुरु के लिये (उपदेशार्थ) षष्ठ, अष्टम तथा द्वादश राशि वर्जनीय है (चतुर्थ शाक्त दृष्टि से वर्जनीय नहीं है)।।३५।।

लग्नं धनं भ्रातृबन्धुपुत्रशत्रुकलत्रकाः ।
मरणं धर्मकर्मायिव्यया द्वादश राशयः ।
नामानुरूपमेतेषु शुभाशुभफलं दिशेत् ॥३६॥

इति शारदावचनाच्च।

ये सब राशि-स्थान हैं—लग्न, धन, मातृ, बन्धु, पुत्र, शत्रु, स्त्री, मरण, धर्म, कर्म, आय तथा व्यय। इनके नाम के अनुरूप इन स्थानों के फल का विचार करके इनमें स्थित राशि का विचार करके (ऊपर श्लोकों में लिखी विधि का अवलम्बन करके) शुभ तथा अशुभ फलों का विचार करे। यह शारदातिलक तन्त्र का वचन है।।३६।।

वैष्णवे तु शत्रुस्थाने बन्धुरिति बन्धुस्थाने शत्रुरिति च पाठः। तथा च तन्त्रराजे—

तेन मन्त्रादिवर्णेन नाम्नश्चाद्यक्षरेण च ।
गणयेद् यदि षष्ठं वाप्यष्टमं द्वादशन्तु वा ।
रिपुर्मन्त्राद्यवर्णः स्यात्तेन तस्याहितं भवेत् ॥३७॥

वैष्णव गण 'शत्रु' के स्थान पर 'बन्धु' पाठ करते हैं और 'बन्धु' के स्थान पर 'शत्रु' शब्द लगाते हैं। जैसा कि तन्त्रराज तन्त्र में कहा गया है कि उस मन्त्र के आदि वर्ण द्वारा एवं साधक के नाम के आदि वर्ण द्वारा गणना करनी चाहिये। यदि मन्त्र आदि का वर्ण षष्ठ, अष्टम अथवा द्वादश है तब वह मन्त्र तथा साधक का सम्बन्ध परस्परतः शत्रु का होगा। उससे अहित होगा।।३७।।

अत्र केचित् लग्नोऽतिक्लेशजनक इति वचनमागं पठन्ति ॥३८॥

कोई-कोई यहाँ लग्न की स्थिति अतिशय क्लेशजनक मानते हैं।।३८।।

अथ नक्षत्रचक्रम्

पिङ्गलातन्त्रे—

उत्तराद् दक्षिणाग्रान्तु रेखां कुर्याच्चतुष्टयीम्।
दशरेखाः पश्चिमान्ताः कर्त्तव्या वरवर्णिनि! ॥३९॥
अश्विन्यादिक्रमेणैव विलिखेत् तारकाः पुनः।
वक्ष्यमाणविधानेन तन्मध्ये वर्णकान् लिखेत् ॥४०॥
पक्षैक एक्किरूपावनिभुजशशियुगयुग्मभूयुग्मवक्षा,
युग्मैकद्वित्रिरूपानलशशिशशिभूद्व्येकपक्षाग्निवेदाः।
वर्णाः क्रमात् स्वरान्त्यौ तु रेवत्यंशगतावुभौ ॥४१॥

अब नक्षत्रचक्र के सम्बन्ध में कहते हैं। पिङ्गलातन्त्र में भगवान् कहते हैं कि उत्तर से दक्षिण की ओर चार रेखा खींचनी चाहिये। हे वरवर्णिनि! पश्चिम में अन्त होने वाली दस रेखा खींचे।

तदनन्तर अश्विन्यादि क्रम से तारकों को लिखे। पुनः पूर्व नियमानुसार उनमें वर्णों को लिखे। २७ नक्षत्रों के २७ कोष्ठों की प्रथम पंक्ति में अश्विनी कोष्ठ में २ (अ तथा आ), भरणी के कोष्ठ में एक (इ), कृत्तिका में तीन (ई उ ऊ), रोहिणी के कोष्ठ में चार (ऋ ॠ ऌ ॡ), मृगशिरा में एक (ए), आर्द्रा में एक (ऐ), पुनर्वसु में दो (ओ तथा औ), पुष्य में एक (क), आश्लेषा में दो (ख ग); द्वितीय पंक्ति के प्रथम कोष्ठ में दो (घ ङ), पूर्वफाल्गुनी में एक (च), उत्तरफाल्गुनी में दो (छ ज), हस्त में दो (झ ञ), चित्रा में दो (ट ठ), स्वाती में एक (ड), विशाखा में दो (ढ ण),अनुराधा में तीन (त थ द), ज्येष्ठा में एक (ध) स्थापित करे। तृतीय पंक्ति के प्रथम कोष्ठ में तीन (न प फ), पूर्वाषाढ़ा में एक (ब), उत्तराषाढ़ा में भी एक (भ), श्रवण में एक (म), धनिष्ठा में दो (य र), शतभिषा में एक (ल), पूर्वभाद्रपद में दो (व श), उत्तरभाद्रपद में तीन (ष स ह), रेवती में चार (ल क्ष अं अः) को क्रमानुसार लिखे। स्वरान्त के दो वर्ण अं अः रेवती में लिखे गये हैं।।३९-४१।।

निबन्धे—

प्रापलोभात् पटुः प्राज्यं रुद्रस्याद्रिरुरुः करम्।
लोकलोपे पटु प्रापः खलौ द्यौ तेषु भेदिताः।
वर्णाः क्रमात् स्वरान्त्यौ तु रेवत्यंशगतौ सदा॥४२॥

शारदातिलक (निबन्ध) में वररुचि के संकेतानुसार वर्णविन्यास का क्रम कहते हैं कि प्रा प लो भा त्प टू प्रा ज्यं रु द्र स्या द्रि रु रु क रं लो क लो प प टु प्रा प ख लौ द्यो—इस संकेतानुसार अश्विनी-प्रभृति २७ नक्षत्रों के कोष्ठ में अकारादि वर्णों को क्रमानुसार अंकित करे। स्वर के अन्तिम दो वर्ण रेवती नक्षत्र में ही लिखे जायेंगे।।४२।।

अत्रायं आकूतः—कू चू टू तू पू यवर्गाणां प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थाक्षरैरेकद्वित्रिचत्वारो वर्णा ग्राह्याः। सरेफाक्षरेण वर्णद्वयमात्रं बोध्यम्। स्वराः सर्वेऽविवक्षिताः। राघवभट्टास्त्वत्र संयुक्ताक्षरेषु अन्त्याक्षरं ग्राह्यमिति प्राहुः॥४३॥

यहाँ जो कुछ कहा गया, उसका तात्पर्य यह है कि क-च-त-ट-प-यवर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अक्षरों द्वारा एक, दो, तीन तथा चार वर्ण वरणीय हैं। रेफयुक्त अक्षर द्वारा वर्णद्वय ही वरणीय है। समस्त स्वर अविवक्षित रहते हैं। यहाँ राघव भट्ट ने कहा है कि ऊपर जो संकेत दिया है, उसमें संयुक्ताक्षर का अन्तिम वर्ण ही ग्राह्य है; जैसे कि ज्य में से य अथवा स्या में से केवल य ग्राह्य है।।४३।।

तथा—

दमा राम दमा देदो रा राम मदरा दवा।
दूरे राम मदारावी मामोदो गणनिर्णयः॥४४॥

इस कारिका में गणनिर्देश है। कारिका में प्रयुक्त 'द'कार द्वारा यथाक्रमेण देवगण, 'म' द्वारा मानुष गण, रेफ अथवा 'र' द्वारा राक्षस गण का संकेत दिया है। जैसे (१) अ आ वर्ण और अश्विनी देवगण है। (२) इ ई भरणी नक्षत्र मानुष गण है। (३) इसी प्रकार ई उ ऊ कृत्तिका नक्षत्र राक्षसगण है। (४) ऋ ॠ ऌ ॡ रोहिणी मानुष गण है। इसी प्रकार आगे के वर्णों का गण-निर्णय किया जा सकता है और स्वनक्षत्र तथा मन्त्रनक्षत्रानुसार गणना करे।।४४।।

मन्त्रनक्षत्रयोर्गणनिर्णये फलमाह॥४५॥

अब फल कहते हैं।।४५।।

स्वजातौ परमा प्रीतिर्मध्यमा भिन्नजातिषु।
रक्षोमानुषयोर्नाशो वैरं दानवदेवयोः॥४६॥

गणना में स्वजाति आने से परमा प्रीति, स्वजाति से भिन्न जाति का होने से मध्यमा प्रीति, राक्षस और मानुष होने से विनाश, देव तथा दानव होने से शत्रुता होगी।।४६।।

भिन्नजातिष्विति। देवमानुषयोरित्यर्थः। अत्रेदमवधेयम्—अभिलषितो मन्त्रो यदि राक्षसगणो भवति, साधको नरगणस्तदा त्याज्य एव। यदि तु मन्त्रो नरगणः साधको राक्षसगणः शुद्धमन्त्रान्तरञ्च न लभ्यते, तदा राक्षस-गणेनापि साधकेन नरगणो मन्त्रो ग्राह्यः। साधकस्य साध्यक्षतिक-रणासमर्थत्वादित्यस्माकीनं युक्तिप्रदर्शनम् ।।४७।।

भिन्न जाति का अर्थ है—जैसे देव तथा मनुष्य। यहाँ यह जानना चाहिये कि यदि मन्त्र राक्षसगण के अन्तर्गत है और साधक नरगण है, तब वह मन्त्र नहीं लेना चाहिये। यदि मन्त्र मनुष्यगणान्तर्गत हो तथा साधक राक्षसगण और अन्य मन्त्र की प्राप्ति नहीं हो रही हो, उस स्थिति में राक्षसगणान्तर्गत साधक के लिये नरगण मन्त्र ग्रहणीय है; क्योंकि साधक साध्य की क्षति नहीं कर सकता।।४७।।

तथा—

स्वनक्षत्रान्मन्त्र ऋक्षं गणनीयं विचक्षणैः ।
जन्मसम्पद्विपत्क्षेमः प्रत्यरिः साधको वधः ।
मित्रं परममित्रं च जन्मभाच्च पुनः पुनः ।।४८।।

और भी कहा गया है कि विचक्षण व्यक्ति अपने नक्षत्र से मन्त्र के नक्षत्र की गणना अपने नाम के प्रथमाक्षर, मन्त्र के प्रथमाक्षर का नक्षत्र ज्ञान करके करे। जहाँ जन्मनक्षत्र ज्ञात हो, वहाँ नाम के प्रथमाक्षर से जन्मनक्षत्र ज्ञान करने की आवश्यकता नहीं है। वह इस विधि से (जो पूर्व-पूर्व श्लोकों में कहीं गयी है) वह जन्म, सम्पदा, विपद, क्षेम, प्रत्यरि, साधक, वध, मित्र तथा परम मित्र की गणना पुनः-पुनः करे।।४८।।

तत्र जन्मतृतीयपञ्चमसप्तमानि वर्ज्यानि । यथा—

रसाष्टनवभद्राणि युगयुग्मगतान्यपि ।
इतराणि न भद्राणि ज्ञातव्यं तन्त्रकोविदैः ।।४९।।

इसमें जन्मनक्षत्र, तृतीय, पञ्चम तथा सप्तम नक्षत्र वर्जनीय है। राघव भट्ट का वचन है कि जन्मादि गणना में षष्ठ, अष्टम तथा नवम नक्षत्र शुभ एवं युग्म-युग्म स्थानगत नक्षत्र भी शुभ है। अन्य नक्षत्र शुभ नहीं है। यह तन्त्रविद्गणों द्वारा ज्ञात करने योग्य है।।४९।।

एतेन समत्वाच्छुभः विषमत्वादशुभ इति वचनाभावेऽप्यनुगतीकृत्या कथयतां मूर्खाणां भ्रमो निरस्तव्यः, नवमनक्षत्रस्य, भद्रत्वानुकीर्त्तनं हि तदा विरुद्धं स्यादिति। केचित् तु आद्यनक्षत्रमपि शुभमिच्छन्ति, विपद् वधः प्रत्यरिश्च परित्याज्या मनीषिभिरिति मन्त्रमुक्तावलीवचनात्। स्व-नक्षत्राज्ञाने तु स्वनामाद्यक्षरलब्धनक्षत्राद् गणयेत् ॥५०॥

(शास्त्र) वचन न रहने पर भी समत्व तथा विषमत्व रूप से अनुगत करके मूर्ख यह कहते हैं कि सम नक्षत्र शुभ है तथा विषम अशुभ है; इसके द्वारा उनका भ्रम खण्डित होगा। क्योंकि ऐसा होने पर नवम नक्षत्र के भद्रत्व का कीर्त्तन विरुद्ध हो जायेगा। 'विपद्, वध तथा प्रत्यरि की जो गणना होती है, वह मनीषीगण के लिये वर्जनीय है' इस मन्त्रमुक्तावली के वचन के अनुसार कोई-कोई आद्य नक्षत्र को शुभ मानते हैं। अपने नक्षत्र का ज्ञान न रहने पर अपने नाम के प्रथमाक्षर से नक्षत्र का ज्ञान करके नक्षत्र-गणना करनी चाहिये।।५०।।

प्रादक्षिण्येन गणयेत् साधकाद्यक्षरात् सुधीः ।

इति वचनात्—

प्रकटं यस्य जन्मर्क्षं तस्य जन्मर्क्षतो भवेत् ।
प्रनष्टं जन्मभः यस्य तस्य नामर्क्षतो भवेत् ॥५१॥

इति पिङ्गलातन्त्रवचनाच्च। प्रकटं प्रसिद्धम्। इति नक्षत्रचक्रम्।

मनीषीगण साधक के नामाक्षर से प्रदक्षिण क्रम से गणना करें। जिनका जन्मनक्षत्र है, वे जन्मनक्षत्र से गणना करें। जो जन्मनक्षत्र नहीं जानते, वे नामाक्षर के प्रथम वर्ण से नक्षत्र-गणना करें। पिंगला तन्त्र में कहा गया है कि प्रसिद्ध ही प्रकट होता है।।५१।।

अत्र तारामैत्रीविचारे गणमैत्री योनिमैत्री चावश्यं विचारणीया, तयो-र्नक्षत्रघटितत्वादिति राघवभट्टः। गणमैत्री प्रोक्ता। योनिमैत्री तु यथा श्रीपति-रत्नमालायम् ॥५२॥

अश्वेभाजफणिद्वयञ्च वृषभुग् मेषोतुकौ मूषिक-
श्चाखुर्गोः क्रमशस्ततोऽपि महिषी व्याघ्रः पुनः सैरभी ।
व्याघ्रेणौ मृगकुक्कुरौ कपिरथो वभ्रुद्वयं वानरः
सिंहोऽश्वो मृगराट् पशुश्च करिणी योनिश्च भानामियम् ॥५३॥

यहाँ राघव भट्ट का कथन है कि तारा-मैत्री विचार में गणमैत्री तथा योनिमैत्री का विचार भी आवश्यक है; क्योंकि ये दोनों नक्षत्र पर आधारित हैं। गणमैत्री के सम्बन्ध

में कहा जा चुका है। योनिमैत्री के सम्बन्ध में श्रीपति रत्नमाला में जो कहा गया है, उसे यहाँ संदर्भित किया जा रहा है। १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ नक्षत्र यथाक्रम से अश्व, हस्ती, मेष, सर्प, सर्प, कुत्ता, मेष, बिड़ाल, मूषक, मूषक तथा गो योनि हुये। १२, १३, १४, १५, १६, १७ संख्यक नक्षत्र की योनि यथाक्रम से महिष, व्याघ्र, गो, व्याघ्र, हरिण तथा हरिण योनि होगी। १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६ तथा २७ संख्यक नक्षत्र यथाक्रम से कुत्ता, वानर, नकुल, नकुल, वानर, सिंह, अश्व, सिंह, गो तथा हस्ति योनि होंगे।।५२-५३।।

विरोधस्तु—

गोव्याघ्रं गजसिंहमश्वमहिषं श्वैणञ्च वभ्रुरगं।
वैरं वानरमेषकञ्च सुमहन्मार्जारमूषस्तथा ।।५४।।

परस्परतः विरोधी योनि हैं (वैरी योनि)—गो-व्याघ्र, गज-सिंह, अश्व-महिष, कुत्ता-हरिण, नकुल-सर्प, वानर-मेष, विड़ाल-मूषक।।५४।।

लोकानां व्यवहारतोऽन्यदपि च ज्ञात्वा प्रयत्नादिदम् ।
दम्पत्योर्नृपभृत्ययोरपि सदा वर्ज्यं शुभस्यार्थिभिः ।।५५।।

इसके अतिरिक्त लोक-व्यवहार में भी अन्यान्य विरोध ज्ञान में आने पर उस विरुद्ध योनि का गणना में परित्याग करे। शुभ चाहने वाला व्यक्ति वर-कन्या में, राजा-नौकर में, प्रभु-भृत्य के विचार में वैर योनि वाले का त्याग करे।।५५।।

दम्पत्यादित्युपलक्षणं मन्त्रगुरुदेवताभिः शिष्यस्यापि बोध्यम् ।।५६।।

पूर्व श्लोक में दम्पति का ऊपर प्रयोग किया है। अर्थात् वर-कन्या। इसी प्रकार मन्त्र, गुरु, देवता के साथ शिष्य के उपलक्षण की भी गणना पूर्वोक्त रीति से करनी चाहिये।।५६।।

प्रकारान्तरम्—

छागौ तु कृत्तिका पुष्यौ पन्नगौ मृगरोहिणी ।
आर्द्रामूले शुनोरूपे मूषिकौ धनपित्र्यभौ ।।५७।।
सर्पादित्ये च मार्जारौ व्याघ्रो चित्राविशाखभौ ।
अर्यमाप्ये तथा गावौ मृगौ तु मित्रशत्रुभौ ।।५८।।
हस्तास्वाती च महिषौ तुरङ्गौ चाश्विवारुणौ ।
मर्कटो विष्णुविश्वर्क्षौ यामापौष्णौ मतङ्गजौ ।।५९।।
भगाहिर्ब्रध्नभौ सिंहौ नकुलोऽभिजिता सह ।
पूर्वभाद्रपदा चेति भानां योनिः प्रकीर्त्तिता ।।६०।।

प्रकारान्तर से कृत्तिका तथा पुष्य = छाग (बकरा) योनि। मृगशिरा तथा रोहिणी = सर्प योनि। आर्द्रा तथा मूल = कुक्कुर योनि। धनिष्ठा-मघा = मूषक योनि। अश्लेषा तथा पुनर्वसु = मार्जार (बिड़ाल) योनि। चित्रा-विशाखा = व्याघ्र योनि। उत्तरफाल्गुनी-पूर्वाषाढ़ा = गो योनि। अनुराधा-ज्येष्ठा = मृग योनि। हस्त-स्वाती = महिष योनि। अश्विनी-शतभिषा = अश्व योनि। श्रवण तथा उत्तराषाढ़ा = वानर योनि। भरणी-रेवती = हस्ति योनि। पूर्व फाल्गुनी (उत्तरभाद्र) पद = सिंह योनि। पूर्वभाद्रपद-अभिजित् = नकुल योनि। नक्षत्रों की यह योनियाँ कही गईं।।५७-६०।।

विरोधस्तु, गोव्याघ्रमित्यादिनोक्त एव अत्रापि शुद्धमन्त्राभावे गणमैत्री-वदुक्तयुक्तिरनुसन्धेयेति योनिमैत्रीविवेकः ॥६१॥

गो-व्याघ्र इत्यादि द्वारा इनके पारस्परिक विरोध को प्रदर्शित किया गया। यहाँ शुद्ध मन्त्र की प्राप्ति न होने से जैसे गणमैत्री प्रसंग में कहा गया है, उसी प्रकार से युक्ति का अनुसन्धान करना चाहिये। (इस ग्रन्थ में राशिचक्र की श्लोकसंख्या ४७ द्रष्टव्य है, जिसमें शुद्ध मन्त्र की प्राप्ति न होने पर विधान बताया गया है)। यही योनिमैत्री-विषयक विचार है।।६१।।

अथ अकथहादिचक्रम्। इदमेव सिद्धादिचक्रमुच्यते ॥६२॥

अब अकथहादि चक्र के विषय में कहते हैं, इसे ही सिद्धचक्र भी कहा गया है।।६२।।

शारदातिलके—

चतुरस्त्रे लिखेद् वर्णान् चतुःकोष्ठसमन्विते।
अकारादिहकारास्तान् स्वनामाद्यक्षरादितः।
सिद्धादीन् कल्पयेन् मन्त्री कुर्यात् सिद्धादिभिः पुनः ॥६३॥

षोडश कोणविशिष्ट चतुरस्त्र के एक-एक कोष्ठ में (एक कोष्ठ के पश्चात् एक छोड़कर तब अगले में) अकार से प्रारम्भ होकर हकार पर समाप्त होने वाले वर्ण को प्रदक्षिण क्रम से लिखे। अपने नाम के प्रथमाक्षर वाले कोष्ठ से प्रारम्भ करके उस कोष्ठ, जहाँ (प्राप्त करने वाले) मन्त्र का प्रथमाक्षर लिखा है, वहाँ तक सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध तथा शत्रु प्रभृति की कल्पना करे। पुनः सिद्धादि-सहित समूह की कल्पना करे।।६३।।

अत्र चतुःकोष्ठ षोडशकोष्ठ इति यावदित्येके। तन्न, अशब्दार्थात्। चतुःकोष्ठेत्यत्र एकशेषात् चतुःकोष्ठचतुष्टयलाभ इति वयम् ॥६४॥

यहाँ कोई विद्वान् चतु:कोष्ठ का अर्थ बताते हैं—षोडश कोष्ठ। यह समीचीन नहीं है; क्योंकि यह शब्दार्थ नहीं है अर्थात् चतु:कोष्ठ का अर्थ षोडश कोष्ठ नहीं है। इस स्थान पर एकशेष समास से एक चतु: शब्द का लोप करके चतु:कोष्ठ का चतुष्टय प्राप्त किया जाता है। यह मेरा मत है।।६४।।

यथा विश्वसारे—

चतुरस्त्रं लिखेद् वर्णान् चतु:कोष्ठसमन्विते ।
अकारादि हकारान्तान् स्वनामाद्यक्षरादित: ।
सिद्धादीन् कल्पयेन् मन्त्री कुर्यात् सिद्धादिभि: पुन: ।।६५।।

इति।

विश्वसार तन्त्र मतानुसार एक चतु:कोष्ठयुक्त चतुरस्त्र का अंकन करे। धीमान् व्यक्ति पुन: क्रमश: एक-एक कोष्ठ में चार-चार कोष्ठ का अंकन करे।।६५।।

तत्र षोडशकोष्ठे अकारादिहकारान्तवर्णान् प्रादक्षिण्येन लिखेत् ।।६६।।

इस षोडश कोष्ठ में अकार से हकार-पर्यन्त वर्णों को प्रदक्षिण क्रम से लिखे।।६६।।

तत्र क्रम:—

इन्द्वोग्निरुद्रनवनेत्रयुगार्कदिक्ष
ऋत्वष्टषोडशचतुर्दशभौतिकेषु
पातालपञ्चदलवह्निहिमांशुकोष्ठे
वर्णान् लिखेल्लिपिभवान् क्रमशस्तु धीमान् ।।६७।।

कोष्ठचतुष्टय के प्रथम कोष्ठ में 'अ' लिखे। तृतीय कोष्ठ में आ लिखे। एकादश कोष्ठ में इ, नवम कोष्ठ में ई, द्वितीय कोष्ठ में उ, चतुर्थ कोष्ठ में ऊ, द्वादश कोष्ठ में ऋ, दशम कोष्ठ में ॠ, षष्ठ कोष्ठ में ऌ, अष्टम कोष्ठ में ॡ, षोडश कोष्ठ में ए, चतुर्दश कोष्ठ में ऐ, पञ्चम कोष्ठ में ओ, सप्तम कोष्ठ में औ, पन्द्रहवें कोष्ठ में अं, तेरहवें कोष्ठ में अ:—इस प्रकार से धीमान् व्यक्ति षोडश कोष्ठों में षोडश स्वर लिखकर पुन: उक्त नियमानुसार वर्णलिपि के अन्तर्गत अन्य वर्णों को लिखे।।६७।।

नामाद्यक्षरमारभ्य यावद् मन्त्रादिमाक्षरम् ।
चतुर्भि: कोष्ठैरेकैकमिति कोष्ठचतुष्टयम् ।।६८।।

विश्वसारतन्त्र में ही कहते हैं कि चार-चार कोष्ठों द्वारा एक-एक कोष्ठचतुष्टय होता है। इसे ही कोष्ठचतुष्टय कहते हैं। नाम के प्रथम अक्षर से प्रारम्भ करके (दक्षिणा-वर्त्त क्रमानुसार) मन्त्र के प्रथम अक्षर-पर्यन्त चार कोष्ठों में एक-एक वर्ण को लिखता जाय, इससे कोष्ठचतुष्टय सम्यक् रूप से तैयार हो जाता है।।६८।।

तत्रैव—

अकारादिहकारान्तान् मूलकोष्ठादितः सुधीः।
पुनः कोष्ठगकोष्ठेषु सव्यतो नाम्न आदितः ॥६९॥

वहीं कहा गया है कि साधक प्रथम कोष्ठ के प्रारम्भ से 'अ' से 'ह' पर्यन्त वर्णों को लिखे। पुनः कोष्ठगत कोष्ठसमूह में प्रदक्षिण क्रमानुसार नाम के प्रथमाक्षर से (प्रारम्भ करके) वर्णों को लिखे।।६९।।

सव्यतो दक्षिणतः। यथा विश्वसारे—

दक्षिणावर्तयोगेन कोष्ठे वर्णान् लिखेत् क्रमात्।
येनैव लिखनं कुर्यात् तेनैव गणनं स्मृतम्।
सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिः क्रमाज्ज्ञेयो विचक्षणैः ॥७०॥
सिद्धः सिध्यति कालेन साध्यस्तु जपहोमतः।
सुसिद्धो ग्रहणादेव रिपुर्मूलं निकृन्तति ॥७१॥

सव्यतः का अर्थ है—दक्षिण क्रम से। विश्वसार तन्त्र में कहते हैं कि दक्षिणावर्त्त क्रम से कोष्ठों में वर्णों को क्रमानुसार लिखे। जिस क्रम से लिखा जायेगा, उसी क्रम से गणना होगी। विद्वान् व्यक्ति कोष्ठगत वर्णों को यथाक्रम से सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध तथा अरि (शत्रु) कहते हैं। कोई मन्त्र ग्रहण का कैसा फल देता है, यह कहा जा रहा है। सिद्ध मन्त्र यथाकाल सिद्ध हो जाता है (ग्रहणकाल में ही सिद्ध हो जाता है)। साध्य मन्त्र होमादि से सिद्ध होता है। सुसिद्ध मन्त्र मन्त्रग्रहण करते ही सिद्ध हो जाता है। अरि मन्त्र वंश का विनाश करता है।।७०-७१।।

तन्त्रान्तरे परिभाषान्तरं यथा—

सिद्धार्णा बान्धवाः प्रोक्ताः साध्यास्ते सेवकाः स्मृताः।
सुसिद्धाः पोषका ज्ञेयाः शत्रवो घातकः स्मृताः ॥७२॥
जपेन बन्धुः सिद्ध स्यात् सेवकोऽधिकसेवया।
पुष्णाति पोषकोऽभीष्टं घातको नाशयेद् ध्रुवम् ॥७३॥

तन्त्रान्तर में इसकी परिभाषा अन्य प्रकार से की गयी है। जैसे सिद्ध वर्ण बान्धव, साध्य वर्ण सेवक, सुसिद्ध वर्ण पोषक तथा अरि वर्ण घातक कहे जाते हैं। जप से बन्धु वर्ण सिद्ध होता है। सेवक वर्ण अधिक सेवा द्वारा सिद्ध होता है। पोषक वर्ण अभीष्ट फल का पोषण करता है। घातक वर्ण वंश-नाश करता है।।७२-७३।।

तथा—

सिद्धसिद्धो यथोक्तेन द्विगुणात् सिद्धसाध्यकः।
सिद्धसुसिद्धोऽर्द्धजपात् सिद्धारिर्हन्ति बान्धवान् ॥७४॥

साध्यसिद्धो द्विगुणकः साध्यसाध्यो निरर्थकः ।
तत् सुसिद्धो द्विगुणजपात् साध्यारिर्हन्ति बान्धवान् ।।७५।।

इस प्रसंग में और भी कहा गया है सिद्धसिद्ध कोष्ठगत वर्ण यथोक्त जप से सिद्ध होता है। सिद्धसाध्य कोष्ठगत वर्ण दूने जप से सिद्ध होता है। सिद्धसुसिद्ध कोष्ठगत वर्ण आधे संख्या में जप करने से सिद्ध हो जाता है (अर्थात् विहित संख्या से आधा जप)। सिद्धारि कोष्ठगत वर्ण मन्त्र बन्धु-बान्धव का विनाश कर देता है। साध्यसिद्ध कोष्ठगत वर्ण दूने जप से, साध्य-साध्य कोष्ठगत वर्ण का जप ही व्यर्थ है। साध्य सुसिद्ध कोष्ठगत वर्ण दूने जप से सिद्ध होगा। साध्य-अरि कोष्ठगत वर्ण बान्धवगण का नाश करता है।।७४-७५।।

सुसिद्धः सिद्धोऽर्द्धजपात् तत्साध्यो द्विगुणाधिकात् ।
तत् सुसिद्धो ग्रहादेव सुसिद्धारिः सगोत्रहा ।।७६।।
अरिसिद्धः सुतान् हन्यादरिसाध्यस्तु कन्यकाः ।
तत् सुसिद्धस्तु पत्नीघ्नस्तदरिर्हन्ति साधकम् ।।७७।।

सुसिद्ध-सिद्ध कोष्ठगत मन्त्र आधे जप से सिद्ध होते हैं। सुसिद्ध-साध्य गृह (कोष्ठ) स्थित मन्त्र द्विगुण से भी अधिक जप से सिद्ध होते हैं। सुसिद्ध-सिद्ध कोष्ठगत मन्त्र ग्रहण करने मात्र से तत्काल सिद्ध हो जाते हैं। सुसिद्ध-अरि कोष्ठगत मन्त्र बन्धु-बान्धवों का नाश कर देते हैं।।७६-७७।।

तदयं निष्कर्षः। षोडशकोष्ठकं चक्रं विलिख्य तत्र यथोक्तक्रमेणाकारादि-हकारान्तवर्णांल्लिखेत्। लिखनानुक्रमेण गणयेत् । यथा अकारात् परं आकारो लिखितस्तत्र इकारस्तत ईकारस्तेन अकारादि यस्य नाम तस्याद्यं कोष्ठमादाय कोष्ठचतुष्कं सिद्धाख्यम्। आकारविशिष्टं तृतीयकोष्ठ-मादाय चतुष्कं साध्याख्यम्। इकारविशिष्ट एकादशकोष्ठमादाय चतुःकोष्ठं सुसिद्धाख्यम्। ईकारविशिष्टं नवमकोष्ठमादाय चतुष्कं अर्घ्याख्यम्। तेष्वपि अवत्कोष्ठं सिद्धसिद्धम्। उ-मत् सिद्धसाध्यम्। ऌमत् सिद्धसुसिद्धम्। ओमत् सिद्धारिः। आवत् साध्यसिद्धम्। ऊमत् साध्यसाध्यम्। ॡमत् साध्य-सुसिद्धम्। औमत् साध्यारिः। इमत् सिद्धसुसिद्धसिद्धम्। ऋमत् सुसिद्ध-साध्यम्। एमत् सुसिद्धसुसिद्धम्। अंवत् सुसिद्धारिः। ईमत् अरिसिद्धम्। ॠमत् अरिसाध्यम्। एमत् सुसिद्धसुसिद्धम्। अंवत् सुसिद्धारिः। ईषत् अरिसिद्धम्। ॠमत् अरिसाध्यम्। ऐमदरिसुसिद्धम्, विसर्गवदर्यारिः। एवं कादि, षादि, हादि नाम्नोऽपि ।।७८।।

इसका निष्कर्ष यह है कि षोडश (१६) कोष्ठ का एक चक्र लिखे और उसमें यथोक्त क्रम से अकार से लगाकर 'ह' पर्यन्त समस्त वर्णों को लिखे। लिखे गये अनुक्रम से गणना करे। जैसे अकार के अनन्तर 'आ' लिखा गया है, तत्पश्चात् क्रमश: इ तथा ई को लिखा जाय। इसी प्रकार आगे तक लिखे। उदाहरणार्थ जिसके नाम का प्रथम अक्षर 'अ' है, उसके लिये प्रथम से लेकर चतुर्थ कोष्ठ तक सिद्धि नामक कोष्ठ हैं। 'इ'कार से लेकर आगे के तीन कोष्ठ = ४ कोष्ठ सुसिद्ध कोष्ठ हैं (उसके लिये)। 'ई' को प्रथम गिनकर ४ कोष्ठ अरि कोष्ठ हैं। इसमें भी अकारविशिष्ट कोष्ठ सिद्धसिद्ध, 'उ'कारविशिष्ट कोष्ठ सिद्धसाध्य, 'लृ'कारविशिष्ट सिद्ध-सुसिद्ध, 'ओ'कारविशिष्ट सिद्धारि उसके लिये हैं। 'आ'-विशिष्ट साध्यसिद्ध, 'ऊ'-विशिष्ट साध्यसाध्य, 'लॄ'कार विशिष्ट साध्यसुसिद्ध, 'औ'युक्त साध्यारि, 'ह'कारविशिष्ट सुसिद्ध-सिद्ध, 'ऋ'कारविशिष्ट सुसिद्धसाध्य, 'ए'कारविशिष्ट सुसिद्धसुसिद्ध है। 'अं' विशिष्ट सुसिद्धारि है। ईकारविशिष्ट अरिसिद्ध, ऋकारविशिष्ट अरिसाध्य, 'ऐ'कारविशिष्ट अरि सुसिद्ध। ':' रूपी विसर्गविशिष्ट अरिअरि है। कादि, षादि, हादि नाम के सम्बन्ध में भी ऐसा ही जानना चाहिये।।७८।।

उकारादिनाम्नश्च उकार: सिद्धसिद्ध:। ऊकार: साध्यसिद्ध:। ऋकार: सुसिद्धसिद्ध:। ॠकारो अरिसिद्ध: इति क्रमेण। गकारादिनाम्नश्च गकार: सिद्धसिद्ध:। घकार: साध्यसिद्ध:। ङकार: सुसिद्धसिद्ध:। चकार: अरिसिद्ध इति क्रमेण दक्षिणावर्त्तयोगेन गणयेत्। अरिमात्रं साध्यसाध्यञ्च वर्जयेत् ॥७९॥

'उ'कारादि स्वरों में 'उ' सिद्धसिद्ध है। 'ऊ' साध्यसिद्ध, ऋ सुसिद्धसिद्ध, 'ॠ' अरिसिद्ध—इस क्रम से गणना करनी चाहिये। अरि तथा साध्यसाध्य का त्याग करना चाहिये।।७९।।

इदमत्रावधेयम्—साधकानामाद्यक्षरमादिकोष्ठे विलिख्योक्तक्रमेण वर्णसंस्थाने कृते सिद्धसाध्यादिगृहं सुव्यक्तमेव ज्ञायते। तावतैव चक्रस्य सिद्धासिद्धत्वसम्भवश्च। अकथहादिसंज्ञा तु अकथहादिनामस्थले एव घटते। विशेषस्तु हकारकोष्ठे हकाराकारोभयमेकदैव लेख्यम्। तावतैव अकथहानामात्रकल्पे सहपातो भवतीति रहस्यम् ॥८०॥

यहाँ मनोयोग-सहित यह जानना है कि साधक के नाम का प्रथमाक्षर प्रथम कोष्ठ में लिखकर उक्त क्रम से वर्ण-विन्यास करने पर सिद्ध-साध्यादि गृह को स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। इसी के द्वारा चक्र का सिद्धासिद्धत्व भी सम्भव हो जाता है। अ क थ हादि नाम अपने ही स्थान पर सम्भव होते हैं। विशेषत 'ह' के कोष्ठ में एक साथ ही सम्भव हो जाते हैं। इसके द्वारा ही अ क थ ह समूह की इस विधि में साथ-साथ स्थिति (सह सन्निवेश) हो जाता है, यही रहस्य है।।८०।।

मन्त्रमुक्तावल्यां रामार्चनचन्द्रिकायामपि प्रत्यक्षरं सिद्धादिशोधनमुक्तम्।

मन्त्रमुक्तावली तथा रामार्चनचन्द्रिका में भी प्रत्येक अक्षर का सिद्धादि शोधन कहा गया है।।८१।।

यथा पिङ्गलातन्त्रे—

पितृमातृकृतं नाम यद्वाऽप्यभिजनैस्तथा।
विश्लिष्य तस्य वै वर्णान् स्वरव्यञ्जनभेदतः।
तथैव मन्त्रवर्णानि ततः शोधनमारभेत्॥८२॥
बिन्दुद्विबिन्दूपध्मानीयजिह्वामूलसम्भवम्।
संहतोच्चारणप्राप्तमधिकाक्षरमेव च॥८३॥

संहतोच्चारणं द्विरुक्तम्।

जैसा पिङ्गलातन्त्र में कहते हैं कि पिता तथा माता ने जो नाम प्रदान किया है अथवा बन्धुगण जिस नाम से पुकारते हैं, उस नाम का स्वर-व्यञ्जन विभाग करके मन्त्र के वर्णों का उसी प्रकार विभाग करे और शोधन प्रारम्भ करे।

बिन्दु (.), द्विबिन्दु (:), उपध्मानीय वर्ण, जिह्वामूलीय वर्ण, संहतोच्चारण वर्ण, अधिकाक्षर वर्ण—ये विभाग होते हैं (संहतोच्चारण = द्विरुक्त)।।८२-८३।।

तथा—

अपभ्रंशाक्षरं लक्षौ हित्वा षण्डचतुष्टयम्।
मन्त्राक्षरैः सहैकैकं नामवर्णान् विशोधयेत्॥८४॥
व्यञ्जनैर्व्यञ्जनान्येव स्वरैः साकं स्वरांस्तथा।
आद्यामाद्येन संशोध्य द्वितीयेन द्वितीयकम्॥८५॥
मन्त्रे वाप्यथवा नाम्नि वर्णाः स्युर्विषमा यदा।
तदा मन्त्रं समारभ्य समं यावद् विशोधयेत्॥८६॥

और इस प्रकार से अपभ्रंशाक्षर, ल, क्ष तथा क्लीब (नपुंसक) चतुष्टय का त्याग करके एक-एक मन्त्राक्षर समूह के साथ एक-एक नामवर्णों का शोधन करे। व्यञ्जन वर्ण- समूह के साथ व्यञ्जन वर्णसमूह का तथा स्वर वर्णसमूह के साथ स्वर वर्णसमूह का अर्थात् प्रथम के व्यञ्जन के साथ प्रथम स्वर का, इसी प्रकार द्वितीय व्यञ्जन के साथ द्वितीय स्वर का शोधन करे। मन्त्र तथा नाम के वर्ण जब परस्परतः विषम हों तब मन्त्र से आरम्भ करके समान पर्यन्त शोधन करना चाहिये।।८४-८६।।

आद्यन्तयोः सिद्धवर्णौ मन्त्रे यस्मिन् वरानने।
अचिरेणैव कालेन स भवेत् सर्वसिद्धिदः॥८७॥

साध्यर्णादियुतो यश्च अतिकृच्छ्रेण सिध्यति ॥८८॥
आदावन्ते रिपुर्यस्य भवेत्त्याज्यः सः मन्त्रकः ।
स्थानत्रयगतारिर्यो मन्त्रो मृत्युसमो मतः ॥८९॥

भगवान् कहते हैं कि हे वरानने! जिस मन्त्र के आदि तथा अन्त में सिद्धवर्ण होते हैं, वह कम समय में ही समस्त सिद्धि देता है। जो मन्त्र साध्यवर्ण-युक्त होते हैं, वे अत्यन्त कष्ट से सिद्ध हो पाते हैं। जिस मन्त्र के आदि तथा अन्त में सुसिद्ध वर्ण होते हैं वह समस्त कामना की पूर्त्ति करता है और ऐश्वर्य प्रदान करता है। जिस मन्त्र के आदि तथा अन्त में अरिवर्ण होता है, उसका त्याग करना ही उचित है। जिस मन्त्र के आदि, अन्त तथा मध्य में अरिवर्ण होता है, वह मृत्यु के समान कष्टप्रद होता है।।८७-८९।।

शत्रुर्भवति यद्यादौ मध्ये सिद्धस्तदन्तके साध्यः ।
कष्टेन कार्यसिद्धिस्तस्य फलं स्वल्पफलमेवान्ते ॥९०॥
अन्ते यदि भवति रिपुः प्रथमे मध्ये च भवति साध्ययुक् ।
कार्यं विलम्बितं स्यात् प्रणश्यति च सर्वमेवास्ते ।
सिद्धं सुसिद्धमथवा रिपुणास्तरितं परित्यजेद् यत्नात् ॥९१॥

यदि मन्त्र के आदि में अरि वर्ण, मध्य में सिद्ध वर्ण तथा अन्त में साध्य वर्ण हो तब उस मन्त्र से कष्ट से कार्यसिद्धि होती है; परन्तु फल अत्यन्त अल्प होता है। मन्त्र के अन्त में अरिवर्ण तथा आदि एवं मध्य में साध्यवर्ण युक्त हो तब कार्य विचलित हो जाता है और अन्त में सब कुछ नष्ट हो जाता है। यदि मन्त्र का सिद्ध वर्ण अथवा सुसिद्ध वर्ण अरि वर्ण द्वारा व्यवहित हो तब उसका यत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिये।।९०-९१।।

यहाँ तात्पर्य यह है कि साधक के नाम के अक्षर तथा व्यञ्जनों को पृथक् करके अनुस्वार, विसर्ग, उपध्मानीय, जिह्वामूलीय, द्विरुक्त, मन्त्रवर्ण के शेष तथा अधिक वर्ण, अपभ्रंश वर्ण, लकार तथा क्षकार तथा लकार, ऋ ॠ, ऌ ॡ, षण्ड वर्ण चतुष्टय का परित्याग करके अवशिष्ट अक्षरों को लिखे। इस प्रकार अनुस्वारादि रचित मन्त्रों को लिखे। तत्पश्चात् एक-एक वर्ण के साथ एक-एक वर्ण का शोधन करे। नाम के प्रथम व्यञ्जन के साथ मन्त्र का प्रथम व्यञ्जन, इसी प्रकार नाम के द्वितीय व्यञ्जन के साथ मन्त्र के द्वितीय व्यञ्जन को लिखे। ऐसा ही स्वरों के साथ भी करे अर्थात् नाम के प्रथम स्वर के साथ मन्त्र के प्रथम स्वर का शोधन करे।

यदि तु मन्त्रापेक्षया नाम्नः नामापेक्षया मन्त्रस्य वा वर्णाः अधिकाः

स्युस्तदा यावत् पर्यन्तं समता, तावत् पर्यन्तं वर्णान् शोधयेत्। शेषवर्णानां शोधनाभावेऽपि न क्षतिः। आदिमध्यान्तविभागश्च समतापर्यन्ताक्षराणामेव। आद्यन्तयोः सिद्धवर्णत्वे झटिति सिद्धिः। आदौ साध्यार्णः शेषो सिद्धश्चेति कृच्छ्रेण। आदावन्ते सुसिद्धः सर्वकामदः। आदावन्ते रिपुस्त्याज्यः। आदौ मध्येऽन्ते चाऽरिवर्णश्चेन् मृत्युः। आदौ शत्रुर्मध्ये सिद्धः शेषे साध्यश्चेत् कष्टात् कार्यसिद्धिः, शेषे स्वल्पफलम्। शेषे शत्रुः प्रथमे मध्ये च साध्यस्तदा विलम्बेन कार्यसिद्धिः शेषे स्वल्पफलम्। शेषे शत्रुः प्रथमे मध्ये च साध्यस्तदा विलम्बेन कार्यसिद्धिः शेषे प्रणश्यति। सिद्धः सुसिद्धो वा अरिद्वयं मध्यगतश्चेत् त्याज्यः। एवमेव राघवभट्टः ।।९२।।

यदि मन्त्र की अपेक्षा नाम अथवा नाम की अपेक्षा मन्त्र के वर्ण अधिक होते हैं तो उस स्थिति में जहाँ तक दोनों के वर्ण समान होते हैं, उतनी ही संख्या के वर्णों का शोधन करे। यदि बाकी बचे वर्णों का शोधन नहीं होता, तब भी कोई क्षति नहीं है। जहाँ तक दोनों के वर्णों की समता है, वहीं तक आदि, मध्य तथा अन्त्य का विभाग होता है। आदि तथा अन्त में सिद्ध वर्ण होने पर सहसा सिद्धि मिलती है। आदि में साध्यवर्ण तथा अन्त में सिद्ध वर्ण की स्थिति में कष्ट से सिद्धि मिलती है। आदि तथा अन्त में सुसिद्ध वर्ण होने पर मन्त्र सर्वफलप्रद एवं कामप्रद होता है। आदि तथा अन्त में अरिवर्ण की स्थिति मन्त्र का त्याग कर देना चाहिये। आदि, मध्य तथा अन्त में अरिवर्ण का फल है—मृत्यु। आदि में अरि, मध्य में सिद्ध तथा अन्त में साध्य वर्ण होने पर कार्यसिद्ध होती है); परन्तु कष्ट से सिद्ध होता है। अन्त में स्वल्प फल मिलता है। यदि अन्त में अरि, प्रथम तथा मध्य में साध्यवर्ण हो, तब विलम्ब से कार्य सिद्ध होगा; परन्तु अन्त में विनाश! होगा। यदि सिद्धवर्ण अथवा सुसिद्ध वर्ण अरिवर्ण द्वय के मध्यगत हों, उस स्थिति में उस मन्त्र का त्याग करना ही उचित होगा। इस प्रकार से राघव भट्ट ने कहा हैं।।९२।।

अथांशचक्रम्

यथा राघवभट्टः—

अथवान्यप्रकारेण वच्मि मन्त्रांशकं मनाक्।
अकारादिहकारान्तं मातृकाक्षरसञ्चयम् ॥१॥
एकैकार्णान् क्रमान् न्यस्य चतुष्कोष्ठेषु मन्त्रवित्।
सिद्धसाध्यं सुसिद्धञ्च वैरिणं गणयेत् क्रमात् ॥२॥
यत्र तत्र भवत्यर्णा नाममन्त्रसमुद्भवाः।
सिद्धसाध्यादिभेदेन मन्त्रैस्तैर्मन्त्रमादिशेत् ॥३॥
सिद्धः सिध्यति कालेन साध्यस्तु जपहोमतः।
सुसिद्धां ग्रहणादेव रिपुर्मूलं निकृन्तति ॥४॥

अंशचक्र—राघवभट्ट कहते हैं कि अन्य प्रकार से अल्प रूप से मन्त्रों का अंशचक्र कहा जा रहा है। मन्त्र का ज्ञाता साधक चार कोष्ठों में अकार से हकार-पर्यन्त मातृकावर्ण समूह को लिखे। एक-एक वर्ण का क्रम से विन्यास करके क्रमशः सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध तथा अरि की गणना करे। सिद्ध-साध्यादि भेद से जहाँ-जहाँ नाम तथा मन्त्र के वर्ण हों (वर्ज्य न हों) उन-उन वर्णों से विशिष्ट रूप से घटित मन्त्रों का शिष्य को उपदेश करे। सिद्ध मन्त्र यथाकाल (तत्काल) सिद्ध होते हैं। साध्य मन्त्र जप-होमादि से सिद्ध होते हैं। अरिमन्त्र वंश का नाश करते हैं।।१-४।।

वायवीयतन्त्रे—

स्थानस्थाः सिद्धिदा मन्त्रा ध्यानस्थाश्च फलप्रदाः।
स्थानध्यानपरिभ्रष्टा सुसिद्धा अपि वैरिणः।
साधकाख्याक्षरं स्थानं ध्यानं तस्य तृतीयकम् ॥५॥

एतावता सिद्धसुसिद्धावेव ग्राह्यौ।

वायवीयतन्त्र में कहते हैं कि स्थानस्थित मन्त्र सिद्धिप्रद होते हैं। ध्यानस्थित मन्त्र फलप्रद होते हैं। सुसिद्ध मन्त्र भी स्थान तथा ध्यान से भ्रष्ट होने पर शत्रु हो जाते हैं। साधक के नाम का प्रथम अक्षर है—स्थान तथा उससे तृतीय होता है—ध्यान।।५।।

(इससे यह ग्राह्य होता है कि सिद्ध तथा सुसिद्ध मन्त्र ही लेना चाहिये)।

सिद्धसारस्वते—

नृसिंहार्कवराहाणां प्रसादप्रणवस्य च।
सपिण्डाक्षरमन्त्राणां सिद्धादीन् नैव शोधयेत् ॥६॥
स्वप्ने लब्धे स्त्रिया दत्ते मालामन्त्रे च त्र्यक्षरे।
वैदिकेषु च मन्त्रेषु सिद्धादीन् नैव शोधयेत् ॥७॥

सिद्धसारस्वत तन्त्र में कहते हैं कि नृसिंह, सूर्य, वराह, प्रसाद, प्रणव तथा सपिण्डाक्षर मन्त्रसमूह में सिद्धादि का शोधन नहीं करना चाहिये। स्वप्न में प्राप्त, स्त्री द्वारा (महिला द्वारा) प्रदत्त मन्त्र, तीन अक्षर वाले मन्त्र, मालामन्त्र तथा वैदिक मन्त्र का सिद्धादि शोधन नहीं किया जाता।।६-७।।

सपिण्डाक्षरेति। बह्वक्षरकूटघटितेत्यर्थः।

सपिण्डाक्षर मन्त्र = बहुत से अक्षरकूट से घटित (संयोजित) मन्त्र।

अन्यत्र—

एकाक्षरस्य मन्त्रस्य मालामन्त्रस्य पार्वति।
वैदिकस्य च मन्त्रस्य सिद्धादीन् नैव शोधयेत् ॥८॥

अन्यत्र भगवान् कहते हैं कि हे पार्वति! एकाक्षर मन्त्र, मालामन्त्र तथा वैदिक मन्त्रों का सिद्धादि शोधन नहीं होता।।८।।

वाराहीतन्त्रे—

विंशत्यर्णाधिका मन्त्रा मालामन्त्रा प्रकीर्त्तिताः ॥९॥

वाराहीतन्त्र में कहते हैं कि बीस वर्ण से अधिक वर्ण वाले मन्त्र को मालामन्त्र कहते हैं।।९।।

तन्त्रान्तरे—

नपुंसकस्य मन्त्रस्य मालामन्त्रस्य सुन्दरि।
हंसस्याष्टाक्षरस्यापि तथा पञ्चाक्षरस्य च।
एकद्वित्र्याणि बीजस्य सिद्धादीन् नैव शोधयेत् ॥१०॥

भगवान् अन्य तन्त्र में कहते हैं कि हे सुन्दरि! नपुंसक मन्त्र, मालामन्त्र, अष्टाक्षर हंसमन्त्र, पञ्चाक्षर मन्त्र, एकाक्षर मन्त्र, दो अक्षर के मन्त्र का सिद्धादि शोधन नहीं करना चाहिये।।१०।।

तन्त्रे हुंफड़न्ता नपुंसकाः। अत्र हुङ्कारः पञ्चमस्वरवान्। हंसस्य अजपाख्यसूर्यमन्त्रविशेषस्य। एतदादिवचनादेतेषु सिद्धादिचक्रविचारो नास्त्येव ॥११॥

तन्त्र में 'हुं फट्' जिस मन्त्र के अन्त में हो, वे नपुंसक हैं। हुंकार पञ्चम स्वर है। यह 'उ'कार युक्त है। हंसः का अर्थ है—अजपानामक सूर्य मन्त्र। इस सबसे ज्ञात होता है कि इन सब मन्त्रों का सिद्धादि विचार नहीं किया जाता।।११।।

वस्तुतस्तु तत्तद् वचनानां प्रशंसापरतया विचारस्यावश्यकत्वमिति साम्प्रदायिकाः। वयन्तु चक्रशुद्धिसत्त्वे सर्वं साधु भवति, तदसत्त्वे तु वाचनिकतया दूषणानवकाशः। अन्यथा तत्तद् वचनवैयर्थ्यादिति क्रमः ।।१२।।

वास्तव में इन-इन वचनों में उन-उन मन्त्रों की प्रशंसा के तात्पर्य के विचार की आवश्यकता है। यह साम्प्रदायिकगण कहते हैं। मेरा यह मत है कि चक्रशुद्धि हो जाने पर सब कुछ अच्छा हो जाता है; अन्यथा पूर्वोक्त निषेध वचन ही नहीं रहता और लोग निषेध वचन को व्यर्थ समझते ।।१२।।

अथ अकडमचक्रम्

तन्त्रे—

रेखाद्वयं पूर्वपरेण कुर्यात् तन्मध्यतो याम्यकुबेरभेदात्।
महेशरक्षोऽधिपतिक्रमेण तिर्यक् ततो वायुहुताशनेन ।।१३।।

अब अकडम चक्र का वर्णन किया जा रहा है। तन्त्र में कहा गया है कि पहले पूर्व-पश्चिम में समान अन्तराल (दूरी) पर दो सरल रेखा खींचना चाहिये, जिसके मध्य में उत्तर तथा दक्षिण की ओर दो रेखायें और खींचे। तदनन्तर ईशान और नैर्ऋत्य कोण में कोण के आकृति की दो रेखा खींचनी चाहिये और ऐसी ही दो रेखा वायु तथा अग्नि कोण में (कोण के आकृति की) खींचे। जैसे राशिचक्र में होता है।।१३।।

अकारादीन् क्षकारान्तान् क्लीबहीनान् लिखेत्ततः।
एकैकक्रमतो लेख्या मेषादिषु वृषान्तकाः ।।१४।।
गणयेत् क्रमशो भद्रे! नामादिवर्णकादिमान्।
मेषादितो हि मीनान्तं गणयेत् क्रमशः सुधीः ।।१५।।

तदनन्तर नपुंसक वर्णों को छोड़कर शेष वर्ण (अ से क्षः पर्यन्त) को लिखे। मेष, मीन, कुम्भ, मकर, धनु, वृश्चिक, तुला, कन्या, सिंह, कर्क, मिथुन, वृष—इस क्रम से लिखना चाहिये। (यह सब कोष्ठों में लिखना है, जो रेखाओं से बने हैं)। भगवान् कहते हैं कि हे भद्रे! अब क्रमानुसार अपने नाम के वर्णसमूह (नाम के प्रथमाक्षर से प्रारम्भ करके) गणना करे। सुधी साधक मेष से मीनपर्यन्त क्रम से गणना करे।।१४-१५।।

जप्तुः स्वनामतो मन्त्री यावन् मन्त्रादिमाक्षरम्।
सिद्धसाध्यसुसिद्धारीन् पुनः सिद्धादयः पुनः ।।१६।।

नवैकपञ्चमे सिद्धः साध्यः षड्दशयुग्मके।
सुसिद्धस्त्रिसप्तके रुद्रे वेदाष्टद्वादशे रिपुः।
एतत्ते कथितं देवि! अकडमादिकमुत्तमम् ॥१७॥

नाम की गणना से नवम तथा पञ्चम में सिद्ध, षष्ठ तथा दशम एवं द्वितीय में साध्य, तृतीय, सप्तम तथा एकादश गृह में सुसिद्ध, चतुर्थ, अष्टम, द्वादश में अरिभाव होता है। भगवान् कहते हैं—हे देवि! यही उत्तम अकडम चक्र है।।१६-१७।।

अत्र लिखने वृषान्तता गणने मीनान्तता बोध्या। इदन्तु गोपालविषये, शिवविषयेऽपि ॥१८॥

लिखते समय दक्षिणावर्त्त रीति से लिखने पर वृष राशि अन्त में होगी; किन्तु गणना वामावर्त्त होने के कारण उस समय मीन राशि अन्त में होगी। यह गोपाल मन्त्र के लिये है; परन्तु शिवमन्त्रों के सम्बन्ध में भी यही रीति मान्य है।।१८।।

यथा यामले—

वैष्णवं राशिसंशुद्धं शैवञ्चाकडमः स्मृतम् ॥१९॥

जैसा कि यामलतन्त्र में कहते हैं कि राशिचक्र से संशुद्ध वैष्णव मन्त्र को तथा अकडम चक्र से संशुद्ध किये गये शैव मन्त्र को ग्रहण करे।।१९।।

तथा—

ताराशुद्धिर्वैष्णवानां कोष्ठशुद्धिः शिवस्य च।
राशिशुद्धिस्त्रैपुरे च गोपालेऽकडमः स्मृतः ॥२०॥

और भी कहते हैं कि वैष्णवों के लिये ताराशुद्धि, शैव के लिये अकथह कोष्ठ-शुद्धि, त्रिपुरा मन्त्र के लिये राशिशुद्धि तथा गोपाल मन्त्र के लिये अकडम चक्र शुद्धि करनी चाहिये।।२०।।

अकडमो वामेन च नारसिंहेऽपि च स्मृतः।
कोष्ठचक्रं वराहे च महालक्ष्म्या कुलाकुलम् ॥२१॥

वामन मन्त्र के लिये तथा नारसिंह मन्त्र के लिये भी अकडम चक्रशुद्धि आवश्यक है। वराह मन्त्र के लिये अकथह चक्र की तथा महालक्ष्मी मन्त्र के लिये कुलाकुल चक्र की शुद्धि करनी चाहिये।।२१।।

नामादिचक्रं सर्वेषां भूतचक्रं तथैव च।
त्रैपुरं तारचक्रं च शुद्धं मन्त्रं भजेद् बुधः ॥२२॥

समस्त मन्त्रों के लिये नक्षत्र चक्र तथा कुलाकुल चक्र का विचार करे। त्रिपुरा मन्त्र के लिये नक्षत्र चक्र का विचार करे। पण्डित शुद्ध मन्त्र की उपासना करे।।२२।।

तथा—

वैष्णवं राशिसंशुद्धं शैवञ्चाकडमं स्मृतम्।
कालिकायाश्च तारायास्तारचक्रं शुभं भवेत्॥२३॥

'चण्डिकायाः भवेत्कोष्ठं गोपालस्याकडमो मतः' इति तन्त्रान्तरञ्च॥२४॥

चण्डिका मन्त्र के लिये अकथह चक्र-शोधन तथा गोपालमन्त्र के लिये अकडम चक्र-शोधन आवशयक है। यह अन्य तन्त्रों में कहा गया है। तन्त्र में उक्त है कि राशिचक्र शुद्धि वैष्णव मन्त्र के लिये, अकडम की शुद्धि शैव के लिये तथा कालिका एवं तारा मन्त्रार्थ नक्षत्रचक्र शुद्धि देखकर तब मन्त्र ग्रहण करे।।२३-२४।।

अथ ऋणिधनिचक्रम्

यथा—

कोष्ठान्येकादशान्येव वेदेन पूरितानि च।
अकारादिहकारान्तं लिखेत् कोष्ठेषु तत्त्ववित्॥२५॥

अब ऋणीधनी चक्र कहते हैं। जैसा कि तन्त्र में कहा गया है कि तत्त्ववित् साधक एकादश कोष्ठ बनाकर चार कोष्ठों द्वारा उसे पूरित करे। इनमें अ से ह पर्यन्त वर्णसमूह को लिखे।।२५।।

द्वयं द्वयं लिखेत् तत्र विचारे खलु साधकः।
शेषेष्वेकैकशो वर्णान् क्रमतो विलिखेत् सुधीः॥२६॥

साधक (मन्त्र) विचारार्थ इन कोष्ठों में से प्रथम पाँच कोष्ठों में ह्रस्व-दीर्घ क्रम से दो-दो वर्ण अंकित करे। सुधी साधक शेष कोष्ठों में क्रमशः एक-एक वर्ण लिखे।।२६।।

षट्कालकालवियदग्निसमुद्ररेखा-
काशशून्यदहनाः खलु साध्यवर्णाः।
युग्मद्विपञ्चवियदम्बरयुक्शशाङ्क-
व्योमाब्धि वेदशशिनः खलु साधकार्णाः॥२७॥

उस कोष्ठ के ऊपरी भाग में दोनों रेखा के मध्य में क्रमशः ६, ६, ६, ०, ३, ४, ४, ०, ०, ०, ३—ये ११ साध्यवर्ण अंकित करे। निचले भाग में २, २, ५, ०, ०, २, १, ०, ४, ४, १—ये ११ वर्ण लिखे।।२७।।

नामाज् झलादकठवाद् गजमुक्तशेषं
ज्ञात्वोभयोरधिकशेषमृणं धनं स्यात्।
मन्त्रो ऋणी शुभफलोऽप्यशुभो धनी च,
तुल्यो यदा समफलो कथितो मुनीन्द्रैः ॥२८॥

अस्यार्थः साध्यवर्णान् स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक् कृतान् षट्काद्यङ्कैर्गुणितान् तथा साधकनामाक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि युग्माद्यैरङ्कैर्गुणयित्वा अष्टसंख्याभिर्हृत्वा उभयोर्मध्ये अधिकम् ऋणं शेषम् अल्पसंख्यं धनं स्यात् ॥२९॥

११-११ अक्षररूप अ क ठ तथा व वर्ग से साध्य (मन्त्र) तथा साधक के नाम स्वर तथा व्यञ्जन-समुदाय को जानकर उनमें ८ का भाग करे। भागशेष जो बचा है, वह यदि अधिक है तब ऋण और यदि कम बचा है तब धन होगा। ऋणी मन्त्र शुभ फल तथा धनी मन्त्र अशुभ फल देते हैं। जब दोनों का ही अंक बराबर हो, उस स्थिति में समफल (शुभ-अशुभ मिश्रित फल) मिलता है। यह मुनिगण ने कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मन्त्र के वर्णों को स्वर तथा व्यञ्जनभेद से अलग-अलग करके उन वर्णों को ऊपरी भाग स्थित संख्या के अनुसार (जो संख्या श्लोक २७ में वर्णित है) गुणा करे। इसी प्रकार साधक के नाम के अक्षर को स्वर तथा व्यञ्जनभेद से पृथक् करके उन-उन वर्णों के निम्नभागस्थ संख्या द्वारा गुणा करके उनका ८ से भाग करे। जो शेष बचे, यदि वह अधिक हो तब ऋण तथा न्यून संख्या वाले को धन जाने।

नामाज्झलादिति। ल्यब्लोपे पञ्चमी। नामसम्बन्धिस्वरव्यञ्जनसमुदायं प्राप्येत्यर्थः ॥३०॥

यहाँ ल्यब्लोप से पञ्चमी विभक्ति कही गयी है। इसका अर्थ है—नाम से सम्बन्धित स्वर-व्यञ्जनसमुदाय।।३०।।

तन्त्रान्तरे—

मन्त्रो यद्यधिकाङ्कः स्याद् तथा मन्त्रं जपेत् सुधीः।
समेऽपि च जपेन् मन्त्रं न जपेत् तु ऋणाधिके ॥
शून्ये मृत्युं विजानीयात् तस्माच्छून्यं विवर्जयेत् ॥३१॥

तन्त्रान्तर में कहते हैं कि यदि मन्त्र का अधिकांक है तभी सुधी साधक उस मन्त्र को ग्रहण करके जपे। समान अंक वाले का भी जप किया जा सकता है। ऋणाधिक्य होने पर न जपे। शून्य होने पर मृत्यु होती है। अतएव शून्य बचने की स्थिति में भी मन्त्र का त्याग करे।।३१।।

(श्लोक २८ तथा ३१ के बीच विरोध है। एक में धन को अशुभ तो दूसरे में शुभ कहते हैं। अब इसका तत्त्व बताया जाता है)।

ऋणाधिक इति। धन इत्यर्थः। अत्र चाङ्कशून्यत्वे ज्योतिरुक्तो हार-काङ्कावशेषो न कार्यस्तर्हि शून्याप्रसक्तेः। शून्य इति। यदि साधक-नाम साङ्कं साध्यनाम निरुक्तम्, तथा दोष इत्यर्थः। यदि च साध्य-साधक-नाम्नोरुभयोरङ्कशून्यत्वम्, तदा न दोषः; समत्वात्। अन्यथा निरङ्कानां कामबीजात्मकैकाक्षरगोपालमन्त्रादीनामरिक्ताग्राह्यतापत्तेरिति तत्त्वम् ॥३२॥

ऋणाधिक पद का अर्थ है—धन। यहाँ अङ्कशून्य जो है, वह ज्योतिष शास्त्रानुसार हारक अंक का अवशेष होने के कारण करणीय नहीं है। अतएव शून्य की प्रसक्ति नहीं होगी। इसका अर्थ यह है कि यदि साधक का नाम अंकयुक्त तथा मन्त्र का अंक शून्य होता है, तब दोष होगा। यदि साध्य मन्त्र तथा साधक, दोनों का नाम शून्य अंक होगा, तब दोष नहीं होगा; क्योंकि दोनों ही समान हैं (यहाँ पर)। यदि शून्य दोष होता तब कामबीज तथा गोपाल मन्त्र एकाक्षर होने के कारण त्याज्य माने जाते, जबकि ऐसा नहीं है।।३२।।

तथा—

इन्द्रर्क्षनेत्ररविपञ्चदशर्त्तुवेद-
वह्न्यायुधाष्टनवभिर्गुणितांश्च साध्यान्।
दिग्भूगिरिश्रुतिगजाग्निमुनीषुवेद-
षड्वह्निभिस्तु गुणितानथ साधकार्णान् ॥३३॥

और भी कहा जा रहा है। मन्त्र के अक्षर तथा शिष्य के नाम के अक्षरों से स्वर तथा व्यंजन को पृथक् करके मन्त्र के वर्णों को १४,२१,२,१२,१५,६,४,७,८,८,९ संख्या द्वारा गुणा करे। साधक के नाम से स्वर तथा व्यञ्जन को पृथक् करके उस अक्षर को १०,१,७,४,८,३,७,५,४,६,३ से गुणा करे।।३३।।

इसका तात्पर्य कहते हैं—यहाँ गुणा का तरीका यह है कि एकादश कोष्ठ में से जिस कोष्ठ में (जिस नम्बर के कोष्ठ में) साधक के नाम का जो वर्ण है, उस संख्या से उसके समान स्थान की संख्या द्वारा गुणा करे। जैसे प्रथम कोष्ठ का वर्ण अ और आ है। इस कोष्ठ की संख्या एक है। अतः एक संख्या का गुणा १४ से करे; क्योंकि श्लोक की तालिका में १४ सबसे ऊपर अर्थात् एक नम्बर पर है। इसी प्रकार जैसे द्वितीय कोष्ठ का वर्ण है—इ तथा ई। यह द्वितीय कोष्ठ में है; इसलिये द्वितीय कोष्ठ की संख्या होती है—२। अब इस २ संख्या ऊपर संख्या दी गई है उनमें २१ का

क्रम द्वितीय है। इस दो में २१ का गुणा करना होगा। इसी प्रकार ११ संख्या पर्यन्त मन्त्र की संख्या को गुणित करता जाय। तत्पश्चात् समस्त गुणनफल को जोड़कर उसमें आठ से भाग देना होगा। इनमें जिस राशि में भाग देने के पश्चात् अधिक संख्या होगी वह होगी, ऋणी एवं अल्प संख्या वाली राशि होगी धनी। प्रथम को (ऋणी का) अधमर्ण कहते हैं। धनी = उत्तमर्ण। यदि मन्त्र अधमर्ण है तब उसे ग्रहण करे तथा अन्य-अन्य का त्याग करे।

आयुधान्यष्टौ। अत्र केचित् षट्कालेत्यादिवचनं विष्णुविषयम् रामार्चनचन्द्रिकाधृतत्वादिति वदन्ति। वस्तुतस्तु इन्द्रर्क्षादिवचनस्य निष्कर्षोऽयमिति बोध्यम्। पूर्वमस्यैव विवरणम्। तथाहि—इन्द्रक्षनेित्रेत्याद्यनन्तरम्। नामार्णकोष्ठाङ्कमथाभिहन्यादेकादि- रुद्राङ्कगतं क्रमेण इति व्यक्तम्।

आयुध = आठ। किसी का मत है कि षट्कोण इत्यादि जो कुछ भी है, वह सब रामार्चनचन्द्रिका से लिये जाने के कारण वैष्णव मत है। वस्तुतः यह वचन इन्द्रर्क्षादि वचनों का निष्कर्ष है। इसका ही विवरण पहले के वचनों में है। वही प्रतिपादित है इन्द्रर्थनेत्र इत्यादि वचनों के अनन्तर कि नाम वर्ण के कोष्ठ संख्या को एक से लेकर ग्यारह-पर्यन्त संख्या के क्रम से पूरित करे।

रुद्रयामले—

साध्याङ्कान् साधकाङ्कांश्च पूरयेद् गृहसंख्यया।
गुणतेऽष्टहृतेऽङ्कानां यच्छेषं जायते स्फुटम् ॥३४॥
तदङ्कं कथयाम्यत्र एकादशगृहे स्थितम्।

इत्युक्त्वा षट्कालेत्याद्युक्तमिति ॥३५॥

जैसा कि रुद्रयामल में कहा गया है कि साध्य तथा साधक के अंकसमूह को चक्र में एक, दो आदि गृहसंख्या द्वारा गुणित करे। जो गुणनफल बचे, उसमें आठ का भाग देना चाहिये। अब जो बाकी बचे, इसी एकादश स्थित अंक को 'यहाँ पर' कहा गया है। इसी आधार पर षट्कोण इत्यादि वचन कहा गया है। पहले इसी का विवरण दिया गया है।।३४-३५।।

अथावशिष्टमन्त्राङ्काः

मायाबीजे चतुरङ्कः, प्रणवे शून्यं, कूर्चे एकाङ्कः। काल्येकाक्षरे सप्ताङ्कः। श्रीबीजे एकाङ्कः, अस्त्रे चतुरङ्कः। बध्वां चतुरङ्कः। वाग्भवः चतुरङ्कः। कामबीजे शून्यम्। नमः पदे पञ्चाङ्कः। अङ्कुशे एकाङ्कः। वज्रवैरोचनीये इति सप्ताक्षरभागस्य चतुरङ्कः। दक्षिणे इत्यक्षरत्रयस्य द्वावङ्कौ। कालिके

इत्यक्षरत्रये शून्यम्। वह्निजायायाः त्रयोऽङ्काः। नमो भगवति माहेश्वरि अन्नपूर्णे इति चतुर्दशाक्षरे षट् अङ्काः ॥३६॥

अब अवशिष्ट मन्त्राङ्क को कहते हैं। मायाबीज में ४ अंक, प्रणव में शून्य, कूर्च में १, काली के एकाक्षर में ७, श्रीबीज में १, अस्त्र में (फट् में) ४, बधुबीज (स्त्रीं में) ४, वाग्भव (ऐं) में ४ अंक, कामबीज (क्लीं) में शून्य, नमः पद में पाँच, अंकुश (क्रों) बीज में १ अंक, वज्रवैरोचनीय—इस सात अक्षरांश में ४ अंक, 'दक्षिणे' अक्षर में तीन अंक, नमो भगवति माहेश्वरि अन्नपूर्णे—इन चौदह अक्षरों में छः अंक ही शेषांक हैं।।३६।।

●

अथ ऋणिधनिचक्रस्य प्रकारान्तरम्

यथा—

नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मन्त्राणि वर्णकम्।
त्रिधा कृत्वा स्वरैर्भिन्नं तदन्यद् विपरीतकम्॥१॥

अब अन्य प्रकार से धनी-ऋणी चक्र कहा जा रहा है। जैसे साधक के नाम के प्रथम अक्षर से प्रारम्भ करके मन्त्र के आदि अक्षर-पर्यन्त मातृका क्रम से गणना करके इस अंक को द्विगुणित करके स्वरों (७) द्वारा भाग करे (सात से भाग करे)। अन्य इसके विपरीत होगा अर्थात् मन्त्र के आदि अक्षर से प्रारम्भ करके साधक के नाम के आदि अक्षर-पर्यन्त मातृकाक्रम से गणना करके जो अंक गणना से आयेगा, उसी अंक को ७ से गुणा करके तीन से भाग करे।।१।।

अस्यार्थः—साधकनामाद्यक्षरतो गणनया मन्त्रादिमाक्षरं यावत् संख्या भवति, तत् संख्या त्रिधा कृत्वा सप्तभिर्हृत्वा शेषं स्थापयेदिति साधकस्य। तदन्यदिति। मन्त्राद्यक्षरमारभ्य साधकाद्यक्षरं यावत् संख्यम्, तत् संख्यां सप्तभिः पूरयित्वा त्रिभिर्हरेत्, शेषं स्थापयेदिति साध्यस्य। उभयोरधिकम् ऋणं. न्यूनं धनमिति॥२॥

इसका तात्पर्य यह है कि साधक के नाम के आदि अक्षर से मन्त्र के आदि अक्षर-पर्यन्त गणना द्वारा जितनी संख्या हो, उस संख्या को तिगुना करके ७ द्वारा भाग करके भागशेष साधक की राशि है। इसका अर्थ है कि मन्त्र के प्रथम अक्षर से आरम्भ करके साधक के प्रथम अक्षर-पर्यन्त गणना से जितनी संख्या हो, उसे ७ द्वारा गुणा करके ३ द्वारा भाग करे। जो भागशेष है, वही साध्य की राशि है। दोनों में से (साधक की राशि जो ऊपर कहे भागशेष से बनी है तथा यह साध्य की राशि) जिसकी संख्या अधिक हो, वह ऋण तथा न्यून संख्या धन होगी।।२।।

अन्यच्च प्रकारः

यथा—

साध्यनामद्विगुणितं साधकेन समन्वितम्।
अष्टभिश्च हरेच्छेषं तदन्यद् विपरीतकम्॥३॥

अन्य प्रकार से ऋणी-धनी कहते हैं। जैसे तन्त्र में कहा गया है कि स्वर तथा व्यञ्जन को पृथक् करके साध्य के नामाक्षरों को द्विगुणित करे। इसे मन्त्रवर्ण की संख्या से जोड़कर ८ द्वारा भाग करके जो भागशेष बचेगा, वही मन्त्र की राशि होगी। इस वाक्य का तात्पर्य है कि साधक के नाम से जितने स्वर तथा व्यंजन होंगे, सबको मिलाकर उस संख्या को दुगुना करे। इसी प्रकार साध्य मन्त्रवर्ण के स्वर तथा व्यञ्जन की संख्या को इसमें जोड़े। अब इसे आठ से भाग करे। जो भागशेष होगा, वह साधक की राशि होगी। साध्य मन्त्र की राशिसंख्या तथा साधक की राशिसंख्या की तुलना करे। अधिक संख्या वाली राशि ऋण तथा कम वाली धन होगी।।३।।

एतत् प्रकारद्वयं शक्तिमात्रविषयकमिति केचित्। वस्तुतस्तु सर्वविषयकमेव। अतएव ऋणधनशोधनं प्रकारत्रयान्यतमप्रकारेण कर्त्तव्यमिति राघवभट्टः। एतानि खलु दशचक्राण्युक्तानि ।।४।।

कोई-कोई कहते हैं कि ये दोनों प्रकार शक्ति-विषयक हैं और कोई-कोई कहते हैं कि दोनों मन्त्र-विषयक हैं। इसी कारण राघव भट्ट का कथन है कि तीन प्रकार में से किसी भी एक प्रकार से ऋण धन शोधन किया जाय। ये १० चक्र कहे गये।।४।।

केचित्तु—

तारचक्रे राशिचक्रे नामचक्रं तथैव च।
अत्र चेत् सगुणो मन्त्रो नान्यचक्रं विचारयेत् ।।५।।

इति वाराहीतन्त्रदर्शनात्,

धनिमन्त्रं न गृह्णीयादकुलञ्च तथैव च।

इति तन्त्रान्तरवचनाच्च नक्षत्रचक्रराशिचक्रनामचक्रऋणिधनिचक्र-कुलाकुलचक्राणामेव विचारापेक्षा। तत्र नामचक्रं सिद्धादिचक्रम्। इतरेषान्तु न विचारापेक्षा इति वर्णयन्ति व्यवहरन्ति च।।६।।

यदि मन्त्रग्रहण में सगुण मन्त्र हो तब तारचक्र, नामचक्र—इस रूप से राशिचक्र का विचार करे। अन्य चक्र का विचार न करे। ऐसा ही वाराही तन्त्र का वचन है कि धनी मन्त्र ग्रहण करना वर्जित है। इस प्रकार अकुल मन्त्र भी ग्रहणीय नहीं है। इसी प्रकार अन्य तन्त्र का भी वचन है। अतएव नक्षत्रचक्र, राशिचक्र, नामचक्र, ऋणि-धनिचक्र तथा चक्रविचार की अपेक्षा है। इनमें नामचक्र है—सिद्धादि चक्र। अन्य चक्र-विचार की आवश्यकता नहीं है, यह कोई-कोई कहते हैं तथा व्यवहार करते हैं।।५-६।।

वस्तुतस्तु सम्भवति चेत् सर्वेषां, नो चेत् प्रधानतया तारचक्रराशिचक्रनामचक्राणां विचारः कर्त्तव्य इति प्रशंसापरतयैवोक्तम्। यथा प्रासादप्रणवस्वप्नलब्धादौ सिद्धादिविचारानपेक्षणबोधकवचनानां प्रशंसापरत्वमिति विवेचितमेव सिद्धादिचक्रे नृसिंहार्कवराहाणां प्रासादप्रणवस्य चेत्यादिक्रम इत्यन्तेन। एवमेव 'नक्षत्रचक्रं तारिण्यां नान्यचक्रं विचारयेत्' इत्यस्य वाराहीतन्त्रवचनस्य—

ताराशुद्धिर्वैष्णवानां कोष्ठशुद्धिः शिवस्य च।
राशिशुद्धिस्त्रैपुरे च गोपालेऽकडमः स्मृतः ॥

इत्यादिप्रागुक्तवचनाच्च प्रशंसापरतयैव सर्वं चतुरस्रम् ॥७॥

वास्तव में यदि सम्भव हो सके तो सभी चक्रों का विचार करे। यह सम्भव न हो तब प्रधान रूप से ताराचक्र, राशिचक्र, नामचक्र का विचार करे। यह मन्त्र की प्रशंसा के अभिप्राय से ही कहा गया है। जैसे प्रासाद मन्त्र, प्रणव मन्त्र, स्वप्न में पाया गया मन्त्र—इत्यादि के सम्बन्ध में सिद्धादि चक्र के विचार की अनपेक्षता बताने वाले (अर्थात् आवश्यकता नहीं बताने वाले) वचन की प्रशंसा के लिये कहा गया है। निषेध के लिये नहीं कहा गया है। यह सब सिद्धादि चक्र की विवेचना के समय इसी ग्रन्थ में विवेचित किया जा चुका है। इसी प्रकार कहा गया है कि तारिणी मन्त्र-विचार के समय नक्षत्रचक्र का विचार करे, अन्य का विचार न करे। यह वाराही तन्त्र का वचन है। वैष्णव मन्त्रों में ताराशुद्धि, शिवमन्त्र में कोष्ठशुद्धि, त्रिपुरा मन्त्र में राशि की शुद्धि, गोपालमन्त्र में अकडम चक्र की शुद्धि करनी चाहिये, यह सब पहले विवेचित वचनों को प्रशंसा परत्व कहने से (परस्परतः विभेदपूर्ण लगने पर भी) इन सबका सामञ्जस्य हो जाता है।।७।।

चक्रविचारे नामग्रहणप्रकारः

अथ चक्रविचारे नाम्नः कथं प्रकारेण ग्राह्यता? तदाह सनत्कुमारीये—

पितृमातृकृतं नाम त्यक्त्वा शर्मापि देवकान्।
श्रीवर्णञ्च ततो विद्वान् चक्रेषु योजयेत् क्रमात् ॥८॥

चक्रविचारानुसार नामग्रहण का प्रकार—अब चक्रविचार में नामग्रहण के तरीके को कहते हैं। इस सम्बन्ध में सनत्कुमार तन्त्र में कहा गया है कि विद्वान् व्यक्ति अपने नाम के आगे लगे देवशर्मा इत्यादि (उपाधि) को तथा नाम के पहले लगाये जाने वाले श्री वर्ण को छोड़कर पिता-माता द्वारा नाम का क्रमानुसार विभाग करके चक्र स्थापित करे।।८।।

त्यक्त्वेति परान्वयी। अनेकनाम्नः किं नाम ग्राह्यम्? अत्र पिङ्गलातन्त्रम्—

प्रसिद्धं यद् भवेन्नाम किंवास्य जन्मनाम च।
यतीनां पुष्पपातेन गुरुणा यत् कृतं भवेत्॥९॥
लोकप्रसिद्धनामाथ मात्रा-पित्रा कृतं तथा।
सुप्तो जागर्त्ति येनासौ दूरस्थश्च प्रभाषते।
वदत्यन्यमनस्कोऽपि तन्नाम ग्राह्यमेव तु॥१०॥

'त्यक्त्वा' इस पद का परवर्त्ती 'श्री' वर्ण के साथ अन्वय होगा। अनेक नामों में से (व्यक्ति के कई नाम होते हैं—पुकारने वाला तथा वास्तविक जो पिता-माता द्वारा प्रदत्त है) कौन नाम ग्रहण किया जाय? इस सम्बन्ध में पिङ्गलातन्त्र में कहा गया है कि साधक का जो लोक में प्रसिद्ध नाम हो अथवा यतिगण के पुष्पपात द्वारा जो नाम हो, गुरु ने जो नाम रक्खा हो अथवा जो माता-पिता द्वारा दिया गया हो, सोया हुआ जिस नाम के पुकारने से जागे, दूर रहने पर भी जिस नाम के पुकारे जाने पर उत्तर दे, अन्यमनस्क स्थिति में भी जिस नाम से सम्बोधित करने पर बात करे, उसी नाम से चक्र का विचार करना चाहिये।।९-१०।।

'दैवात् प्राप्तः' सिद्धादिचक्रक्रमेणाऽन्यचक्रक्रमेण वा सामान्यतो वैरिमन्त्रस्त्याज्य एवेति तत्प्रकारः कथ्यते। यथा तन्त्रे—

गवा क्षीरं द्रोणमिति जपेन् मन्त्रं शताष्टकम्।
पीत्वा क्षीरं जले तद्वत् समुच्चार्य त्यजेत्तथा।
अनेनैव विधानेन वैरिमन्त्राद् विमुच्यते॥११॥

सिद्धादि चक्रक्रम में अथवा अन्य चक्र के विचार में दैव से प्राप्त सामान्यतः वैरी मन्त्र त्याज्य है। उसका प्रकार (त्याग का प्रकार) कहते हैं। तन्त्र में कहा गया है कि द्रोण (वजन का पैमाना) परिमाण गाय के दूध की क्षीर में १०८ बार मन्त्र-जप करे। इस प्रकार उस दुग्ध क्षीर का पान करके मन्त्र का उच्चारण करते हुये मन्त्र-त्याग करे। इस विधान से वैरी मन्त्र से छुटकारा प्राप्त करे।।११।।

अस्यार्थः द्रोणमिति दुग्धे मन्त्रं अष्टोत्तरशतं वा जप्त्वा तद् दुग्धं पीत्वा अष्टोत्तरशतं वा समुच्चार्य गलाङ्गुलिसंयोगादिना तद् दुग्धं स्रोतोजले उद्गारयेत्। द्रोणस्तु चतुरत्तिकाधिकमाषपञ्चकाधिकानि षड्धिकसप्त-दशशततोलकानि। तथा च लौकिकमानक्रमेण (७२) द्वासप्ततितोल-कात्मकसेराख्यपरिमाणस्य सार्द्धत्रयोविंशतिसेराश्चतुर्दशतोलकानि पञ्चमा-षाश्चतस्रो रत्तिकाश्च॥१२॥

इसका अर्थ द्रोण परिमाण दुग्ध में १०८ संख्यक मन्त्र जप करके उस दुग्ध का पान करके तदनन्तर गला में उंगली देकर उस दूध को पानी (नदी) की धारा के जल में वमन करे। द्रोण अर्थात् १७६ तोला पाँच माषा चार रत्ती। अतः यह वजन बराबर हुआ (७२ तोला का एक सेर) २७ सेर चौदह तोला पाँच मासा तीन रत्ती।।१२।।

यथा गोपथब्राह्मणम्—

द्वात्रिंशत्पलिकं प्रस्थमुक्तं स्वयमर्थवणा।
आढ़कस्तु चतुःप्रस्थैश्चतुर्भिर्द्रोण आढ़कैः ॥१३॥

इति।

बहत्तर पल का एक प्रस्थ, चार प्रस्थ का एक आढ़क और चार आढ़क का एक द्रोण होता है।।१३।।

ज्योतिषे—

पलन्तु लौकिकैर्मानैः साष्टरत्तिर्द्विमाषकम्।
तोलकत्रितयं ज्ञेयं ज्योतिर्ज्ञैः स्मृतिसम्भवम् ॥१४॥

ज्योतिष के अनुसार तीन तोला दो मासा आठ रत्ती को स्मृति शास्त्र में कहा गया 'पल' कहते हैं।।१४।।

लौकिकमानञ्च—द्वादश गुञ्जा = १ माषा, ८ माषा = १ तोला।

रुद्रयामले—

वटपत्रे लिखित्वाऽरिमन्त्रं स्रोतसि निक्षिपेत्।
एवं मन्त्रविमुक्तं स्यादित्याह भगवान् शिवः ॥१५॥

रुद्रयामल में कहते हैं कि बरगद के पत्ते पर अरिमन्त्र को लिखकर स्रोत के जल में उसे फेंके। इस प्रकार अरिमन्त्र से विमुक्ति मिल जाती है। यह भगवान् शिव का कथन है।।१५।।

एवं साध्यसाध्यमन्त्रमपि त्यजेत्। मनुशुद्धमन्त्रस्यालाभे कौलिकादि-मन्त्रस्य सिद्धादिदुष्टत्वे वा किं कर्त्तव्यमिति चेदुच्यते ॥१६॥

इस प्रकार साध्यसाध्य मन्त्र का त्याग करे। शुद्ध मन्त्र की प्राप्ति न होने पर कौलिक प्रभृति मन्त्र सिद्धादि दोष से दुष्ट होने पर क्या कर्त्तव्य है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।।१६।।

यथा मन्त्रदेवप्रकाशिकायाम्—

मन्त्रादिषु च सर्वेषु हृल्लेखा कामबीजकम्।
श्रीबीजञ्चापि निक्षिप्य जपेन्मन्त्रं सुसिद्धये ॥१७॥

जैसा मन्त्रदेवप्रकाशिका में कहा गया है कि सुसिद्धि प्राप्त करने के लिये समस्त मन्त्रों में 'ह्रीं क्लीं श्रीं' लगा कर जप करे।।१७।।

तारसम्पुटिता वापि दुष्टमन्त्रोऽपि सिध्यति।
यत्र यस्य भवेद्भक्तिः सोऽपि मन्त्रोऽपि सिध्यति ।।१८।।

दुष्ट मन्त्र प्रणव-पुटित होने से सिद्ध हो जाते हैं। जिसकी जिस मन्त्र में भक्ति होती है, वह मन्त्र दुष्ट होने पर भी सिद्ध हो जाता है।।१८।।

तथा मन्त्रमुक्तावल्यां राघवभट्टः—

एषु दोषेषु सर्वत्र मायां काममथापि वा।
क्षिप्त्वा चादौ श्रियं दद्यादेतद्दूषणमुक्तये।
तारसम्पुटिता वापि दुष्टमन्त्रोऽस्य सिध्यति ।।१९।।

सर्वत्र इन दोषों की मुक्ति के लिये मायाबीज तदनन्तर कामबीज का योग करके श्रीबीज प्रदान करे। साधक का दोषयुक्त मन्त्र भी प्रणव-पुटित (मन्त्र के आगे ॐ तथा अन्त में ॐ लगाकर) होने से सिद्ध हो जाता है।।१९।।

एतद्वचनं दीक्षातत्त्वे स्मार्त्तेनापि लिखितम्। भुवेनश्वरीपारिजाते—

मायाबीजसमायुक्तः क्षिप्रं सिद्धिप्रदो भवेत्।
पिण्डस्तु केवलो मन्त्रो मायाबीजो ज्वलीकृतः।
मायाबीजाद् भवेद् प्राणो बीजं चैतन्यवीर्यवत् ।।२०।।

दीक्षातत्त्वग्रन्थ में स्मार्त्त लोगों ने भी ऐसा ही लिखा है। भुवनेश्वरीपारिजात में लिखा है—मन्त्र माया बीज से युक्त होने पर त्वरित सिद्धि देता है। केवल जो मन्त्र है, वह पिण्डस्वरूप है; लेकिन मायाबीज से युक्त होकर वह उज्ज्वल हो जाता है। उसमें प्राण, वीर्य तथा चैतन्य का संचार होता है।।२०।।

अथ महाविद्यासु चक्रादिविचारापेक्षा नास्तीति तान्त्रिकाः। वस्तुतस्तु तत्तद्वचनानां प्रशंसापरतया सर्वत्रैव विचारापेक्षेति साम्प्रदायिकाः। 'नाश्रयेदरिमन्त्रन्तु मित्रमन्त्रं समाश्रयेदि'ति मायातन्त्रवचनाद् विचारशुद्धमन्त्रप्राप्तौ विचार आवश्यकः। तदप्राप्तौ तु तत्तद्वचनमेव शरणमिति तु वयम् ।।२१।।

महाविद्या के विषय में चक्रादि विचार की आवश्यकता नहीं है। ऐसा तान्त्रिक कहते हैं। वास्तव में विचार-निषेध को एक प्रकार से उन-उन मन्त्रों का प्रशंसापरक माना गया है (यह पूर्व में लिखा जा चुका है)। सर्वत्र विचार की अपेक्षा है। साम्प्रदायिकगण कहते हैं कि इन कथनों के सम्बन्ध में विचार करना चाहिये (तब निष्कर्ष

निकालना चाहिये)। मायातन्त्र में वचन है कि 'अरिमन्त्र ग्रहण करना वर्जित है; मित्र मन्त्र ग्रहण करे' अत: शुद्ध मन्त्र की प्राप्ति के लिये विचार आवश्यक है। शुद्ध मन्त्र न मिलने पर उस-उस निषेध वाक्य का ही विचार करना पड़ेगा, यह मेरा मत है।।२१।।

अथ महाविद्यानिर्णयः

यथा मुण्डमालातन्त्रे—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा ।।२२।।
बगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका।
एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्त्तिताः ।।२३।।

महाविद्या-निर्णय—अब महाविद्या का निर्णय करते हैं। मुण्डमाला तन्त्र में कहते हैं कि महाविद्या काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती विद्या, बगला, मातङ्गी, कमला तन्त्रग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।।२२-२३।।

नात्र सिद्धाद्यपेक्षास्ति नक्षत्रादिविचारणा।
कालादिशोधनं नास्ति नारिमित्रादिदूषणम् ।।२४।।
सिद्धविद्यातया नात्र युगसेवा परिश्रमः।
नास्ति किञ्चिन् महादेवि! दुःखसाध्यं कथञ्चन ।।२५।।

इन सभी महाविद्या के मन्त्रों के लिये सिद्धादि विचार की आवश्यकता नहीं है। नक्षत्रादि विचार, कालादि शुद्धि तथा अरिमित्रादि दोषादि शोधन की भी आवश्यकता नहीं है। सिद्ध विद्या के सम्बन्ध में युगसेवा का परिश्रम भी नहीं करना पड़ता। भगवान् कहते हैं कि हे महादेवि! इसमें कुछ भी दु:खसाध्य नहीं है।।२४-२५।।

अत्र प्रथममहाविद्यापदं स्वरूपविशेषणपरं न तु विधेयपरम्, एता दश महाविद्या इत्यनेनाऽन्वयानुपपत्तेः। षोडशीति सुन्दर्याः पर्यायः। मन्त्र-विशेषपरत्वे सामान्यतः सुन्दर्यास्तद्बहिर्भावापत्तेः। विद्येति। धूमावती विद्येत्यर्थः। सिद्धविद्येति मातङ्ग्या विशेषणम्। कमलात्मिका लक्ष्मीः, अन्नपूर्णेत्यपरे, वाग्वादिनी चान्नपूर्णेत्येकवाक्यत्वात्। नारिमित्रादिदूषण-मिति। अरिमित्रचक्रादेर्दूषणं नास्तीत्यर्थः। युगसेवापरिश्रम इति। सत्ये एकगुणस्त्रेतायां द्विगुणः, द्वापरे त्रिगुणः, कलौ चतुर्गुण इति यो युगसेवा परिश्रमो वक्ष्यते, स महाविद्यासु नास्तीत्यर्थः। एता दश महाविद्या इति पाठकल्पनादन्यार्थकल्पनमयुक्तमेव ।।२६।।

इस श्लोक में प्रथम महाविद्या पद स्वरूपविशेषण तात्पर्य-द्योतक है। वह विधेय

तात्पर्यक नहीं है। अन्यथा 'यह दश महाविद्या' इसके साथ अन्वय की अनुपपत्ति हो जाती। षोडशी तो सुन्दरी का पर्यायवाची शब्द है। वह यदि मन्त्रविशेष के तात्पर्य में प्रयुक्त होता, तब सामान्य रूपेण सुन्दरी कदापि महाविद्यावर्ग में न आती। उनके बहिर्भाव पर आपत्ति आती। विद्या का अर्थ है—धूमावती विद्या। सिद्धविद्या मातङ्गी का विशेषण है। कमलात्मिका हैं—महालक्ष्मी। किसी के मत से अन्नपूर्णा शब्द की वाग्वादिनी से एकवाक्यता है। 'नारिमित्रादिदूषण' इसका तात्पर्य है कि अरिमित्रादि चक्रों का दोष यहाँ पर नहीं है। 'युगसेवा परिश्रम' से यहाँ पर तात्पर्य है कि सत्ययुग में एक गुणा, त्रेता में दो गुणा, द्वापर में तीन गुणा और कलिकाल में चार गुणा—इस प्रकार जप में परिश्रम कहा जाता है। अर्थात् सत्ययुग में कम परिश्रम से मन्त्र सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार त्रेता में दुगुनी मेहनत, द्वापर में तीन गुनी और कलियुग में चौगुनी मेहनत से मन्त्रादि सिद्ध होते हैं; परन्तु महाविद्या सिद्ध करने में यह नियम प्रभावी नहीं है। यहाँ दश महाविद्या के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त अन्य अर्थ की कल्पना करना वर्जित है।।२६।।

यथा चामुण्डातन्त्रे—

कलौ काली तथा तारा भैरवी छिन्नमस्तका।
त्रिकूटा त्रिपुटा दुर्गा तथा महिषमर्दिनी।।२७।।
कात्यायनी च चामुण्डा महाविद्याः प्रकीर्त्तिताः।
नासु सिद्धाद्यपेक्षास्ति नारिमित्रादिदूषणम्।।२८।।

चामुण्डामन्त्र के अनुसार कलिकाल में काली, तारा, भैरवी, छिन्नमस्ता, त्रिकूटा त्रिपुटा, दुर्गा, महिषमर्दिनी, कात्यायनी तथा चामुण्डा को महाविद्या कहा गया है। इनकी दीक्षा में सिद्धादि विचार तथा अरि-मित्रादि दोष-विचार की कोई आवश्यकता नहीं होती।।२७-२८।।

मालिनीविजये—

अथ वक्ष्याम्यहं विद्या या या विद्या महीतले।
दोषजालैरसम्पृक्तास्ताः सर्वा हि फलैः सह।।२९।।
काली नीला महादुर्गा त्वरिता छिन्नमस्तका।
वाग्वादिनी चान्नपूर्णा तथा प्रत्यङ्गिरा पुनः।।३०।।
कामाख्या बगला बाला मातङ्गी शैलवासिनी।
इत्याद्याः सकला विद्याः कलौ पूर्णफलप्रदाः।।३१।।

मालिनीविजय तन्त्र में कहते हैं कि इस पृथ्वी पर जो-जो विद्यायें हैं, मैं उन सबका

वर्णन करता हूँ। इन सबमें (दीक्षा में) उपरोक्त दोषादि का अस्तित्व नहीं है। ये सभी सफला विद्या हैं। काली, नीला, महादुर्गा, त्वरिता, छिन्नमस्ता, वाग्वादिनी, अन्नपूर्णा, प्रत्यङ्गिरा, कामाख्या, बगला, बाला, मातङ्गी, शैलनिवासिनी प्रभृति समस्त विद्यायें कलिकाल में भी पूर्ण फल देने वाली हैं।।२९-३१।।

सिद्धविद्यातया नात्र युगसेवापरिश्रमः ।
तथा चैत्य महाविद्याः कलिदोषान्न बाधिताः ॥३२॥

ये सभी सिद्ध विद्या हैं, अतः इनकी सेवा में युगसेवा-परिश्रम नहीं है। इनमें कलिकाल का दोष भी नहीं लगता।।३२।।

अथ चक्रविचारोपयोगितया केषाञ्चित् सन्दिग्धवर्णानां निर्णयं क्रियते। वद वद वाग्वादिनीत्यत्र वकारचतुष्टयं यरलवीयं, वेदवचोः साच्यण् इक्त्वविधानात्। ओणादिक्वप्रत्ययसाधितस्यान्वशब्दस्य सत्त्वेऽपि अन्नपूर्णादौ क्तान्ताऽद्धातुनिष्पन्नस्य नकारद्वयवदन्नशब्दस्यैव निर्देशः प्रयोगप्राचुर्यात् सम्प्रदायसिद्धत्वात्। अन्नपूर्णादौ णकारादीनां विकल्पेन द्वित्वप्रसक्तावपि मन्त्रेषु द्विरुक्तत्वेनैवोपन्यासः महिषमर्द्दिनीमन्त्रे तथादर्शनात्। यथा विषं हि मज्जा कालोऽग्निद्विरिस्थो निठद्वयमिति। एवञ्च जनार्दन-चतुर्भुजादिसाधकनामेष्वपि दकारभकारदिकमद्विरुक्तमेव विचार्यमविशेषा-दिति। वज्रशब्दोऽयं यरलवीयवकारवान्। वैरोचनीयशब्दो वर्ग्यवकारवान्, प्रचण्डचण्डिकामन्त्रे प्रत्यक्षरदेवताकथने वकारे वरुणः साक्षाज्जकारे तु सुराधिपः। रेफे हुताशनो देवो वकारे वसुधाधिपः इत्युक्तत्वात्। वो बालो वारुणी सूक्ष्मा वरुणो वेदसंज्ञक इति, सुरभिर्मुखविष्णु च संहारो वसुधाधिपः इति च वर्णाभिधानपर्यायनियमेन वरुणशब्दस्य यरलवीय-वाचकत्वं वसुधाधिपशब्दस्य च वर्गावकारवाचकत्वं सिद्धम्॥३३॥

यहाँ चक्र-विचार की उपयोगिता के रूप में कुछ संदिग्ध वर्णों का निर्णय किया जा रहा है। 'वद वद वाग्वादिनी' यहाँ पर चार वकार यरलवीय हैं; क्योंकि वद तथा वच् धातु के उत्तर में साच् यण् तथा इक् प्रत्यय का नियम है। औणाधिक तथा प्रत्यय से निष्पन्न 'अन्व' शब्द रहने पर भी अन्नपूर्णा शब्द में उ प्रत्ययान्त अद् धातु निष्पन्न औ दो नकारों (न्न) से संयुक्त अन्न शब्द का निर्देश मिलता है। इसीलिये यहाँ प्रयोग-प्राचुर्य है और यह सम्प्रदाय-सम्मत भी है। अन्नपूर्णा शब्द की जगह नकारद्वय के विकल्प में द्वित्व प्रसक्त होने पर भी मन्त्रसमूह में द्विरुक्तहीन रूप में ही यह प्रयुक्त होता है। जैसा कि महिषमर्दिनी मन्त्र में परिलक्षित होता है। जैसे विष (म) हि, मज्जा (ष),

काल (म), अग्नि (र्), अद्रि (द), इस्थ (इकारयुक्त), नि तथा ठद्वय (स्वाहा) और महिषमर्दिनी मन्त्र बनता है—महिषमर्दिनी स्वाहा। यहाँ अद्विरुक्त में वर्ण प्रयुक्त हैं। अतएव जनार्दन, चतुर्भुज जैसे साधक के नाम में भी द, त प्रभृति का अद्विरुक्त का विचार करना कर्त्तव्य है। इसी कारण मन्त्र तथा साधक में कोई भी विशेष नहीं है। वज्र शब्द भी यरलवीय वकार-विशिष्ट है। वैरोचनीय शब्द वर्ग्य वकार-विशिष्ट है। जैसे प्रचण्डचण्डिका मन्त्र में देवता का निर्णय करते समय कहते हैं कि 'वकार' में साक्षात् वरुण, 'जकार' में इन्द्र, रेफ में (र में) अग्नि तथा व में वसुधाधिपति का स्थान है। यह कहा गया है।

'व'कार के वाचक शब्द हैं—बाल, वारुणी, सूक्ष्मा, वरुण, वेद। यह वर्णाभिधान तथा सुरभि, मुख, विष्णु, संहार, वसुधाधिप रूपी वर्णविधान के पर्याय शब्दों के नियम से वरुण शब्द यरलव का वाचक तथा वसुधाधिप शब्द वर्ग्य वकार का वाचक सिद्ध होता है।।३३।।

शिवशब्दोऽन्त्यवकारवान्। हृदयं वपरः साक्षी लान्तोऽनन्तान्वितो मरुदिति पञ्चाक्षरशिवमन्त्रे वकारस्य लान्तत्त्वेनाभिधानात् ॥३४॥

शिव शब्द के अन्त में 'व' है। अतः वह अन्त्य वकारयुक्त है। हृदय (नमः) वपर (श) साक्षी (इकारयुक्त) इससे 'शि' बना। (अब 'व' है, दोनों मिलाकर शिव होता है) 'व' लान्त है अर्थात् 'ल' के पश्चात् का वर्ण है। अनन्त (आ) अन्वित (युक्त) अब बना हृदय = 'नमः' + 'शिवा'। इसमें मरुत् (य) का योजन हुआ तो पंचाक्षर बना—'नमः शिवाय'।।३४।।

चण्डेश्वरमन्त्रे ऊर्ध्वशब्दोऽन्त्यवकारवान्। 'अर्घीशो वह्निशिखरो लान्तस्थोदान्त इरितः' इत्यत्र वकारस्य लान्तत्वेन निर्देशात्। भगवतीत्यादौ मतुपस्थानीयवकारोऽन्त्यः यवले यं वं लं वेत्यादिसूत्रे पुरुषोत्तमादिभिः किंव्वानित्यादिपदस्य दर्शितत्वात् तद्वनित्यादौ उच्चारणवैलक्षण्यात्। कातन्त्रवृत्तौ वस्तुत्त्वेन निर्दिष्टतया प्रत्ययसम्बन्धित्वात्, यमवतामवताञ्च धूरिस्थित इत्यादियमकेषु अवतामित्यनेन यमकितत्वाच्च ॥३५॥

चण्डेश्वर मन्त्र अन्तिम अक्षर 'व'युक्त है। अर्घीश (ऊ), वह्निशिखर (रेफ अर्थात्) लान्तस्थ (व युक्त), दान्त (ध) यह चण्डेश्वर मन्त्र है। इस मन्त्रोद्धार कारिका में 'व' को लान्त (अर्थात् 'ल' के बाद वाला वर्ण) कहा गया है। भगवती इत्यादि में मतुप् के स्थान पर वकार अन्त्य वकार है। 'यवले यं रं लं वा' इत्यादि कलाप व्याकरण के सूत्र में पुरुषोत्तम प्रभृति कर्तृक किंव्वान् इत्यादि पद प्रदर्शित किया गया है। 'तद्वान्'

इत्यादि स्थल में उच्चारण की विलक्षणता है। कातन्त्र व्याकरण वृत्ति से वस्तुरूपेण निर्दिष्ट होने के कारण प्रत्यय सम्बन्ध है तथा 'यमवतामवताञ्च धूरिस्थित' इत्यादि यमकसमूह में अवताम् द्वारा यमक हुआ है।।३५।।

अवधातोर्वकारस्त्वान्त्यः ऊ ठ स्वरूपयोग्यत्वात्। देवशब्दस्य वकारोऽन्त्यः दिवधातुना देवधातुना वा निष्पन्नत्वात्, तयोर्वकारौ त्वन्त्यौ, उत्वलोपान्यतरस्वरूपयोगत्वात्। द्युतमित्यादौ उत्वं देरित्यादौ लोपः वासुदेवस्याद्योऽप्यन्त्यः सर्वत्र वसतीति वासुः, स चासौ देवश्चेति तथा। वसुदेवस्यापत्यमिति वा, तथेति शाब्दिकैर्विवरणात्। अतएव वसुशब्दोऽप्यन्त्यवानेव। निवासार्थवसुधातोर्वश्चान्त्यः उषितमित्यादिक्त्वविधानात् ॥३६॥

अव् धातु का 'व'कार अन्त्य वकार है; क्योंकि वह ऊ ठे स्वरूपयोग्य है। देव शब्द का 'व'कार दिव् धातु द्वारा अथवा देव धातु द्वारा निष्पन्न होने के कारण (वासुदेव के) दोनों वकार अन्त्य वकार है। क्योंकि उत्व तथा लोप में स्वरूपयोग्यता है। द्युतम् इत्यादि में उत्व तथा 'दे' का लोप हो जाता है। वासुदेव शब्द का प्रथम 'व' अन्त्य वकार है, जब कि जो सर्वत्र वास करता है—इस अर्थ में 'वासु' हो जाता है। वासु तथा देव—इस प्रकार के कर्मधारय समास द्वारा वासुदेव होता है। अथवा 'वासुदेव का अपत्य' इस अर्थ से वासुदेव बन जाता है। शाब्दिक विद्वानों ने इस प्रकार से वासुदेव शब्द का विचार किया है। इस कारण वसु शब्द का वकार अन्त्य वकार ही है। निवासार्थक वसु धातु का वकार अन्त्य वकार है। अतएव 'उषितं' इत्यादि स्थल पर 'इक्' का विधान किया गया है।।३६।।

यद्यपि माया हृद् भगवत्यन्ते माहेश्वरिपदं तत् इत्यन्नपूर्णामन्त्रोद्धारादौ हृत्पदेन नमःपदं सविसर्गमेवोद्दिष्टम्, तथापि सन्धिप्रसक्तौ सन्धेरावश्यकत्वाद् विसर्गस्य उत्त्वरेफत्वादयो निराबाधाः। अतएव द्वादशाक्षरवासुदेवमन्त्रे नारायणमन्त्रे दक्षिणामूर्त्तिमन्त्रेऽन्यत्र च विसर्गस्योत्त्वं निर्विवादम् ॥३७॥

यद्यपि माया (ह्रीं), हृत् (नमः), भगवती पद के अन्त में माहेश्वरी पद तत्पश्चात् (अन्नपूर्णे) यह अन्नपूर्णा मन्त्र का उद्धार हुआ (ह्रीं नमः अन्नपूर्णे)। इसमें हृत् पद के द्वारा विसर्ग के साथ नमः पद उपदिष्ट किया गया है। लेकिन सन्धि होने पर (सन्धि आवश्यक होने पर) विसर्ग के स्थान पर 'ओ' तथा रेफ प्रभृति की कोई बाधा नहीं रहती। इसी कारण द्वादश अक्षरों वाले वासुदेव मन्त्र में, नारायण मन्त्र में तथा दक्षिणामूर्त्ति मन्त्र में विसर्ग के स्थान पर 'ओ' होने का कोई का विवाद नहीं रह जाता।।३७।।

एवं—

मायाद्रिः कर्णविन्द्वाढ्यो भूयोऽसौ सर्गवान् भवेत् ।
पञ्चान्तकः प्रतिष्ठावान् मारुतो भौतिकासनः ।
तारदिहृदयान्तोऽयं मन्त्रो वस्वक्षरात्मकः ॥

इति दुर्गामन्त्रे रेफत्वं सुव्यक्तम् ॥३८॥

मन्त्र इस प्रकार होने पर माया (ह्रीं), अद्रि (द), कर्ण (उ) और बिन्दुयुक्त होगा और सर्ग (:) युक्त होगा। तत्पश्चात् पञ्चान्तक (ग), प्रतिष्ठा (आ) युक्त होगा। तत्पश्चात् मारुत (यकार) भौतिकासन (ऐ) युक्त होगा। इसके अनन्तर प्रणवादि और हृदयान्त (नमः) होगा। इस अष्टाक्षर दुर्गामन्त्र में पूर्वकथित सर्ग (:) के स्थान पर ऊपर कहे नियम के अनुसार रेफ लगाना होगा, नहीं तो दुर्गायै नहीं हो सकेगा। अब मन्त्र हुआ—ह्रीं दुर्गायै नमः।।३८।।

न चैवं—

हृदयं वाग्भवं देवि! निजबीजयुगं ततः ।
कालिकायै पदञ्चोक्त्वा तदन्ते वह्निसुन्दरी ॥३९॥

इत्यनेन—

नमः पाशाङ्कुशौ द्वेधा फट् स्वाहा कालिकालिके ।
दीर्घतनुच्छदं कालीमनूः पञ्चदशाक्षरः ॥४०॥

इत्यनेन च उद्धारिते कालीमन्त्रद्वये विसर्गलोपः स्यादिति वाच्यम्, तथा सति नमः इति सविसर्गस्याप्राप्त्या मन्त्रबहिर्भावापत्तेः। वर्णान्तरोत्पत्तौ तु न दोष इति रहस्यम् ॥४१॥

यह होता है—हे देवि! हृदय (नमः), वाग्भव (ऐं), तत्पश्चात् उनका बीज (क्रीं क्रीं), तत्पश्चात् कालिकायै कहकर उसके पश्चात् वह्निसुन्दरी (स्वाहा) कहे। इस वाक्य द्वारा एवं नमः, पाश तथा अंकुश बीज (आं तथा क्रों) दो-दो बार तत्पश्चात् फट् स्वाहा कालिकालिके, तदनन्तर दीर्घ तनुच्छद (हुं)—यह होता है काली का १५ अक्षरों वाला मन्त्र। इसके द्वारा उच्चरित काली के दोनों मन्त्रों में विसर्ग का लोप हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विसर्गयुक्त 'नमः' पद की अप्राप्ति के कारण उसका अमन्त्रत्व हो जाता (अर्थात् यदि नमः विसर्गयुक्त नहीं होता तब मन्त्र ही त्रुटिपूर्ण हो जाता)। तब अन्य वर्णों की उत्पत्ति में दोष नहीं है (अर्थात् यदि अन्य वर्णों में दिसर्ग-लोप पहले कहे गये कारणों से होता है तब दोष नहीं होगा। यही रहस्य है।।३९-४१।।

अथोपासनाफलनिर्णयः

वाराहीतन्त्रे—

धनकामे गणपतिमारोग्ये च दिवाकरम्।
तारापतिञ्च श्रीकामे मुक्तिकामे जनार्दनम्॥१॥
नारायणं सर्वकामे श्रीकामे पुरुषोत्तमम्।
त्रिवर्गसिद्ध्यै श्रीविद्यां विद्यार्थं कालिकां भजेत्।
चतुर्वर्गं तथा तारां कामेशीं चण्डिकां भजेत्॥२॥

अब उपासना के फल का निर्णय कर रहे हैं। वाराही तन्त्र में कहा गया है कि धन- कामना हेतु गणपति, आरोग्य कामनार्थ सूर्य, स्त्री-कामनार्थ चन्द्रमा, मुक्ति कामना के लिये जनार्दन, समस्त कामनार्थ नारायण, सौन्दर्य-कामना श्रीकामनार्थ पुरुषोत्तम, त्रिवर्गार्थ श्रीविद्या तथा विद्या (रहस्य विद्या) के लिये कालिका की उपासना करनी चाहिये।।१-२।।

मातङ्गीं धनकामे च वाराहीं धर्मकामके।
भुवनेशीं राज्यकामे तथा नीलसरस्वतीम्॥३॥

धनकामनार्थ मातंगी, धर्म के लिये वाराही, राज्य-कामनार्थ भुवनेश्वरी तथा नील-सरस्वती की उपासना करे।।३।।

तथा तन्त्रान्तरे—

महाविद्याप्रभावेण शूद्रो वैश्यत्वमाप्नुयात्। इति।
अथवा यस्य यत्र भक्तिः स तदुपासनां कुर्यात्॥४॥

अन्य तन्त्र में कहा गया है कि महाविद्या के प्रभाव से शूद्र को वैश्यत्व प्राप्त होता है। अथवा जिसकी जिस देवता में भक्ति है, वह उसकी उपासना करे।।४।।

तन्त्रे—

विष्णुभक्तो यदा देव! कुलदीक्षापरो भवेत्।
पुत्रदारधनं तस्य नाशयामि न संशयः॥५॥

(भगवान्) तन्त्र में कहते हैं कि हे देव! विष्णुभक्त यदि कुलदीक्षा लेता है तब उसके स्त्री, पुत्र, धनादि का नाश होता है। यह निःसंदिग्ध है।।५।।

अथ मन्त्राणां दश संस्काराः। यथा गौतमीये शारदायाञ्च—

मन्त्राणां दश कथ्यन्ते संस्काराः सिद्धिदायिनः।
जननं जीवनं पश्चात् ताड़नं बोधनं तथा॥६॥
अथाऽभिषेको विमलीकरणाप्यायने तथा।
तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः॥७॥

अब मन्त्रों के दश संस्कारों का वर्णन किया जाता है। जैसा कि गौतमीय तन्त्र तथा शारदातिलक में कहा गया है कि सिद्धिप्रद मन्त्रों के दश संस्कार होते हैं—जनन, जीवन, ताड़न, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन तथा गोपन।।६-७।।

स्वर्णादिपात्रे संलिख्य मातृकायन्त्रमुत्तमम्।
काश्मीरचन्दनेनापि भस्मना वापि सुव्रते॥८॥

भगवान् कहते हैं, हे देवि! स्वर्ण के पात्र में काश्मीर (कुङ्कुम), चन्दन अथवा भस्म के द्वारा उत्तम रूप से मातृका यन्त्र बनाकर मन्त्र का उद्धार करे।।८।।

काश्मीरं शक्तिसंस्कारे चन्दनं वैष्णवे मनौ।
शैवे भस्मे समाख्यातं मातृकायन्त्रलेखने॥९॥

मातृका यन्त्र लिखते समय कुङ्कुम द्वारा शक्तिमन्त्र का, वैष्णव मन्त्रों का चन्दन द्वारा और शैव मन्त्रों का भस्म द्वारा लेखन करे।।९।।

मन्त्राणां मातृकामध्यादुद्धारो जननं स्मृतम्।
पंक्तिक्रमेण विधिना मुनिभिस्तत्र निश्चितम्॥१०॥

मातृका से मन्त्रों के उद्धार को ही मन्त्रों का जनन कहा जाता है। मुनिगण का कथन है कि विधिपूर्वक पंक्तिक्रम से मन्त्र का उद्धार करना होगा। पवित्र पीठादि पर कुङ्कुमादि द्वारा मातृकाचक्र बनाकर उस मातृका चक्र से एक-एक लाईन के क्रम से मन्त्र के एक-एक वर्ण के उद्धार का नाम है—जनन।।१०।।

प्रणवान्तरितान् कृत्वा मन्त्रवर्णान् जपेत् सुधीः।
प्रत्येकं शतवारन्तु जीवनं तदुपाहृतम्॥११॥

साधक मन्त्रवर्णों को प्रणव द्वारा अन्तरित करके प्रत्येक मन्त्रवर्ण का १०० बार पाठ करे। यही जीवन की प्रक्रिया है।।११।।

मन्त्रवर्णान् समालिख्य ताड़येच्चन्दनाम्भसा।
प्रत्येकं वायुबीजेन पूर्ववत् ताड़नं स्मृतम्॥१२॥

वायुबीजेन—यमित्यनेन। पूर्ववत् शतधा।

साधक भोजपत्र पर कुङ्कुमादि द्वारा मन्त्रवर्णों को लिखे। तदुपरान्त वायुबीज 'यं' जपते हुये प्रत्येक वर्ण को १००-१०० बार चन्दन-मिश्रित जल (फेककर) से ताड़न करे। यही मन्त्रों का ताड़न है।।१२।।

विलिख्य मन्त्रवर्णांस्तु प्रसूनैः करवीरजैः।
तन्मन्त्राक्षरसंख्यातैर्हन्याद् रेफेण बोधनम् ।।१३।।

मन्त्रज्ञ साधक भोजपत्र पर कुङ्कुम अथवा गोरोचन से मन्त्र के वर्णों को लिखे। उस मन्त्र में जितने अक्षर हैं, उतनी संख्या के लाल कनेर फूलों से 'रं' बीज पढ़ते हुये प्रत्येक मन्त्रवर्ण को १०० बार ताड़ित करे। यही है—मन्त्र का बोधन।।१३।।

रेफेणेत्यत्र यान्तेनेति पाठः शारदायाम्। तत्र यान्तेन यकारस्यान्तेन रमित्यनेनेति राघवभट्टः।।१४।।

शारदातिलक की टीका में राघवभट्ट के अनुसार उपरोक्त श्लोक में 'रेफेण' के स्थान पर 'यान्तेन' पाठ है। उसकी व्याख्या में वे कहते हैं कि यान्तेन का अर्थ है—यकार के बाद वाला शब्द अर्थात् 'रं'। प्रकारान्तर से इसका भी तात्पर्य 'रं' बीज से ही है।।१४।।

स्वतन्त्रोक्तविधानेन मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया।
अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्रमभिषिञ्चेद् विशुद्धये ।।१५।।

स्वतन्त्रेति स्वीयतन्त्रेत्यर्थः।

मन्त्र का ज्ञाता साधक भोजपत्र पर शिवमन्त्र को शैवतन्त्र मतानुसार विधि से, शक्तिमन्त्र को शक्तितन्त्रोक्त विधि से, विष्णु मन्त्र को वैष्णवतन्त्रोक्त विधि से अंकित करे (अन्य देवताओं के मन्त्रों के सम्बन्ध में भी इसी नियम का पालन करे अर्थात् उनके-उनके तन्त्रों की विधि से लिखे)। अब मन्त्रवर्ण की संख्या के बराबर पीपल के पत्ते द्वारा (मन्त्र के प्रत्येक वर्ण का) १०८ बार अभिषेक करे। यही है—मन्त्र का अभिषेक।।१५।।

स्वतन्त्र का अर्थ है—मन्त्र के देवता के अनुसार उनका तन्त्र।

यथा—

नमोऽन्तं मन्त्रमुच्चार्य तदन्ते देवताभिधाम्।
द्वितीयान्तामहं पश्चादभिषिञ्चाम्यनेन तु।
तोयैरञ्जलिनाबद्धैरभिषिञ्चेत् स्वमूर्द्धनि ।।१६।।

अब अभिषेक के प्रकार को कह रहे हैं। जैसे नमः से अन्त होने वाले मन्त्र का उच्चारण करके द्वितीया विभक्त्यन्त देवता का नाम लेकर 'अहं' कहे, तदनन्तर 'अनेनाभिषिञ्चामि' इस मन्त्र को पढ़ते हुये अर्थात् 'अहं अनेनाभिषिञ्चामि' कहते हुये जल-पूर्ण अंजलि द्वारा अपने शिर का अभिषेक करे।।१६।।

अञ्जलिनेति स्वमूर्द्धनीति च पुरश्चरणाभिषेकादौ। अत्र तु अश्वत्थपल्ल-वैर्मन्त्रोपर्यभिषेक इति ध्येयम् ॥१७॥

'अंजलि से' तथा अपने 'शिर पर' यह पुरश्चरण का अंग अभिषेक है। अर्थात् अपने शिर पर अंजलि से अभिषेक करे (मन्त्र पर नहीं)। मन्त्र पर तो पीपल के पत्ते से अभिषेक करना है।।१७।।

सञ्चिन्त्य मनसा मन्त्रं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत्।
मन्त्रे मलत्रयं मन्त्री विमलीकरणं त्विदम् ॥१८॥

साधक मन से मन्त्र का चिन्तन करके मन्त्रज्योति का चिन्तन करते हुये उसमें मन्त्र के सहज, आगन्तुक तथा मायीय मलत्रय का (इस मन्त्रज्योति में) दहन करे (यह मानसिक चिन्तन करे)। यह है—मन्त्र का विमलीकरण।।१८।।

(यहाँ जिस मन्त्रज्योति का वर्णन है, वह मूलाधार से उठी कुण्डलिनी अग्नि है)।

मलत्रयमिति मायिकं कार्मणमाणवञ्च।

मलत्रय अर्थात् मायीय, कार्मण तथा आणव मल।

यथा प्रपञ्चसारे—

मायिकं नाम योषोत्थं पौरुषं कार्मणं मलम्।
आणवं तद् द्वयं प्रोक्तं निषिद्धं तन्मलत्रयम् ॥१९॥

स्त्री से जात (उत्पन्न) मल है—मायिक, पुरुषजात मल है कार्मण तथा दोनों का मिलित मल है—आणव। इन्हें दूर करना चाहिये, ऐसा प्रपञ्चसार तन्त्र में कहा है।।१९।।

न नवोऽनवस्तस्य भाव आणव्यं पुरातनमित्यर्थः। अस्यार्थः—असम्यक् प्रकारेण जपान्मत्रस्य मलाख्यं दूषणं जायते। तत्र योषोत्थन्त्रीकृतजपोत्थं मायिकम्। पुरुषकृतजपोत्थं कार्मणम्। उभयकृतजपोत्थमाणवम्। तन्मलत्रयं दूरीकर्त्तव्यमिति ॥२०॥

आणव अर्थात् न नव, जो नया नहीं है अर्थात् पुरातन। वह है अनव। उसका भाव है आनव्य। अर्थात् असम्यक् प्रकार से जपजनित मल जो मन्त्र में आ जाता है,

वही है आणव। जो स्त्री द्वारा जप करने से मन्त्र में आ जाता है, वह है मायिक मल। पुरुषकृत असम्यक् जप से मन्त्र में जो दोष आता है, वह है कार्मण मल। दोनों (स्त्री + पुरुष) कृत दोष जो मन्त्र में आता है, (दोनों द्वारा असम्यक् रूप करने से) वह है आणव मल। इन तीनों को मन्त्र से हटाना, निराकरण करना साधक का कर्त्तव्य है।।२०।।

तन्त्रे—

तारं व्योमाग्निमनुयुग् दन्ती ज्योतिर्मनुर्मतः ।

तारं = प्रणवः। व्योमः = हकारः। अग्नी = रेफः। मनुश्चतुर्दश स्वर-स्तद्युक्तो दन्ती अनुस्वारः। तेन ॐ ह्रौं इति ज्योतिर्मन्त्रः ॥२१॥

तन्त्र में ज्योति से मन्त्रोद्धार कहते हैं, तार (ॐ), व्योम, मनुयुक् (ऊ), दन्ती ज्योतिर्मय मन्त्र कहा गया है। तार = प्रणव। व्योम = ह। अग्नि = र। मनुश्चतुर्दश = औकारयुक्त। दन्ती = अनुस्वार। इससे 'ॐ ह्रौं' ज्योतिर्मय मन्त्र का उद्धार हुआ।।२१।।

स्वर्णेन कुशतोयेन पुष्पतोयेन वा तथा ।
तेन मन्त्रेण विधिवदाप्यायनविधिः स्मृतः ॥२२॥

तेन मन्त्रेण = ज्योतिर्मंत्रेण। आप्यायनं = प्रोक्षणम्।

स्वर्ण द्वारा, कुशयुक्त जल से अथवा पुष्पयुक्त जल से विधिवत् प्रोक्षण ही आप्यायन है।।२२।।

तेन मन्त्रेण = ज्योति मन्त्र से। आप्यायन = प्रोक्षण।

मन्त्रेण विधिना मन्त्रे तर्पणं तर्पणं मतम् ।
मधुना शक्तिमन्त्रे तु वैष्णवे चेन्दुमज्जले ।
शैवे घृतेन दुग्धेन तर्पणं सम्यगीरितम् ॥२३॥

मन्त्रेण = मूलमन्त्रेण। विधिना = यथोक्तविधिना।

तर्पण = विधिपूर्वक मन्त्र के द्वारा मन्त्र का तर्पण करना। शक्ति मन्त्र का शहद से, वैष्णव मन्त्र का कपूरयुक्त जल से, शैव मन्त्र का घृत या दूध से तर्पण करना चाहिये। मन्त्र अर्थात् मूल मन्त्र से तर्पण। विधिना = यथोक्त विधि द्वारा, जिसे अगले श्लोक में कहते हैं।।२३।।

यथा—

मूलमन्त्रं समुच्चार्य तदन्ते देवताभिधाम् ।
द्वितीयान्तामहं पश्चात् तर्पयामि नमोऽन्तकम् ॥२४॥

इति।

मन्त्रे लिखितमन्त्राधारे। सम्यगिति कथनाज्जलेनापि क्रियते। मध्वादित्रयं अभिषेकेऽपि प्रशस्तमिति तान्त्रिकाः॥२५॥

जैसे मूल मन्त्र का सम्यक् उच्चारण करके उसके पश्चात् द्वितीया विभक्तियुक्त देवता का नाम ले, तदनन्तर कहे—अहं तर्पयामि नमः। मन्त्र अर्थात् लिखित मन्त्र पर। जल द्वारा तर्पण करना चाहिये। तान्त्रिक गण कहते हैं कि मधु, चन्दनमिश्रित दुग्धादि से भी तर्पण प्रशस्त है।।२४-२५।।

तारमायारमायोगो मनोर्दीपनमुच्यते।

तारः = ॐ। माया = ह्रीं। रमा = श्रीं। तथा च तारमायारमाबीज-पुटितमन्त्रमष्टोत्तरशतं जपेदित्यर्थः। तथा च विश्वसारे—

तारमायारमाबीजपुटितेन जपेन्मनूम्।
शतमष्टोत्तरञ्चैव दीपयेत् साधकोत्तमः॥२६-२७॥

तार (ॐ), माया (ह्रीं), रमा (श्रीं) के योग (ॐ ह्रीं श्रीं) से पुटित मन्त्र का जप ही मन्त्र का दीपन कहा गया है अर्थात् इनको अपने दीक्षामन्त्र में पुटित करके १०८ जप करे। विश्वसार तन्त्र में भी यही कहा गया है कि साधकों में उत्तम व्यक्ति इनसे पुटित अपने मन्त्र का १०८ जप करे।।२६-२७।।

पुटितेनेति अनुलोमविलोमक्रमेण पुटितेनेत्यर्थः। तेनादौ प्रणवस्ततो माया ततो रमा ततो विशिष्टमन्त्रस्ततो रमा ततो माया ततः प्रणवः। एवंरीत्या जपं कुर्यादित्यर्थः। एतेन बीजत्रयमुच्चार्य दातव्यमन्त्रोच्चारणरूपदीपनं कुर्यादिति स्मार्त्तमतमपास्तम् उक्तविश्वसारवचनविरोधात्॥२८॥

'पुटितेन' का अर्थ है कि अनुलोम तथा विलोम क्रम से पुटित मन्त्र द्वारा अर्थात् प्रथमतः प्रणव, उसके पश्चात् ह्रीं, तत्पश्चात् श्रीं, तत्पश्चात् जिस मन्त्र का प्रयोग करना है वह मन्त्र, तत्पश्चात् श्रीं, तत्पश्चात् ह्रीं और अन्त में प्रणव। यह 'पुटितेन' का तात्पर्य है। 'इस प्रकार इन तीनों बीजों का उच्चारण करके अपने मन्त्र का उच्चारणरूप दीपन करना चाहिये।' इस स्मार्त्त मत का खण्डन होता है अर्थात् ॐ ह्रीं श्रीं कहकर अपने मन्त्र का उच्चारण करने से दीपन नहीं होगा। पूर्वोक्त पुटित रूप से जप करने से दीपन सम्पन्न होगा। उससे विश्वसार तन्त्र में कहे गये वाक्य का विरोध होगा (स्मार्त्त मत से करने से)।।२८।।

जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम्।
संस्कारा दश सम्प्रोक्ताः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः।
यान् कृत्वा सम्प्रदायेन मन्त्री वाञ्छितमाप्नुयात्॥२९॥

जपने वाले मन्त्र को गुप्त रखना ही मन्त्र का गोपन कहा गया है। मन्त्र जानने वाला साधक अपने गुरु सम्प्रदायानुसार इन मन्त्रसंस्कार को करके मनचाहा फल प्राप्त करते हैं। समस्त तन्त्रों में गोपित मन्त्रों के इन दस संस्कारों को सम्यक् रूप से कहा गया।।२९।।

मन्त्राणां संस्कारप्रयोग:

सम्प्रदायो गुरुपरम्परा। अथैतेषां प्रयोग:। चन्दनादिलिप्तस्वर्णादिपात्रे स्वर्णशलाकया मातृकायन्त्रं विलिख्य तत्रस्थमातृकावर्णसमुदायात् मन्त्रवर्णान् मनसा एकैकश: समाहृत्य बीजादिरूपमन्त्राक्षराणां पंक्तिक्रमेण लिखनरूपं जननं कृत्वा, बीजाक्षररूपान् मन्त्रवर्णान् प्रत्येकमोङ्कार-मध्यस्थान् कृत्वा शतधा जपरूपजीवनं कृत्वा, चन्दनानिलिप्तस्वणादि तत्तद् बीजादिरूपमन्त्रवर्णान् समालिख्य प्रत्येकं यमिति वायुबीजेन चन्दनोदकप्रक्षेपरूपताड़नं शतधा कृत्वा, पुनस्तान् विलिख्य मन्त्रवर्ण-संख्यकरवीरपुष्पै: प्रत्येकं रमिति वह्निबीजेन हननरूपबोधनं कृत्वा, नमोऽन्तं दातव्यमन्त्रं समुच्चार्य तत्तद्देवतानामद्वितीयान्तमुच्चार्याऽहमभि-षिञ्चामीत्यन्तेन मन्त्रेण मन्त्रवर्णसंख्यया मन्त्रवर्णोपरि अश्वत्थपल्लवोदक-प्रक्षेपरूपमभिषेकं कृत्वा मनसा मन्त्रं सञ्चिन्त्य ॐ ह्रौं इति ज्योतिर्मन्त्रेण मन्त्रस्य मलत्रयदहनरूपं विमलीकरणं कृत्वा ॐ ह्रौं इति मन्त्रजप्तेन कुशोदकेन मन्त्रस्यं प्रत्यक्षरप्रोक्षणरूपमाप्यायनं कृत्वा दातव्यमन्त्रमुच्चार्य तत्तद्देवतानामद्वितीयान्तमुच्चार्याऽहमभिषिञ्चामि नम: इति मन्त्रेण देवतीर्थ-जलेन लिखितमन्त्राधारे मन्त्रवर्णसंख्यया तर्पयित्वा ॐ ह्रीं श्रीं इत्युच्चार्य मूलमन्त्रं जप्त्वा श्रीं ह्रीं ॐ इत्यष्टोत्तरशतजपरूपदीपनं कृत्वा मन्त्रस्या-प्रकाशनरूपगोपनं कुर्यात्। गोपनन्तु गुरुशिष्याभयकर्त्तृकम्। एते संस्कारा: गुरुणा न कृताश्चेत् पश्चात् शिष्येणापि कर्त्तव्या:। महाविद्यामन्त्राणां दशसंस्काराकरणेऽपि न दोष: सिद्धविद्यात्वादिति तान्त्रिका:।।३०।।

चन्दनादि लिप्त स्वर्णादि पात्र में सोने की सींक से मातृकायन्त्र बनाये। मातृकावर्ण समुदाय से मन्त्रों के वर्णों को एक-एक करके मन में एकत्र करे। यह जनन है। अब उन मन्त्राक्षरों को लाइन से लिखने के पश्चात् बीजमन्त्र के एक-एक अक्षर को ओकार के मध्य में रखकर १०० बार जप करके चन्दनादि-लिप्त स्वर्णपात्र में उन-उन वर्णों को सुन्दर रूप से लिखकर प्रत्येक मन्त्रवर्णों पर 'यं' वायुबीज जपते हुये चन्दनमिश्रित जल को छिड़ककर मन्त्र का ताड़न करे। पुन: इसके पश्चात् उन मन्त्रवर्णों को लिखकर मन्त्र के वर्णों की संख्या के बराबर लाल कनेर के पुष्पों द्वारा प्रत्येक मन्त्रवर्ण को 'रं'

रूप वह्निबीज द्वारा हनन करे। यह बोधन क्रिया है। अब अपने मन्त्र के अन्त में नमः लगाकर मन्त्र का उच्चारण करे और उस-उस द्वितीया विभक्ति के अन्त में पहले देवता का नाम लगाकर 'अहं अभिषिञ्चामि' कहकर मन्त्र के जितने वर्ण हैं, उतने पीपल के पत्तों को जल से सिञ्चित कर मन्त्रवर्णों पर उससे जल छिड़ककर अभिषेक करे। अब मन ही मन अपने मन्त्र का चिन्तन करते हुये 'ॐ ह्रौं' जपते हुये जल से सिञ्चित कुशा द्वारा मन्त्र के प्रत्येक अक्षर पर जल छिड़के (जो पट्ट पर लिखे हुये हैं)। इस प्रकार मन्त्र का आप्यायन करके अब उस लिखित मन्त्र के आधार पर दातव्य मन्त्र तथा उसके अन्त में द्वितीया विभक्ति के अन्त में मन्त्र के देवता का नामोच्चार करते हुये कहे—अहमभिषिञ्चामि नमः। इस मन्त्र से तीर्थ के जल से मन्त्रवर्ण की संख्या के अनुसार तर्पण करने के उपरान्त 'ॐ ह्रीं श्रीं' का उच्चारण करके मूल मन्त्र का पाठ करते हुये 'श्रीं ह्रीं श्रीं' का उच्चारण करे। इस प्रकार मन्त्र को पुटित करके १०८ बार जपे और इस प्रकार से मन्त्र का दीपन करके मन्त्र को प्रकाशित न करे अर्थात् मन्त्रगोपन करे। गुरु तथा शिष्य दोनों द्वारा गोपन होगा। यदि गुरु इन दस संस्कारों को नहीं करता तब इसे बाद में (दीक्षा के पश्चात्) शिष्य सम्पन्न करे। दश महाविद्या के मन्त्रों का यह दशो संस्कार न करने पर भी कोई क्षति नहीं है; क्योंकि वे मन्त्र सिद्ध विद्या कहे जाते हैं।।३०।।

अथ मातृकायन्त्रम्

व्योमेन्द्वौरसनार्णकर्णिकचां द्वन्द्वैः स्फुरत्केसरं
वर्गोल्लासि वसुच्छदं वसुमतीगेहेन संवेष्टितम्।
आशास्वस्त्रिषु लान्तलाङ्गलियुजा क्षौणीपुरेणावृतं
यन्त्रं वर्णतनोः परं निगदितं सौभाग्यसम्पत्प्रदम्।।३१।।

व्योम—हकारः। इन्दुः—सकारः। औ—स्वरूपम्। रसनार्णो विसर्गस्ते कर्णिकायां यस्य तत्। तेन हसौरिति प्रेतबीजं मध्ये। अष्टवर्गविशिष्टा-न्यष्टपत्राणि। वर्गाश्चात्र कादयः पञ्च पञ्च, यादयश्चत्वारः, शादयश्चत्वारो लादि द्वावित्यष्टौ। नात्र वर्णमालामिव वर्गत्वेन स्वराणां ग्रहणम्, तेषां केसरघटकत्वादिति। आशासु—चतुर्दिक्षु। अस्त्रिषु—कोणेषु। लान्तो वकारः, लाङ्गली ठकारः। दिक्षु वकाराः कोणेषु ठकारा इत्यर्थः। क्षौणीपुरं—चतुरस्त्रम्।।३२।।

अब मातृका यन्त्र कहा जा रहा है। इसकी कर्णिका में व्योम (ह), इन्दु (स), औ एवं रसणार्ण (:) युक्त अर्थात् हसौः युक्त। आगे से (अग्रभाग से) प्रदक्षिण क्रमानुसार

क्रमशः स्वर वर्णसमूह के दो-दो अक्षरों से इसका केशर विकसित है। आगे वाले पत्र से (आगे वाले दल से) प्रदक्षिण क्रमानुसार कर्णिकाभिमुख ककारादि पञ्च वर्ण, ष श ल तीन वर्ग पत्रान्तर्गत होंगे। दिक्समूह तथा कोणसमूह में यथाक्रम व तथा ठयुक्त भूपुर द्वारा आवृत यह वर्णदेवता का सौभाग्य एवं सम्पत्ति देने वाला श्रेष्ठ यन्त्र वर्णित किया गया।

इसकी व्याख्या इस प्रकार है—व्योम (ह), इन्दु (स), स्वरूप (औ), रसनार्ण (: अर्थात् विसर्ग)—यह समष्टि जिस स्थान पर है (जिस पद्म में है), वह यह पद्म (मातृका यन्त्र)। यहाँ स्पष्ट होता है कि इसमें हसौः यह प्रेतबीज मध्य में लिखना होगा। इस पद्म (कमल-मातृका यन्त्र) के आठ पत्र हैं—अष्टवर्ग। ककारादि ५ वर्ग, यादि, शादि, लादि। इस प्रकार ८ वर्ग हुये। यहाँ वर्णमाला की तरह स्वरसमूह को वर्गरूपेण ग्रहण नहीं किया जाता; क्योंकि स्वरसमूह कमल की केशर के घटक हैं। आशासु का अर्थ है—चारो दिशा। अस्त्रिषु अर्थात् कोणसमूह। लान्त = व, लांगलि = ठ। क्षौणीपुर = चतुरस्र (भूपुर)।।३१-३२।।

अथ दीक्षापूर्वकृत्यानि

अथ दीक्षादिवसात् प्राक् तृतीयदिवसे क्षौरोद्वर्त्तनवस्त्रनिर्णेजनस्नानादि च कृत्वा, हविष्यं निरामिषं वा एकदा भुक्त्वा, तत्परदिने स्नात्वा, ज्ञाताज्ञातयावत् पापक्षयार्थं सप्रणवव्याहृतिकां गायत्रीं सहस्रं जपित्वा, उपवासं कुर्वन् हविष्यान्नभक्षणं निरामिषभक्षणं वा कृत्वा रात्रौ गुरोः सकाशे तत्तद्देवतालये वा अन्यत्र वा भूमौ कुशशय्यायां वा पवित्रशय्यान्तरे वा वैष्णवः पूर्वशिरास्तदितर उत्तरशिराः शयीत ॥३३॥

अब दीक्षा के पूर्व के जो कृत्य हैं, उन्हें कहा जाता है। दीक्षा लेने के तीन दिन पूर्व क्षौर कराये। चन्दनादि द्वारा देह का मलशोधन करे, साफ वस्त्रादि स्नान के पश्चात् पहने। दिन में मात्र एक बार शाकाहारी भोजन अथवा हविष्यान्न भक्षण करे। अगले दिन स्नान करके ज्ञात तथा अज्ञात सभी प्रकार के पापक्षय के लिये १००० प्रणव तथा व्याहृतियुक्त १००० गायत्री का जप करके उपवास करे अथवा हविष्यान्न अथवा शाकाहारी भोजन करे। रात्रि में गुरुगृह में अथवा जो मन्त्र लिया जाना है, उसके देवता के गृह में अथवा अन्यत्र (पवित्र स्थान पर) भूमि में अथवा कुश से बने बिस्तर पर अथवा पवित्र शय्या पर शयन करे। वैष्णव गण पूर्व में शिर रखकर शयन करें एवं अन्य व्यक्ति उत्तर दिशा में शिर करके उस रात्रि शयन करें।।३३।।

यथा विद्याधराचार्यः—

प्रातःस्नात्वा तु गायत्र्याः सहस्रं प्रयतो जपेत्।
ज्ञाताज्ञातस्य पापस्य क्षयार्थं प्रथमं ततः ॥३४॥

जैसे विद्याधराचार्य कहते हैं कि प्रातः स्नान के उपरान्त १००० गायत्री का जप करे, जिससे ज्ञात-अज्ञात पापों का क्षय हो जाता है।।३४।।

यत् तु—'प्रातः स्नात्वा तु सावित्र्या अयुतं प्रयतो जपेदि'ति तत् पुनरत्यन्तपापाशङ्कया। यद्यपि पुरश्चरणविषय एवैतदभिहितम् तथापि एकत्र दृष्टस्य बाधकाभावे परत्रापि प्रवृत्तिः। दीक्षायां मासविचारस्य संकल्पस्य च सौरमानेनैव कर्त्तव्यत्वम् 'मन्त्रस्यारम्भणं मेषे धनधान्यप्रदं भवेदि'-त्यादिप्रागुक्तराशिघटितवचनकलापबलात्। अतएव संकल्पे राश्युल्लेखोऽप्यायातः ॥३५॥

कहा गया है कि प्रातः स्नान करके संयत होकर १००० गायत्री का जप करना चाहिये; यह अत्यन्त पापयुक्त होने की आशंका से कहा गया है। यद्यपि यह पुरश्चरण के ही सम्बन्ध में कहा गया है, तथापि एक विषय में कहा गया नियम यदि बाधक (नियम- विरुद्ध) नहीं है तब उसे अन्य विषय में भी प्रयुक्त कर सकते हैं। जैसे वचन है कि मेष में मन्त्र का आरम्भ धन-धान्यप्रदायक होता है—इत्यादि। अतः इन वचनों की मान्यता के अनुसार दीक्षा में मासविचार के लिये (चान्द्रमान नहीं) सौरमान ही कर्त्तव्य है (अर्थात् सूर्य किस राशि में है, उसके फलाफल से दीक्षा का समय सिद्ध करे, चान्द्र राशि से नहीं)। इसीलिये संकल्प में राशि का उल्लेख किया गया।।३५।।

अथ दीक्षा

तत् प्रथमं स्वस्तिवचनम्। यथा व्यासः—

सम्पूज्य गन्धपुष्पाद्यैर्ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्।
धर्मे कर्मणि मङ्गल्यै सग्रामाद्भुतदर्शने ॥३६॥

अथ शिष्यः संकल्पं कृत्वा गुरुं वृणुयात्। ततो गुरुः सर्वतोभद्राद्यन्यतममण्डले घटं स्थापयेत् घटप्रमाणं तु गौतमीये ॥३७॥

अब दीक्षा प्रक्रिया कही जा रही है। व्यास का वचन है कि पहले स्वस्तिवाचन करे। धर्म, कर्म, मंगलकर्म, संग्राम तथा अद्भुत दर्शन की स्थिति में ब्राह्मणों का गन्ध-पुष्पादि से पूजन करके उनके द्वारा स्वस्तिवाचन करना चाहिये।

तदनन्तर शिष्य संकल्प करके गुरु का वरण करे। अब गुरु सर्वतोभद्र मण्डल

प्रभृति किसी मण्डल में घट की स्थापना करे। इसका घट प्रमाण गौतमीय तन्त्र में इस प्रकार कहा गया है—।।३६-३७।।

इमं रौप्यं तथा ताम्रं मार्त्तिकं वा स्वशक्तितः।
वित्तशाठ्यं न कर्त्तव्यं कृते निष्फलमाप्नुयात्॥३८॥

अपनी अर्थशक्ति के अनुसार स्वर्ण, चाँदी, ताँबा अथवा मिट्टी का घट स्थापित करे। इसमें (जान-बूझकर) कंजूसी न करे, अन्यथा निष्फलता मिलेगी।।३८।।

षट् त्रिंशदङ्गुलं कुम्भं विस्तारोन्नतिशालिनम्।
षोडशं द्वादशं वापि ततो न्यूनं न कारयेत्॥३९॥

विस्तार तथा उच्चता-विशिष्ट ३६ अथवा १६, १२ अंगुल का घट स्थापित करे। इससे छोटा न हो।।३९।।

अस्यार्थः षट्त्रिंशदङ्गुलं सन्तं विस्तारोन्नतिशालिनमिति। तेन विस्तारे उन्नतौ च षट्त्रिंशदङ्गुलम्। एवं षोडशादावपि। शारदायां—
हेमादिरचितं कुम्भमन्त्राद्भिः क्षालितान्तरम्।
चन्दनागुरुकर्पूरं धूपितं शोभनाकृतिम्॥४०॥
आवेष्टिताङ्गं नीरन्ध्रं तन्तुना त्रिगुणात्मना।
अर्चितं गन्धपुष्पाद्यैर्दूर्वाक्षतसमन्वितम्।
नवरत्नादरं मन्त्री स्थापयेत् तारमुच्चरन्॥४१॥

इसका तात्पर्य है कि ३६ अंगुलादि विस्तार (चौड़ाई) तथा उच्चता-युक्त (ऊँचाई)। षोडश और द्वादश अंगुल में भी यही नियम है। शारदातिलक में कहते हैं कि सर्वतोभद्र मण्डल में स्वर्ण, चाँदी, ताँबा अथवा मिट्टी-निर्मित उक्त नाप वाला, अस्त्र मन्त्र जपे जल से अन्दर-बाहर धुला हुआ शोभित आकार वाला, जिसका गर्दन का भाग तीन फेरे सूत्र द्वारा बंधा हो, उसे 'ॐ कुम्भाय नमः' मन्त्र से गन्धादि द्वारा पूजित करे। चन्दन, अगरु तथा कर्पूर द्वारा धूपित करे। दूर्वा तथा अक्षतयुक्त नवरत्न (अन्दर रखे गये नवरत्न) से युक्त बिना छेद वाले घट की स्थापना प्रणव का उच्चारण करते हुये करना चाहिये।।४०-४१।।

ऐक्यं सङ्कल्प्य पीठस्य कुम्भस्य च विधानवित्।
क्षीरद्रुमकषायेण पालाशत्वग्भवेन वा॥४२॥
तीर्थोदकैर्वा कर्पूरं गन्धपुष्पादिवासितैः।
आत्माभेदेन विधिवन्मातृकां प्रतिलोमतः।
जपेन् मूलमनुं तद्वत् पूरयेद् देवताधिया॥४३॥

आत्मा, देवता तथा जल के एकता की भावना करते-करते बिन्दुयुक्त मातृका वर्णों (प्रत्येक वर्ण के ऊपर विन्दु लगाकर) का विलोम जप करते-करते उसी प्रकार मूल मन्त्र का जप करते-करते पीपल, वट, यज्ञ उडुम्बर, पाकड़ के छाल के रस द्वारा अथवा कर्पूर, चन्दन तथा पुष्प द्वारा सुवासित तीर्थ जल द्वारा आत्मा, देवता तथा जल में ऐक्य की भावना करते-करते घट को पूर्ण करे (जल से भर दे)।।४२-४३।।

कुम्भवक्त्रे निधायाथ चषकं सफलाक्षतम्।
आवाह्य पूजयेत् तत्र मन्त्री मन्त्रस्य देवताम्।।४४।।

अब मन्त्रज्ञ साधक (गुरु तथा शिष्य) एक घट के ऊपर अखण्डित चावल भरा एक पात्र रखे और मन्त्र द्वारा घट में देवता का आवाहन करते हुये घट-पूजन करे।।४४।।

अस्त्राद्भि फट्काराभिमन्त्रितजलैः। तन्तुना त्रिगुणात्मनेति। यज्ञोपवीतरूपेणेत्यर्थः। तारं = प्रणवः। पीठस्य = तत्तद्देवतासनस्य। प्रतिलोमतः क्षकाराद्यकारान्तु क्रमेण। चषकं = शरावादि। आवाह्येति। केवलजले आवाहनाद्यभावेऽपि घटे आवाहनादिकं कार्यमिति तत्त्वम्।।४५।।

अस्त्राद्भि का तात्पर्य है—फट् मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित जल। त्रिगुणात्मना तन्तु अर्थात् यज्ञोपवीतरूप धागे से। तार अर्थात् प्रणव। पीठस्य अर्थात् मन्त्र के देवता का आसन। प्रतिलोमतः अर्थात् वर्णमाला का विलोम जप अर्थात् 'क्ष' से पढ़ते हुये 'क' तक पढ़े। आवाह्य अर्थात् केवल जल में ही नहीं, घट में भी आवाहन करे। यह तत्त्व है।।४५।।

तन्त्रान्तरे—

शक्तिविष्णुशिवानान्तु क्षिपेद् गन्धाष्टकं क्रमात्।

घटमध्ये इत्यर्थः। गन्धाष्टकत्रयन्तु पूजापटले वक्ष्यते। निबन्धे—

मुहूर्त्ते सर्वतोभद्रे नवं कुम्भं निधाय च।
सोदकं गन्धपुष्पाभ्यामर्चितं वस्त्रसंयुतम्।
सर्वौषधिनवरत्नं पञ्चपल्लवसंयुतम्।।४६।।

मुहूर्त्ते शुभमुहूर्त्ते सर्वतोभद्र इति।

तन्त्रान्तर में कहा गया है कि शक्तिपूजा में शक्तिगन्धाष्टक, विष्णुपूजा में विष्णुगन्धाष्टक एवं शिवपूजा में शिवगन्धाष्टक का घट के अन्दर निक्षेप करना (रखना) चाहिये। तीनों का वर्णन आगे पूजा पटल में किया जायेगा। निबन्ध में कहा गया है

कि शुभ मुहूर्त में सर्वतोभद्र मण्डल में गन्ध-पुष्प द्वारा उचित वस्त्र-संयुक्त सर्वौषधि, नवरत्न तथा पञ्चपल्लव- युक्त जलपूर्ण नवीन घट का स्थापन करे। इस कुम्भ में देवता का आवाहन करके पूजन करे।।४६।।

वक्ष्यमाणमण्डलचतुष्टयान्यतमोपलक्षणम्।

दीक्षायां देवपूजायां मण्डलानां चतुष्टयम्।
सर्वतन्त्रानुसारेण कार्यं सर्वसमृद्धिदम्॥

इति वक्ष्यमाणशारदावचनाच्च॥४७॥

सर्वतोभद्र पद चार मण्डलों में से अन्यतम मण्डल का उपलक्षक है। यद्यपि 'शारदातिलक में वक्ष्यमाण' यह वचन है कि दीक्षा में देवपूजा के ४ मण्डल होते हैं। सभी तन्त्रों के अनुसार इनसे सब प्रकार की समृद्धि प्राप्त होती है।।४७।।

वाशिष्ठे—

पनसाम्रं तथाश्वत्थं वटं वकुलमेव च।
पञ्चपल्लवमित्युक्तं मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः॥४८॥

नवरत्नानि तु—

मुक्तामाणिक्यवैदूर्यगोमेदा वज्रविक्रमौ।
पद्मरागं मरकतं नीलञ्चेति यथाक्रमम्॥४९॥

वशिष्ठ कहते हैं—मुनिगण ने पनस, आम, पीपल, वट तथा वकुल—इनके पत्तों को पञ्चपल्लव कहा है।

नवरत्न है—मुक्ता, माणिक, वैदूर्य, गोमेद, हीरा, मूंगा, पद्मराग, मरकत तथा नील।।४८-४९।।

रत्नाभावे धान्यम् सर्वरत्नप्रधानस्य धान्यस्य कुशलं वदेति रामायणीयत्वात् हरितालं वा, रत्नानामप्यलाभे तु हरितालं विनिर्दिशेदिति ग्रन्थान्तरात्। काञ्चनं हरितालञ्च सर्वाभावे विनिक्षिपेदिति भविष्यपुराणाच्च॥५०॥

रत्न के अभाव में धान्य रखा जा सकता है। यद्यपि समस्त रत्नों में प्रधान धान्यों का कुशल बल है—इस रामायण वाक्य में धान्यों को सर्वरत्न-प्रधान कहा गया है। अथवा हरिताल रक्खे। वचनान्तर के अनुसार रत्नसमूह (नव रत्न) न रहने पर हरिताल का प्रयोग करना चाहिये। भविष्य पुराण के अनुसार समस्त द्रव्यों के अभाव में स्वर्ण तथा हरिताल घट में रक्खे।।५०।।

राजराजेश्वरीतन्त्रे शाक्ताभिषेकप्रकरणे घटमित्यनुवृत्तौ—

नातिह्रस्वं नातिदीर्घं मृत्ताम्रस्वर्णनिर्मितम्।
कामबीजेन सम्प्रोक्ष्य वाग्भवेनैव ताड़येत्॥५१॥

राजराजेश्वरी तन्त्र में शाक्ताभिषेक प्रकरण में 'घट' शब्द की अनुवृत्ति में अर्थात् घट प्रकरण में कहा है कि मिट्टी, ताँबा अथवा मिट्टी का न तो अधिक छोटा न अधिक बड़ा घट लेकर उसे 'क्लीं' मन्त्र द्वारा प्रोक्षित करे और वाग्भव बीज 'ऐं' द्वारा उसका ताड़न करे।।५१।।

शक्त्या कलसमारोप्य मायया पूरयेज्जलैः।
मन्त्रेणानेन तीर्थानि देशिकस्तत्र विन्यसेत्॥५२॥

शक्तिबीज 'सौः' द्वारा मण्डल में कलश स्थापित करके मायाबीज 'ह्रीं' द्वारा उसे जल से भरे। मन्त्र की दीक्षा देने वाला गुरु उस घट में जल भरे।।५२।।

गंगाद्याः सरितः सर्वाः समुद्राश्च सरांसि च।
सर्वे समुद्राः सरितः सरांसि जलदा नदाः॥५३॥
ह्रदाः प्रस्रवणाः पुण्याः स्वपातालमहीगताः।
सर्वतीर्थानि पुण्यानि घटे कुर्वन्तु सन्निधिम्॥५४॥

दोनों श्लोकों का गंगाद्याः से कुर्वन्तु पर्यन्त तीर्थस्थापन (घटस्थापन) मन्त्र है। इनका अर्थ है कि स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी में स्थित गंगादि समस्त पुण्य नदी, सरोवर, समस्त समुद्र, जलाशय, बड़े-बड़े नद (ब्रह्मपुत्र, सोन आदि) प्रस्रवण तथा समस्त पुण्य तीर्थ इस घट में निवास करें।।५३-५४।।

रमाबीजेन जप्तेन पल्लवं प्रतिपादयेत्।
कूर्चेन फलदानं स्यात् स्त्रीबीजेन स्थिरीकृतिः॥५५॥

उच्चरित (जप्त) रमा बीज (श्रीं) द्वारा पल्लव-दान करे (घट पर)। घट पर कूर्च बीज (हुं) द्वारा फलदान करे। स्त्रीबीज (स्त्रीं) के उच्चारण से घट का स्थिरीकरण करना चाहिये।।५५।।

सिन्दूरं वह्निबीजेन पुष्पं दद्याच्छराणुना।
मूलेन दूर्वां प्रणवैः कुर्यादभ्युक्षणं ततः॥५६॥

घट पर वह्निबीज (रं) द्वारा सिन्दूर तथा शरमन्त्र (फट्) द्वारा पुष्प चढ़ाये। मूल मन्त्र द्वारा दूर्वा चढ़ाये। तदनन्तर प्रणव द्वारा अभ्युक्षण करे।।५६।।

हुं फट् स्वाहेति मन्त्रेण कुर्याद् दर्भेण ताड़नम्।
विचिन्त्य देवीपीठन्तु तत्रावाह्य प्रपूजयेत्॥५७॥

'हुं फट् स्वाहा' मन्त्र से कुश द्वारा घट का ताड़न करे। अब उस घट में देवी के आसन का चिन्तन करते हुये देवी का आवाहन तथा पूजन करे।।५७।।

शक्त्या—सौरिति बीजेन। शराणुना—अस्त्रमन्त्रेण। ततो गुरुरुक्त-रीत्या मन्त्रस्य दश संस्कारान् कुर्यात्। ततः सूतकद्वयमुक्तये देयं विशिष्टमन्त्रं प्रणवपुटितं कृत्वा गुरुः सप्तवारान् जपेत्। गुरुणैवं कृते पश्चाच्छिष्येण जपपूर्वपरयोः सूतकद्वयमोचनाकरणेऽपि न क्षतिः ॥५८॥

शक्त्या = सौः बीज द्वारा, शराणुना = फट् मन्त्र द्वारा। तदनन्तर गुरु इस विधि से मन्त्र का दश संस्कार करे। इसके पश्चात् सूतकद्वय की मुक्ति के लिये गुरु-प्रदत्त मन्त्र को प्रणव से पुटित करके सात बार जपे। यह गुरु करे। यदि ऐसा गुरु कर लेता है, तब शिष्य को जप के पहले अथवा बाद में दोनों सूतकों की मुक्ति के लिये कुछ नहीं करना होगा।।५८।।

यथा कुलार्णवे—

जातसूतकमादौ स्यादन्ते च मृतसूतकम्।
सूतकद्वयसंयुक्तो यो मन्त्रः स न सिध्यति ॥५९॥

जैसे कुलार्णव में कहा गया है कि जब मन्त्र का गठन (मन्त्रोद्धार) किया जाता है, तब वह जननाशौच होता है और अन्त में मृतसूतक होता है। जो मन्त्र इन दोनों सूतकों से युक्त है, वह सिद्ध नहीं हो सकता।।५९।।

गुरोस्तद्रहितं कृत्वा मन्त्रं तावज्जपेद् धिया।
सूतकद्वयनिर्मुक्तः स मन्त्रः सर्वसिद्धिदः ॥६०॥

गुरु द्वारा इन सूतकों को हटाये जाने पर शिष्य उनसे मन्त्र प्राप्त करके मन ही मन जप करे। सूतकों से मुक्त मन्त्र से समस्त सिद्धि प्राप्त हो जाती है।।६०।।

तथा चैवं जप्त्वा गुरुणा दत्तो मन्त्रः सर्वदैव प्रबुद्धः। तस्य जपकाले पुनश्चैतन्याकरणेऽपि न क्षतिः। ततो देवतां पूजयेत् ॥६१॥

इस प्रकार से जपा हुआ गुरु-प्रदत्त मन्त्र सर्वदा प्रबुद्ध रहता है। उस मन्त्र को यदि पुनः चैतन्य (जगाया) न भी किया जाय तो भी कोई क्षति नहीं है। तदनन्तर देवपूजा करे।।६१।।

ब्रह्मबीजं मनोर्दत्त्वा चाद्यन्ते परमेश्वरि!।
सप्तवारं जपेन्मन्त्रं सूतकद्वयमुक्तये ॥६२॥

गुरोरिति पञ्चमी। ततो गुरुर्मन्त्रचैतन्यं कुर्यात्; यथा—

संपुटीकृत्य मन्त्रेण आदिलान्तान् सबिन्दुकान्।
पुनश्च सविसर्गांस्तान् क्षकारं केवलं जपेत्।
एवं जप्त्वोपदिष्टश्चेत् प्रबुद्धः शीघ्रसिद्धिदः ॥६३॥

(जैसा ऊपर व्याख्यान ६१ में कहा गया है कि इस प्रकार जपा मन्त्र, उसकी विधि बता रहे हैं कि किस प्रकार का मन्त्र हो) सूतकों की मुक्ति के लिये गुरु मन्त्र के आदि तथा अन्त में ब्रह्मबीज (ॐ लगाकर) सात बार जप करे। तदनन्तर गुरु मन्त्र को चैतन्य करे; जैसा तन्त्रशास्त्र में लिखा गया है कि गुरु आदि से 'ल' वर्णों को पहले बिन्दु (०) से मण्डित करे और तदनन्तर उन्हें मन्त्र द्वारा पुटित करके जप करे। 'क्षं' को मन्त्रों से पुटित न करे, उसका केवल 'क्षं' जप करे। पुनः सभी वर्णों के साथ केवल विसर्ग (:) लगाकर मन्त्र से पुटित करके जप करे; परन्तु 'क्षः' को मन्त्र से पुटित किये विना अकेला 'क्षः' का जप करे। (उसी वर्णक्रम में जप करे, परन्तु इसे पुटित न करे)। इस विधि से मन्त्र का उपदेश गुरु देता है तब मन्त्र स्वयं प्रबुद्ध होकर त्वरित फल देता है।।६२-६३।।

निबन्धे—

ततो देवार्चनं कृत्वा हुनेदष्टोत्तरं शतम्।
शिष्यं स्वलङ्कृतं वेद्यामुपाग्निमुपवेशयेत् ॥६४॥
मन्त्री तं प्रोक्षणीतोयैः शान्तिकुम्भजलैस्तथा।
मूलमन्त्रेणाऽष्टशतं मन्त्रितैरभिषेचयेत् ॥६५॥

हुनेदिति। तत्र होमः काम्यः शक्तेन कार्याः। उपाग्निम् = अग्निसमीपे। अष्टशतं अष्टोत्तरशतमित्यर्थः॥६६॥

निबन्ध में कहा गया है कि तत्पश्चात् देवतार्चन करके १०८ बार आहुति प्रदान करे। तदनन्तर अलंकृत शिष्य को देवी के पास (अग्निकुण्ड के पास) बैठाये। अब गुरु अपने उस शिष्य को १०८ मूल मन्त्र के द्वारा अभिमंत्रित पात्र के जल द्वारा तथा अभिमंत्रित कुम्भ (घड़ा) के जल द्वारा उसका अभिषेक करे। हुनेत् अर्थात् होमविधि से। दीक्षा के स्थान पर हवन आवश्यक है। समर्थ व्यक्ति अवश्य होम करे। उपाग्निम् अर्थात् हवन के कुण्ड के समीप। अष्टशतम् = १०८ बार।।६४-६६।।

ततः वौषड़िति मन्त्रेण शिष्यस्य नेत्रद्वयं वाससाच्छाद्य शिष्याञ्जलिं पुष्पैः पूरयित्वा गुरुः स्वयमेव मन्त्रमुच्चरन् कलशे देवताप्रीत्यै क्षेपयेत्। ततो नेत्रबन्धनं दूरीकृत्य दर्भान्तरे आसीनं शिष्यं भूतशुद्धिं कारयित्वा तत्तन्मन्त्रोक्तन्यासान् शिष्यस्य देहे कुर्यात् ॥६७॥

तदनन्तर वौषड् मन्त्र द्वारा शिष्य के दोनों नेत्रों को वस्त्र से ढ़क कर उसकी अंजलि में पुष्प रखे। अब गुरु स्वयं मन्त्रोच्चार करे और देवता की (कलश देवता की) प्रसन्नता के लिये उस अंजलि का पुष्प शिष्य द्वारा कलश पर अर्पित कराये। इसके पश्चात् शिष्य के नेत्रों से कपड़ा हटाकर कुशासन पर बैठे शिष्य की भूतशुद्धि हेतु सम्बन्धित उन-उन मन्त्र द्वारा न्यास (अंगन्यास, करन्यास आदि) कराये।।६७।।

ततो गुरुरात्मसकाशाद् देवतां शिष्यसंक्रान्तां तयोरैक्यं संभावयन् गन्धादिभिः पूजयेत्। ततः ॐ सहस्रारे हुं फड़िति मन्त्रेण शिष्यस्य शिखां बध्वा संरक्ष्य शिष्यस्य शिरसि दक्षिणहस्तं दत्त्वा देयमन्त्रमष्टोत्तरशतं जप्त्वा भूमौ पत्रे वा मन्त्रं लिखित्वा अमुकमन्त्राय अमुकविद्यायै वा नमः इति सम्पूज्य ॐ अद्येत्यादि अमुकगोत्रायामुकदेवशर्मणे देयमन्त्रमुच्चार्य इमं मन्त्रं भूत्यमहं ददानीति शिष्यस्य दक्षिणहस्ते जलं दत्त्वा देयमन्त्रमुच्चार्य एष मन्त्र आवयोस्तुल्यफलदो भवतु इत्युदीरयेत्। ततो ददस्वेति शिष्यो ब्रूयात्। ततः ऋष्यादियुक्तं मन्त्रं गुरुः श्रावयेत् ॥६८॥

तदनन्तर गुरु अपने देह से शिष्यदेह में संक्रान्त (जा रहे) देवता से शिष्य की तथा देवता की ऐक्य भावना करते-करते गन्धादि द्वारा देवरूप शिष्य की पूजा करे। इसके पश्चात् 'ॐ सहस्रारे हुं फट्' मन्त्र से शिष्य की शिखा को बांध करके उसकी रक्षा कर शिष्य के मस्तक पर अपनी दक्षिण (दाहिनी) हथेली रखकर उस मन्त्र का १०८ जप करे, जो शिष्य को दीक्षा के रूप में दिया जायेगा। इसके पश्चात् उस मन्त्र को भूमि पर अथवा पत्ते पर लिखकर 'अमुकमन्त्राय नमः' अथवा 'अमुकविद्यायै नमः' (अमुक के स्थान पर मन्त्र लिखे या विद्या हो तो विद्या लिखे) लिखकर उसकी पूजा करके संकल्प करे। 'ॐ अद्येत्यादि' कहकर अपना गोत्र कहे, तदनन्तर अपना नाम कहकर 'देवशर्मा' कहे। इसके पश्चात् देय मन्त्र का उच्चारण करके कहे—'इमं मन्त्रं तुम्यमहं ददामि'। यह कहकर शिष्य के दाहिनी हथेली पर जल देकर देय मन्त्र का उच्चारण करके कहे 'इमं मन्त्रं तुभ्यमहं ददामि' यह मन्त्र मैं तुमको प्रदान कर रहा हूँ। और मन्त्र का पुनः उच्चारण करके कहे 'एष मन्त्र आवयोस्तुल्यफलदो भवतु' अर्थात् यह मन्त्र हम दोनों के लिये फलप्रद हो। तत्पश्चात् शिष्य कहे—'ददस्व' दीजिये। यह सुनकर गुरु, मन्त्र, देवता, ऋषि आदि के नाम का उच्चारण करके मन्त्र शिष्य को प्रदान करे।।६८।।

यथा शारदायां—

तत्तन्मन्त्रोदितान् न्यासान् कुर्याद् देहे शिशोस्तथा।

दक्षिणामूर्त्तिसंहितायां—

भूमौ लिखित्वा विद्यान्तु पूजयित्वा विधानतः।
शिष्याय कृपया दद्यादृष्यादिसहितां गुरुः ॥६९॥

भूमावित्युपलक्षणं पत्रादावपि। लिखनन्तु मातृकायन्त्रलिखनद्रव्यैः। वशिष्ठः—

आवयोन्तुल्यफलदो भवत्वेवमुदीरयेत् ॥७०॥

वशिष्ठसंहितायां—

ततः शिरसि शिष्यस्य हस्तं दत्त्वा शतं जपेत्।
अष्टोत्तरं ततो मन्त्रं दद्यादुदकपूर्वकम् ॥७१॥

जैसा कि शारदातिलक तन्त्र में कहते हैं कि उस शिशु (शिष्य) की देह में उन-उन मन्त्रों का न्यास करना चाहिये (जो न्यास मन्त्र उस देवता की दीक्षा में कहे गये हैं, जिसका मन्त्र दिया जा रहा है)। दक्षिणामूर्त्ति संहिता में कहा गया है कि गुरु को चाहिये कि विधान के अनुसार भूमि में विद्या (मन्त्र) लिखे। उसका पूजनादि करके उस मन्त्र के ऋषि, देवता आदि का नाम लेकर शिष्य को वह विद्या प्रदान कर दे।

यहाँ जो 'भूमि' शब्द कहा गया है, वह पत्र का भी उपलक्षण है। मातृका यन्त्र को उस द्रव्य से अंकित करे, जिसका पूर्व में उल्लेख किया गया है। भूमि के स्थान पर भोजपत्रादि पर भी लिखा जा सकता है। वशिष्ठ देव कहते हैं कि गुरु यह उच्चारण करे कि यह मन्त्र शिष्य तथा मुझे, दोनों के लिये फलप्रद हो। वशिष्ठ संहिता में कहते हैं कि तदनन्तर गुरु शिष्य के मस्तक पर हाथ रखकर १०८ बार मन्त्र-जप करे। तत्पश्चात् गुरु शिष्य की अंजलि में जल देकर दीक्षा मन्त्र प्रदान करे।।६९-७१।।

गौतमीये—

न्यासजालं तस्य देहे गुरुः संन्यस्य यत्नतः।
दक्षकर्णे वदेन्मन्त्रं त्रिवारं पूर्णमानसः ॥७२॥

दक्ष इति द्विजातिविषयम्।

गौतमीय तन्त्र में कहते हैं कि गुरु यत्नपूर्वक शिष्य के देह में न्यासादि करके पूर्ण एकाग्रता से दीक्षा मन्त्र का उच्चारण शिष्य के दाहिने कान में तीन बार करे। दक्षिण कर्ण की विधि द्विजाति के लिये है।।७२।।

तथा च तन्त्रे—

दक्षकर्णे त्रिशो विद्यामेकोच्चारेण चोच्चरेत्।
एष विधिर्द्विजातीनां स्त्रीशूद्राणाच्च वामतः ॥७३॥

तन्त्र में कहते हैं कि दाहिने कान में मन्त्र का तीन बार उच्चारण गुरु द्वारा करना चाहिये। स्त्री तथा शूद्र के बाँयें कान में मन्त्र का तीन बार उच्चारण करना होता है।।७३।।

रुद्रयामले—

गुरुस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शिष्यं प्रत्यङ्मुखस्थितम्।
त्रिवारं दक्षिणे कर्णे वामे चैव तथा सकृत्।
विपरीतमतो ज्ञेयं स्त्रीशूद्राणाञ्च वामतः ।।७४।।

रुद्रयामल के अनुसार गुरु पूर्वमुखी हो पश्चिमाभिमुखी शिष्य के दाहिने कान में तीन बार तथा वाम कर्ण में एक बार मन्त्र का उच्चारण करे। स्त्री तथा शूद्र के बाँयें कान में तीन बार तथा दाहिने कान में एक बार मन्त्रोच्चार किया जाय।।७४।।

विपरीतमिति। स्त्रीशूद्रयोर्वामे त्रिवारं दक्षिणे सकृदित्यर्थः। एतेन—

सर्वत्र प्राङ्मुखो दाता ग्रहीता च उदन्मुखः।

इति वचनमत्राऽप्राप्तपदमेतस्य विशेषवचनत्वात्, सावित्र्युपदेशे पश्चिमाभिमुखत्वस्य दर्शनाच्च ।।७५।।

विपरीत शब्द का अर्थ यह है कि स्त्री तथा शूद्र के वाम कर्ण में तीन बार तथा दक्षिण कर्ण में एक बार दीक्षा मन्त्र का गुरु द्वारा उच्चारण हो। सभी स्थिति में गुरु पूर्वमुख हो तथा शिष्य पश्चिममुख होना चाहिये। यहाँ ऊपर यह नहीं कहा गया। सावित्री मन्त्र के उपदेश में शिष्य को पश्चिमाभिमुख होना सर्वत्र देखा जाता है।।७५।।

विश्वसारे—

दक्षकर्णे वदेन् मन्त्रं ऋष्यादिकसमन्वितम्।
तथा तस्मिन् क्षणे देवि! जपेन् मन्त्रं शताष्टकम् ।।७६।।

विश्वसार तन्त्र में कहा गया है कि दाहिने कान में ऋषि, देवता आदि से युक्त मन्त्रोपदेश दिया जाय। कान में १०८ बार मन्त्र का उच्चारण गुरु द्वारा होना चाहिये।।७६।।

गुरुरिति शेषः।

दत्त्वा मन्त्रं जपेद् देवि! शतमष्टोत्तरं ततः।

इति यामलवचनात्। नारायणीयमहाकपिलपञ्चरात्रयोः—

मन्त्रं दत्त्वा सहस्रं वै स्वशक्त्यौ देशिका जपेत् ।।७७।।

जपक्रिया के कर्त्ता गुरु होते हैं। भगवान कहते हैं कि हे देवि! मन्त्रदान के पश्चात्

१०८ बार मन्त्र-जप करे। यह यामल तन्त्र का वचन है। नारायणीय तन्त्र में तथा पाञ्चरात्र (महाकपिल) में कहा गया है कि मन्त्र देने वाला गुरु शिष्य को दीक्षा देने के पश्चात् अपनी शक्तिक्षय को बचाने के लिये उस मन्त्र का १००८ बार जप करे।।७७।।

विश्वसारे—

अष्टाधिकं सहस्रं वै शतं वापि विधानतः।
स्वशक्तिरक्षणार्थाय गुरुर्मन्त्रं तदा जपेत् ॥७८॥

विश्वसार तन्त्र में कहा गया है कि गुरु मन्त्र देने के उपरान्त अपनी शक्तिरक्षार्थ यथा-विधान १०० बार उस मन्त्र को जपे।।७८।।

शारदायाम्—

गुरोर्लब्ध्वां पुनर्विद्यामष्टकृत्वो जपेत् सुधिः।
गुरुविद्यादेवतानामैक्यं सम्भावयन् धियः॥

ततो गुरुचरणे दण्डवत् पतित्वा प्रणम्य शिरसि गुरुपादद्वयं योजयेत् ॥७९॥

शारदातिलक में कहा गया है कि शिक्षित शिष्य (जिसने दीक्षा लिया है) विद्या (मन्त्र) तथा मन्त्र देवता के ऐक्य का चिन्तन करते मन्त्र का आठ बार जप करते हुये गुरु के चरणों में दण्डवत् करे।।७९।।

यथा शारदायाम्—

प्रणमेद् दण्डवद् भूमौ गुरुं तं देवतात्मकम्।
तस्य पादाम्बुजद्वन्द्वं निजमूर्द्धनि योजयेत् ॥८०॥

जैसे शारदातिलक तन्त्र में कहते हैं कि शिष्य यह कहे कि आपकी कृपा से मैं कृतकृत्य हो गया। मैं माया-मृत्युरूपी आपत्ति से मुक्त होकर शिवरूप हो गया हूँ और गुरु के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करे। शिष्य गुरु के चरणकमल को मस्तक पर धारण करे।।८०।।

ततो गुरुः—

उत्तिष्ठ वत्स! मुक्तोऽसि सम्यगाचारवान् भव।
कीर्त्तिश्रीकान्तिपुत्रायुर्बलारोग्यं समाऽस्तु ते ॥८१॥

अब गुरु शिष्य से कहे कि हे वत्स! तुम उठो। तुम मुक्त हो। समुचित आचारवान हो जाओ। तुम्हारी कीर्त्ति, श्री, कान्ति, पुत्र, आयु तथा धन अक्षुण्ण रहें।।८१।।

इत्युत्थापयेत्। ततः शिष्यो गुरवे दक्षिणां दद्यात्। यथा स्वतन्त्रतन्त्रे—

गुरवे दक्षिणां दद्यात् प्रत्यक्षाय शिवात्मने।

सर्वस्वं वा तदर्द्धं वा तदर्द्धं वा तदाज्ञया।
न चेत् सञ्चारिणी शक्तिः कथमस्य भविष्यति ॥८२॥

गुरु शिष्य को उठाये। अब शिष्य गुरु को दक्षिणा प्रदान करे। स्वतन्त्रतन्त्र में कहा गया है कि प्रत्यक्ष शिवस्वरूप गुरु को उनकी आज्ञानुसार अपना सर्वस्व अथवा उसका आधा अथवा एक चौथाई (अपने समस्त वित्त का) दक्षिणा प्रदान करे; अन्यथा शिष्य में गुरु से सञ्चरित होकर शक्ति कैसे आयेगी?।।८२।।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

आचार्यादनभिप्राप्तः प्राप्तश्चादत्तदक्षिणः।
सततं जप्यमानोऽपि मन्त्रः सिद्धिं न गच्छति ॥८३॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाश में कहते हैं कि आचार्य गुरु से विधानानुसार सम्यक् रूप से दक्षिणा प्रदान किये विना प्राप्त मन्त्र रात-दिन जपने पर भी सिद्धिदायक नहीं होता।।८३।।

लघुहारीतः—

एकैकमक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद् दत्त्वा सोऽनृणी भवेत् ॥८४॥

लघुहारीत ग्रन्थ में कहते है कि भले ही गुरु ने एक ही अक्षर का मन्त्र शिष्य को दिया हो, फिर भी पृथ्वी में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसे देकर गुरु के ऋण को चुकाया जा सके।।८४।।

कुलामृते—

वित्तशाठ्यं परित्यज्य सर्वकर्माणि कारयेत्।
वित्तशाठ्यं विहन्त्याशु पुत्रानायुर्यशोधनम् ॥८५॥

कुलामृत तन्त्र में कहा गया है कि वित्तशाठ्य (कंजूसी) का परित्याग करके समस्त विधान कराये। वित्तशाठ्य से पुत्र, आयु, यश तथा धन का शीघ्र नाश होता है।।८५।।

अन्यत्रापि—

गुरुदेवं वञ्चयित्वा यः कुर्याद् धनसञ्चयम्।
तेन तद् भुज्यते नैव ह्रियते राजतस्करैः ॥८६॥

अन्यत्र भी कहा गया है कि जो व्यक्ति गुरुदेव से छिपाकर धन का संचय करता है, वह उस धन का भोग नहीं कर सकता। राजा अथवा चोर उसके धन को छीन लेते हैं।।८६।।

तन्त्रान्तरे—

सुवर्णं दक्षिणां दद्याद् गाश्च दद्यात् पयस्विनीः।
भूमिं वृत्तिकरीं दद्यात् पुत्रपौत्रानुयायिनीम् ॥८७॥

अन्य तन्त्र में कहते हैं कि गुरु को सुवर्ण, दूध देने वाली गाय का दान करे। पुत्र-पौत्रादि से अनुवृत्ति-कारिणी उपजाऊ भूमि दान करे।।८७।।

तथा—

गुरवे दक्षिणां दद्यात् स्वर्णं वस्त्रसमन्वितम्।
गुरुसन्तोषमात्रेण दुष्टमन्त्रोऽपि सिध्यति।
अन्यथा नैव सिद्धिः स्यादभिचाराय कल्पते ॥८८॥
दीक्षाग्रहणसामग्रीं गुरवेऽथ निवेदयेत्।
अन्यांश्च ब्राह्मणांस्तत्र यत्नतः परितोषयेत् ॥८९॥

शारदायाम्—

ब्राह्मणांस्तर्पयेत् पश्चाद् भक्ष्यभोज्यैः सदक्षिणैः ॥९०॥

और भी कहते हैं कि गुरु को वस्त्र तथा स्वर्ण की दक्षिण प्रदान करे। यदि गुरु सन्तुष्ट है तब दुष्ट मन्त्र भी सिद्ध हो जाते हैं; अन्यथा सिद्धि नहीं मिलती। वैसा मन्त्र अभिचार का हेतु (हानि का हेतु) हो जाता है। दीक्षा ग्रहण के अनन्तर दीक्षा ग्रहण में प्रयुक्त सामग्री गुरु को निवेदित करनी चाहिये। उस समय अन्य ब्राह्मणों को भी यत्नपूर्वक संतुष्ट करे। शारदातिलक तन्त्र के अनुसार दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ब्राह्मणों को भोजनादि द्वारा सन्तुष्ट करके दक्षिणा प्रदान करे।।८८-९०।।

ततो गुरवे सशरीरादिकं समर्पयेत्। यथा तन्त्रे—

तं वित्तशाठ्यं परिहृत्य दक्षिणां।
दत्त्वा तनुं स्वाञ्च समर्पयेत् सुधीः ॥९१॥

तदनन्तर गुरु को अपना शरीर तक समर्पित करना चाहिये। जैसा—तन्त्र में कहते हैं कि दीक्षित शिष्य गुरु के साथ कंजूसी न करके दक्षिणा देकर अपना शरीर भी गुरु को समर्पित करे।।९१।।

अन्यत्रापि—

शरीरमर्थं प्राणांश्च सर्वं तस्मै निवेदयेत्।
ततः प्रभृति कुर्वीत गुरोः प्रियमनन्यधीः।
यद् यदिष्टतमं लोके गुरवे तन्निवेदयेत् ॥९२॥

अन्य तन्त्रों में भी कहा गया है कि शरीर, अर्थ (शक्ति के अनुसार वस्त्र-धनादि) तथा प्राण (मन) का भी गुरु के चरणों में निवेदन करना चाहिये। दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् शिष्य अनन्यचित्त होकर गुरु को प्रिय लगने वाला कार्य करे। इस संसार में शिष्य को जो कुछ भी अच्छा लगे, उसे गुरु को समर्पित करे।।९२।।

शिवपुराणे—

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिव स च मन्त्रकः।
शिवविद्यागुरूणाञ्च भेदो नास्ति कथञ्चन ॥९३॥

शिवपुराण के अनुसार गुरु ही शिव है। जो शिव हैं, वे ही मन्त्र भी हैं। शिव, विद्या, मन्त्र तथा गुरु में कोई भी भेद नहीं है।।९३।।

शिवे मन्त्रे गुरौ यस्य भावना सदृशी भवेत्।
भोगो मोक्षश्च सिद्धिश्च शीघ्रं तस्य भवेद् ध्रुवम् ॥९४॥

शिव, गुरु तथा मन्त्र में जो ऐक्य भावना करता है; उसे सिद्धि, भोग, मोक्ष अवश्य मिलता है।।९४।।

वस्त्राभरणमाल्यानि शयनान्यासनानि च।
प्रियाणि चात्मनो यानि तानि देयानि वै गुरोः।
तोषयेत प्रयत्नेन मनसा कर्मणापि वा ॥९५॥

इह क्रियावती दीक्षा। या चापरा कलान्यासवत्त्वात् कलावतीनाम्नी दीक्षा, सा पुनर्गौरवादिदानीमनुपयोगाच्चात्र न लिखिता ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्या ॥९६॥

वस्त्र, आभूषण, माला, शय्या, आसन तथा शिष्य को जो प्रिय लगता हो, वह सब गुरु को प्रदान करे। यत्नपूर्वक मन तथा कर्म से गुरु को सन्तुष्ट करना चाहिये। यह क्रियावती दीक्षा है। एक कलावती दीक्षा भी है, जो कलान्यास से युक्त है। प्रसंग विस्तृत हो जाने के भय से यहाँ नहीं लिखी जा रही है। उसे शारदातिलकादि ग्रन्थ में देखा जा सकता है।।९५-९६।।

या च पञ्चायतनपूजायुक्तत्वात् पञ्चायतनीनाम्नी साप्यसर्वविषयकत्वान्न लिखिता, श्यामादौ तदभावात् ॥९७॥

और जो पञ्चायतन पूजा युक्त पञ्चायतनी दीक्षा है, वह समस्त देवताओं के लिये नहीं है (कुछ विशिष्ट देवताओं के लिये है)। श्यामा आदि के लिये नहीं है।।९७।।

यथा रुद्रयामले—

श्यामायां भैरवी तारा छिन्नमस्तासु भैरवि! ।
मञ्जुघोषे तथा रौद्रे पञ्चाङ्गं नेष्यते बुधैः ॥९८॥
उपविद्यासु सर्वासु षट्कर्मादिषु साधने ।
नात्र सिद्धाद्यपेक्षास्ति नात्राऽङ्गादिप्रपूजनम् ॥९९॥

भगवान् जैसा रुद्रयामल तन्त्र में कहते हैं कि हे भैरवि! श्यामा, भैरवी, तारा, छिन्नमस्ता, मञ्जुघोष तथा रुद्र मन्त्र में विद्वान् लोग पञ्चायतनी दीक्षा नहीं देते। समस्त उपविद्याओं में, षट्कर्मादि साधनों में सिद्धादि विचार की आवश्यकता नहीं है। इनमें अङ्गादि पूजन का भी विधान नहीं है।।९८-९९।।

अथवा—

तत्राप्यशक्तः कश्चिच्चेदब्जमभ्यर्च्य साक्षतम् ।
तदम्बुनाऽभिषिच्याऽष्टवारं मूलेन के करम् ।
निधायाष्टौ जपेत् कर्णे उपदेशे त्वयं विधिः ॥१[1]॥

अथवा कहते हैं कि कोई व्यक्ति यदि क्रियावती दीक्षा नहीं दे सकता तो वह अब्ज की अर्चना करे। वह गुरु शंखजल द्वारा मूल मन्त्र का जप करता हुआ शिष्य के मस्तक का आठ बार अभिषेक करे। अञ्जलि में अक्षत लेकर शिष्य के मस्तक पर रखकर आठ बार मन्त्र जपे और पुनः तीन बार जप कर (शिष्य के दाहिने कान में) मन्त्र प्रदान करे। यही उपदेश-विधि है।।१।।

अब्जः शङ्खः। के मस्तके। तथा च तदम्बुना अष्टवारं मूलमन्त्रेण शिष्यमभिषिच्य तस्य शिरसि करं निधायाष्टौ जपेत् । ततः कर्णे जपेत् वचनान्तरैकवाक्यतया त्रिवारादीत्यर्थः। अत्रापि सूतकद्वयं मोचनशिखा-बन्धनादिकं कार्यमविरोधादिति तत्त्वम्॥२॥

अब्ज अर्थात् शंख। के अर्थात् मस्तक। इस शंखजल द्वारा मूल मन्त्र को आठ बार पढ़ते हुये शिष्य का अभिषेक करे। पुनः शिष्य के मस्तक पर हाथ रखकर आठ बार मन्त्र पढ़े। तदनन्तर दाहिने कान में तीन बार और वाम कान में एक बार मन्त्र का उच्चारण करे। यही तात्पर्य है। कोई विरोधी वचन न होने के कारण पूर्वकथित सूतकद्वय की मुक्ति और शिखा-बन्धनादि कृत्य भी सम्पन्न करे। यही तत्त्व है।।२।।

सिद्धक्षेत्र इति। पुरुषोत्तमक्षेत्रादौ वैद्यनाथादौ कामरूपादौ च यथा-

---

१. यहाँ मूल ग्रन्थ में ९९ को पूर्ण संख्या मानकर यहाँ से श्लोकसंख्या १ कर दिया गया है, १०० नहीं लिखा है।

योग्यं वैष्णवशैवशाक्तानामित्यर्थः। प्रकथनमिति शिष्यस्येत्यर्थः। न तु गुरोः, तर्हि गुरोरुपदेशकर्त्तृत्वापत्तेः। प्रकथनञ्च गुरूच्चारणानन्तरमित्यवधातव्यम् ॥३॥

चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते ॥४॥

सिद्धक्षेत्रे अर्थात् वैद्यनाथ, पुरुषोत्तम, कामाख्या आदि शैव, वैष्णव, शाक्त तीर्थों में शिवालय में मन्त्र-दीक्षा देना ही उपदेश है। यहाँ प्रकथन का अर्थ शिष्य द्वारा प्रकथन (उच्चारण) नहीं है। यदि ऐसा माना गया तब गुरु उपदेश के कर्त्तृत्व पर आपत्ति होने लगेगी। प्रकथन अर्थात् गुरु द्वारा मन्त्र का उच्चारण।।३-४।।

विश्वसारे—

महादीक्षा तथा दीक्षा उपदेशस्ततः परम्।
युगे युगे च कर्त्तव्यो उपदेशः कलौ युगे ॥५॥

अयमर्थः—महादीक्षा दीक्षोपदेशा युगे युगे कर्त्तव्याः कलौ युगे तु उपदेश एवेति॥६॥

विश्वसार तन्त्र में कहा गया है कि महादीक्षा तथा दीक्षा के पश्चात् उपदेश प्रत्येक युग में कर्त्तव्य है। कलियुग में उपदेश कर्त्तव्य है। इसका तात्पर्य है कि महादीक्षा, दीक्षा तथा उपदेश प्रत्येक युग का कर्त्तव्य है; किन्तु कलियुग में उपदेश ही कर्त्तव्य है।।५-६।।

अथ दीक्षाप्रयोगः

दीक्षातिथौ पूर्वपूर्वदिने क्षौरोद्वर्त्तनवस्त्रनिर्णेजनैकभक्तानि विधाय तदुत्तरस्मिन् दीक्षापूर्वाह्ने कृतस्नानादिः ॐ अद्येत्यादि ज्ञाताज्ञातस्वकीयाशेषपापक्षयकामः उपवसन् हविष्यं निरामिषं वा सकृद् भुक्त्वा वा रात्रौ गुरोः सन्निधौ तत्तद्देवतालये वा अन्यत्र वा भूमौ कुशशय्यायां वा पवित्रशय्यान्तरे वा शयीत ॥७॥

तदनन्तर दीक्षा-प्रयोग कहा जा रहा है। दीक्षातिथि के दो दिन पूर्व क्षौरकर्म, उद्वर्त्तन, वस्त्र-निर्णेजन करे। एक बार आहार करे। अगले दिन दीक्षा के पहले स्नानादि करके 'ॐ अद्येत्यादि ज्ञाताज्ञातस्वकीयाशेषपापक्षयकामः सहस्रगायत्रीजपमहं करिष्ये' यह संकल्प करके गायत्री जप करके उपवास करे अथवा हविष्य या निरामिष भोजन एक बार करके रात में गुरु के पास, जिस मन्त्र को पाना है उसके देवता के मन्दिर

में अथवा अन्य पवित्र स्थान में भूमि पर अथवा कुश बिछी शय्या पर अथवा पवित्र शय्या पर शयन करे।।७।।

अथ प्रातःकृतस्नानादिर्वेदीं प्रविश्य गुरोः समीपे कुशोपर्य्युपविशेत्। ततो गुरुणा प्रेरितः पुण्याहस्वस्तिऋद्धिर्वाचयित्वा ॐ तद्विष्णोरित्यादिना विष्णुं स्मरेत्। स्वस्तिवाचनञ्च यजुर्वेदिनां 'स्वस्तिन इन्द्र' इत्यादिना सामगायन्तु 'ॐ अस्ति सोमो अयं सूतः शिवन्त्यस्यै मरुतः उत स्वराजो अश्विने'ति। तत उदङ्मुखः सूर्यः सोम इति पठित्वा क्षितिस्पृष्टजानुस्ताम्रपात्रं फलं पुष्पं कुशत्रयतिलजलपूर्णं कराभ्यामादाय ॐ तत्सदित्युच्चार्य ॐअद्यामुके मास्यमुकराशिस्थे भास्करेऽमुके पक्षेऽमुकतिथौ पर्वचिह्नितं चेत् माघ्यां वैशाख्यां राहुग्रस्ते दिवाकरे वा अमुकगोत्रः श्रीअमुकदेवशर्मा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्तिकामः अमुकदेवताया इयदक्षरमन्त्रग्रहणमहं करिष्ये। इति संकल्पं कुर्यात् ॥८॥

इसके पश्चात् प्रातःकाल में स्नानादि करके वेदी (जहाँ पवित्र स्थल हो) में गुरु के समीप कुशासन (कुश के आसन) पर बैठे। उसके द्वारा प्रेरित होकर (गुरु) 'ॐ तद्विष्णो' इत्यादि मन्त्र द्वारा विष्णु का स्मरण करे। तत्पश्चात् 'स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवा' (स्वस्तिवाचन) मन्त्र से यजुर्वेद के ज्ञाता विद्वान् स्वस्तिवाचन करें। सामवेदी विद्वान् 'ॐ अस्तिसोमो स्वयं सूतः शिवन्त्यस्यै मरुतः उत स्वराजो अश्विना' मन्त्र से स्वस्तिवाचन करें। तदनन्तर शिष्य उत्तर दिशा की ओर मुख करके 'सूर्यः सोम' इत्यादि कहकर भूमि पर बैठकर फल, पुष्प, कुशत्रय, तिल, जलपूर्ण ताम्रपात्र को दोनों हथेलियों में लेकर 'ॐ तत् सत्' का उच्चारण करके 'ॐ अद्य अमुके मासि (अमुक के स्थान पर उस दिन कौन मास है, वह कहे) अमुकराशिस्थभास्करे (उस दिन सूर्य जिस राशि में हो, वह अमुक के स्थान पर कहे) अमुकपक्षे (पक्ष का नाम ले) अमुकतिथौ (तिथि का नाम ले) (यदि सूर्य ग्रहण हो तो राहुग्रस्तदिवाकरे कहे) अमुकगोत्रः (अपना गोत्र कहे) श्री अमुक देव शर्मा (अपना नाम ले) धर्मार्थकाममोक्षप्राप्तिकामः अमुकदेवतायाः (देवता का नाम) इयदक्षरमन्त्रग्रहणं करिष्ये' कहकर संकल्प करे।।८।।

पर्वचिह्नितञ्चेत् तिथ्युल्लेखानन्तरं माघ्यां वैशाख्यां राहुग्रस्ते दिवाकरे इत्यादि प्रयोज्यम्। विद्योपदेशे मन्त्रस्थाने विद्यापदम् ततस्तज्जलमैशान्यां प्रक्षिप्य देवो न इत्यादि संकल्पसूक्तं पठित्वोपविश्य गुरुं वृणुयात् ॥९॥

यदि संकल्प के समय कोई पर्व हो तब तिथि का नाम लेने पर उसका उल्लेख

करे। जहाँ विद्या की दीक्षा मिल रही हो, 'मन्त्रग्रहणम्' के स्थान पर विद्या ग्रहण की जा रही है—यह संकल्प में कहना चाहिये। संकल्प के पश्चात् अंजलि में अथवा ताम्रपत्र में जो संकल्प जल है, उसे ईशाण कोण में गिराकर 'देवो वो' इत्यादि संकल्प सूक्त का पाठ करके गुरु का वरण करे।।९।।

तत्र क्रमः—उत्तराभिमुखो गुरोः समीपे आसनमानीय ॐ साधु भवान् आस्ताम् इति वदेत्। ॐ साध्वऽमासे इत्युत्तरं दत्त्वा आसने उपविशेत्। ॐ अर्चयिष्यामो भवन्तमिति वदेत्। ॐ अर्चयेति प्रतिवदेत्। ततः पाद्यार्घाचमनीयगन्धपुष्पयज्ञोपवीतवस्त्रालङ्कारादिना गुरुमभ्यर्च्य दक्षिणजानुं स्पृष्ट्वा ॐ अद्येत्यादि अमुकगोत्रः श्री अमुकदेवशर्म्मा अमुकदेवताया अमुकमन्त्रग्रहणकर्मणि अमुकगोत्रं अमुकामुकप्रकरणं श्री अमुकदेवशर्माणं पाद्यादिभिरभ्यर्च्य गुरुकर्मकरणाय भवन्तमहं वृणे इति वदेत्। ततः ॐ वृतोऽस्मीति प्रतिवदेत्। ॐ यथाविहितं गुरुकर्म कुरु इति वदेत्। ॐ यथाज्ञानं करवाणीति प्रतिवदेत् ॥१०॥

अब इस गुरुवरण का क्रम कहते हैं। शिष्य उत्तरमुख होकर गुरु के पास आकर आसन लाये और कहे 'ॐ साधु भवान् आस्ताम्'। गुरु उत्तर प्रदान करे 'ॐ साध्वहमासे' और आसन ग्रहण करे। अब शिष्य कहे 'ॐ अर्चयिष्यामो भवन्तम्'। गुरु आज्ञा प्रदान करे 'ॐ अर्चय'। अब शिष्य पाद्य, अर्घ्य, आचमन, गन्ध, पुष्प, यज्ञोपवीत, वस्त्र, अलंकारादि से गुरु की अर्चना करके उनके दाहिने जानु का स्पर्श करके 'ॐ अद्येत्यादि' प्रभृति का वरणवाक्य कहकर गुरु का वरण करे। यह ऊपर मूल संस्कृत में लिखा है। वरण हो जाने के अनन्तर गुरु कहे 'ॐ वृतोऽस्मि'। शिष्य कहे 'ॐ यथाविहितं गुरुकर्म कुरु'। अब गुरु उत्तर प्रदान करे 'ॐ यथाज्ञानं करवाणि'।।१०।।

ततो गुरुः सर्वतोभद्राद्यन्यतममण्डलं निर्माय तत्र प्रोक्तलक्षणं सवस्त्रग्रीवं कुम्भं संस्थाप्य सर्वौषधीर्नवरत्नानि तदसम्पत्तौ धान्यं हरितालं वा कुम्भान्तर्निक्षिप्य पञ्चपल्लवानुपरि विन्यस्य तीर्थावाहनादि कृत्वा गन्धपुष्पाभ्यां कुम्भमर्चयेत्। ततो मन्त्राणां दश संस्कारान् कृत्वा सूतकद्वयमोचनार्थं प्रणवपुटितं कृत्वा मन्त्रं सप्तवारान् जप्त्वा मन्त्रचैतन्यं कुर्यात्। यथा— आदौ मन्त्रमुच्चार्य सानुस्वारमकारं पुनर्मन्त्रमुच्चारयेत्। एवं द्वितीयलकारपर्यन्तमुच्चार्य केवलं क्षमिति जपेत्। ततो मूलमुच्चार्य सविसर्गमकारं पुनर्मूलम्। द्वितीयलकारान्तमेवमुच्चार्य केवलं क्षमिति जपेत्। ततस्तत्तत्

कल्पोक्तन्यासादि विधाय तत्र कुम्भे तत्तद्देवता यन्त्र वा यथाविधि देवतां पूजयेत्। ततः शक्तश्चेद् होमं कुर्यात्। होमः काम्यः। ततोऽष्टोत्तरशतधा मूलमन्त्राभिमन्त्रितैः प्रोक्षणीतोयैः शान्तिकुम्भतोयैश्च शिष्यमभिषिच्य ॐ शमोस्तु इत्यक्षतान् तस्य शिरसि दत्त्वा वौषड़िति मन्त्रेण शिष्यनेत्रे वाससा आच्छाद्य शिष्याञ्जलिं पुष्पैः पूरयित्वा गुरुः स्वयमेव मन्त्रमुच्चरन् कुम्भे देवताप्रीत्यै प्रक्षेपयेत्। ततो नेत्रबन्धनं दूरीकृत्य भूतशुद्धिं कारयित्वा शिष्यदेहे तत्तन्मत्रोक्तन्यासान् कुर्यात्। ततो गुरुरात्मसकाशाद् देवतां शिष्यसंक्रान्तां तयोरैक्यं सम्भावयन् गन्धादिभिः पूजयेत्। ततः ॐ सहस्रारे हुं फड़िति मन्त्रेण शिष्यस्य शिखां बद्ध्वा तस्य शिरसि हस्तं दत्त्वा देयमन्त्रमष्टोत्तरशतं जप्त्वा भूमौ पत्रे वा मन्त्रं लिखित्वा ॐ अमुकदेवतामन्त्राय नमः, अमुकविद्यायै वा इति मन्त्रं सम्पूज्य ॐ अद्येत्यादि अमुकगोत्राय श्री अमुकदेवशर्मणे देयमन्त्रमुच्चार्य इमं मन्त्रं तुभ्यमहं ददानीति शिष्यस्य दक्षिणहस्ते जलं दत्त्वा मन्त्रमुच्चार्य एष मन्त्र आवयोस्तुल्यफलदो भवतु इत्युदीरयेत्। ततो ददस्वेति शिष्यो ब्रूयात् ॥११॥

इसके पश्चात् गुरु सर्वतोभद्र मण्डल प्रभृति चार मण्डल के अन्यतम मण्डल का निर्माण करके पहले कही विधि के अनुसार घट की ग्रीवा में वस्त्र लपेट कर घट-स्थापन करे। उसमें सर्व औषधि, नवरत्न छोड़े। इनके अभाव में धान अथवा हरताल कुम्भ (घट) में डाले। पञ्चपल्लवों को घट पर स्थापित करके तीर्थ का आवाहन करके गन्ध-पुष्पादि से कुम्भ की पूजा करे। इसके पश्चात् मन्त्र का १० संस्कार करके सूतकद्वय की मुक्ति के लिये देय मन्त्र को चार बार प्रणव से पुटित करके सात बार जप करे। इससे मन्त्र चैतन्य हो जाता है। जैसे प्रथमतः मन्त्र का उच्चारण करके अब अनुस्वारयुक्त अकार (अर्थात् अं) का तदुपरान्त देय मूल मन्त्र का उच्चारण करे। इसी प्रकार 'आ' से लेकर 'ल' तक एक-एक का अनुस्वारयुक्त उच्चारण करता जाय। हर बार एक वर्ण के उच्चारण के पश्चात् देय मन्त्र का उच्चारण करे। ऐसा सभी वर्ण के साथ करता जाय। तत्पश्चात् मूल मन्त्र का उच्चारण करके जैसे अनुस्वारयुक्त वर्ण का उच्चारण किया था, उसी प्रकार अः का उच्चारण करके मूल मन्त्र का उच्चारण करे। पुनः आः का उच्चारण करके मूल मन्त्र का उच्चारण करे। ऐसे ही सभी वर्णों के साथ करता जाय। तत्पश्चात् अब कल्पोक्त न्यास आदि का न्यास करके उस घट (कुम्भ) पर अथवा मन्त्रदेवता के यन्त्र पर यथाविधि उनका पूजन सम्पन्न करना चाहिये। समर्थ हो तो हवन भी करे। होम परम काम्य है। तदनन्तर १०८ मूल मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित आचमनी जल द्वारा तथा कुम्भ (घट) के जल से शिष्य का अभिषेक सम्पन्न करना

होगा। तदनन्तर पहले विधि में कहे गये 'ॐ शमोऽस्तु' इत्यादि कहते हुये शिष्य के मस्तक पर अक्षत रखकर 'वौषट्' मन्त्र द्वारा शिष्य के दोनों नेत्रों को वस्त्र से आच्छादित करके शिष्य की अञ्जलि में पुष्प रखना चाहिये। अब गुरु स्वयं मन्त्र का उच्चारण करे और शिष्य अञ्जलि के पुष्प को देवता की प्रसन्नता के लिये कुम्भ पर अर्पित करे। अब गुरु को चाहिये की शिष्य के नेत्रों पर से वस्त्र का आच्छादन हटा दे। अब शिष्य की भूतशुद्धि कराकर शिष्य के देह में उस मन्त्र के आधार पर न्यासादि कराये। तदनन्तर गुरु अपने देह से मन्त्रदेवता का संचार शिष्य में करते हुये देवता तथा शिष्य की एकता का चिन्तन करके गन्ध-पुष्पादि से शिष्य का पूजन करे। अब गुरु 'ॐ सहस्रारे हुं फट्' मन्त्र द्वारा शिष्य की शिखा बांधकर उसके मस्तक पर हाथ रखकर देय मन्त्र का १०८ बार जप करके भूमि अथवा भोजपत्रादि पर देय मन्त्र अथवा देय विद्या लिखकर 'ॐ अमुकदेवतामन्त्राय नमः' कहे। जहाँ विद्या प्रदान की जा रही हो, वहाँ 'ॐ अमुकविद्यायै नमः' कहे। इससे मन्त्र अथवा विद्या की पूजा करके पहले कहे गये 'ॐ अद्येत्यादि' इत्यादि वाक्य को कहते हुये शिष्य की दाहिनी अञ्जलि में फल देकर देय मन्त्र का उच्चारण करके यह कहे 'एष मन्त्रः आवयोस्तुल्यफलदो भवतु'। तब शिष्य कहे—'ददस्व'।।११।।

ततो गुरुः ॐ अस्याऽमुकदेवतामन्त्रस्यामुक ऋषिरमुकं छन्दः अमुको देवता अमुकं बीजं अमुका शक्तिः अमुकं कीलकं अमुकार्थे विनियोगः। इति दक्षिणकर्णे सकृत् कथयित्वा शिष्यमपि तद् वाचयेत्। ततः पूर्वमुखो गुरुः पश्चिमाभिमुखस्य कुशोपरि कृतासनस्य शिष्यस्य दक्षकर्णे एकोच्चारेण वारत्रयं मन्त्रमुच्चरन् तमप्युच्चारयेत्। एवं वामकर्णेऽपि सकृत्। स्त्रीशूद्रयोस्तु आदौ वामे वारत्रयमुच्चार्य दक्षिणे सकृत्। ततः शिष्यो लब्धमन्त्रः गुरुदैवतमन्त्राणामैक्यं सम्भावयन् अष्टवारं जपेत् वक्ष्यमाणाष्टजपपर्वभिः। ततः शिष्यो दण्डवद् भूमौ पतित्वा गुरुं प्रणम्य स्वशिरसि गुरु पादद्वयं योजयेत्। तदानीं देवतात्वेन गुरोर्नमस्कारः न तु देवतायाः पृथङ्नमस्कारः प्रमाणाभावात् ॥१२॥

अब गुरु देय मन्त्र का 'ॐ अस्य' इत्यादि ऊपर मूल संस्कृत में कहे गये ऋष्यादि न्यास वाक्य को शिष्य के दाहिने कान में कहे और शिष्य उसे दोहराये। तदनन्तर गुरु पूर्व की ओर अपना मुख करके शिष्य को कुशासन पर ऐसे बैठाये कि शिष्य का मुख पश्चिम दिशा की ओर रहे। अब गुरु को चाहिये कि वह शिष्य के कानों में एक साथ तीन बार देय मन्त्र का उच्चारण करे। इसी प्रकार शिष्य के बाँयें कान में एक बार मन्त्र का उच्चारण करे। शिष्य भी दाहिने कान में सुनकर उच्चारण करे

और बाँयें कान में मन्त्र सुनकर उच्चारण करे। स्त्री तथा शूद्र के लिये देय मन्त्र बाँयें कान में तीन बार तथा दाहिने कान में गुरु द्वारा एक बार उच्चारण करना चाहिये। अब शिष्य को चाहिये कि वह मन्त्र प्राप्त करके गुरु, देवता तथा मन्त्र में ऐक्य भावना करते-करते वक्ष्यमाण आठ जपपर्व पर आठ बार मन्त्र का जप करे। यह करके भूपि पर दण्डवत् होकर गुरु को प्रणाम करते हुये अपने मस्तक को गुरु के चरण कमल पर रख दे। गुरु को देवता मानते हुये प्रणाम करना चाहिये। यह प्रमाण नहीं मिलता कि इस समय देवता को अलग से प्रणाम करे; क्योंकि गुरु तथा देवता एक ही होता है।।१२।।

ततो गुरुः—

ॐ उत्तिष्ठ वत्स मुक्तोऽसि सम्यगाचारवान् भव।
कीर्त्तिश्रीकान्तिपुत्रार्युबलारोग्यं सदास्तु ते ।।१३।।

इत्युत्थापयेत्। शिष्यस्तु यदि पूजानियमं करोति तदा तस्मिनन्नेव समये—

वरं प्राणपरित्यागच्छेदनं शिरसोऽपि वा ।
न त्वनभ्यर्च्य भुञ्जीय भगवन्तं त्रिलोचनम् ।।१४।।

इत्युच्चार्य पूजादिनियमं कुर्यात्। विष्णौ आधोक्षजानेत्यूहः। शक्तौ देवीं भगवतीं शिवामित्यूहः कार्यः। एतादृशनियमे कृते नाशौचं नित्यपूजा-प्रतिबन्धकमिति ध्येयम् ।।१५।।

अब गुरु को कहना चाहिये, हे वत्स! तुम मुक्त हो, उठो! तुम सम्पूर्ण रूप से आचारवान् बनो। तुम्हारी श्री, कान्ति, पुत्र, आयु तथा बल एवं आरोग्य स्थिर रहे। और गुरु अब शिष्य को उठाये। यदि शिष्य पूजानियमादि करना चाहे तब इस स्थिति में कहे कि भले ही प्राण चले जायँ, मस्तक टुकड़े टुकड़े हो जाय, तथापि त्रिलोचन की पूजा, किये बिना भोजन नहीं करूँगा। यह प्रतिज्ञा करे।

विष्णु का मन्त्र लेते समय यहाँ भगवान् अधोक्षज का अर्थ लेना चाहिये। शक्तिमन्त्र के लिये देवी भगवती अथवा भगवती शिवा का अर्थ ले। इस प्रकार नियम धारण करने से अशौच आदि नित्यपूजा के प्रतिबन्धक नहीं होते, यह जानना चाहिये।।१३-१५।।

ततः शिष्यं ॐ अद्येत्यादि कृतैतदमुकदेवतेत्येतदक्षरमन्त्रग्रहणकर्मणः प्रतिष्ठार्थं दक्षिणामिदं काञ्चनं तन्मूल्यं वा अमुकगोत्राय श्री अमुकदेवशर्मणे गुरवे ब्राह्मणाय तुभ्यमहं सम्प्रददे इति यथाशक्ति दक्षिणामुत्सृज्य गुरवे दत्त्वा शरीरादिकं तस्मै समर्पयेत्। ततः प्रभृति कायमनोवाक्यैर्गुरोः प्रियमाचरेत् ।।१६।।

ततः कृताञ्जलिः—

त्वत्प्रसादादहं देव! कृतकृत्योऽस्मि सर्वतः।
मायामृत्युमहापाशाद् विमुक्तोस्मि शिवोऽस्मि च ॥१७॥

तत्पश्चात् शिष्य ऊपर मूल संस्कृत में लिखे 'अद्येत्यादि' पद से लेकर 'सम्प्रददे' पर्यन्त कहते हुये गुरु को दक्षिणा देकर शरीरादि सब कुछ गुरु को अर्पित करे। इससे शिष्य मन, वाणी तथा कर्म से गुरु को प्रिय लगने वाला आचरण करने वाला हो जाय। अब कृताञ्जलि (अञ्जलि बांधकर) होकर गुरु से निवेदन करे—हे देव! मैं आज आपकी कृपा से कृतकृत्य होकर माया, मृत्यु, मोह से छूटकर स्वयं को शिवरूप अनुभव कर रहा हूँ।।१६-१७।।

इति पठित्वाऽच्छिद्रमवधार्य ब्राह्मणान् भोजयेत्। गुरुस्तु मन्त्रदानानन्तरं स्वशक्तिरक्षार्थं दत्तमन्त्रमष्टोत्तरसहस्रमष्टोत्तरशतं वा जपेत्। ततो घटस्थ-देवतां विसृज्य शान्त्याशीर्वादं कुर्यात् ॥१८॥

इति क्रियावती दीक्षा

यह कहकर कर्म को अच्छिद्र रूप से अवधारित कर ब्राह्मणों को भोजनादि करना चाहिये। गुरु भी अब मन्त्रदान के उपरान्त अपनी शक्ति की रक्षा के लिये उस मन्त्र का १००८ अथवा १०८ जप करे, जो मन्त्र उसने शिष्य को दिया है। तदुपरान्त घट तथा घटस्थ देवता का विसर्जन करके शान्ति आशीर्वाद प्रदान करे। यही क्रियावती दीक्षा कही गयी है।।१८।।

अथ संक्षेपदीक्षा

शिष्यः स्वस्तिं वाच्य संकल्पः पूर्ववद्विधाय गुरुं वृणुयात्। ततो गुरुः साक्षतं शङ्खमभ्यर्च्य ॐ सहस्रारे हुं फड़िति शिष्यस्य शिखां बद्ध्वा मन्त्रस्य सूतकद्वयमोचनं कृत्वा शङ्खजलेनाष्टधा शिष्यशिरोऽभिषिच्य शिरसि ॐ शमोऽस्त्वित्यक्षतान् दत्त्वा वौषड़िति मन्त्रेण वस्त्रेण नेत्रे आच्छाद्य मूलमन्त्रमष्टधा शिरसि जप्त्वा नेत्रबन्धनं दूरीकृत्य ॐ अद्येत्यादि अमुकदेवताया इयदक्षरमन्त्रं ते ददानीति शिष्यस्य दक्षिणहस्ते जलं दत्त्वा एष मन्त्र आवयोस्तुल्यफलदो भवतु इति वदेत्। ततः ॐ ददस्वेति शिष्ये-णोक्तऋष्यादिकं पठन् वाचयित्वा दक्षिणकर्णे त्रिः श्रावयेद् वामे च सकृत्। स्त्रीशूद्रयोः पूर्ववत्। ततः शिष्योऽष्टवारं मन्त्रं जपेत्। ततः शिष्य-प्रणामादि पूर्ववत् सर्वम् ॥१९॥

अब संक्षेप दीक्षा कहते हैं। शिष्य स्वस्तिवाचनादि करके गुरु का वरण करे। तदनन्तर गुरु अक्षतयुक्त शङ्ख की अर्चना करके 'ॐ सहस्रारे हुं फट्' मन्त्र द्वारा शिष्य

की शिखा बांधे और पूर्वोक्त रीति से मन्त्र के सूतकद्वय का मोचन करे और शङ्ख के जल द्वारा शिष्य के मस्तक को आठ बार अभिषिक्त करे। इसके पश्चात् मूल संस्कृत में ऊपर लिखे 'ॐ शमोऽस्तु' इत्यादि मन्त्र से शिष्य के मस्तक पर अक्षत रखकर 'वौषट्' (जो पहले बताया जा चुका है) मन्त्र पढ़ कर शिष्य के नेत्रों को एक वस्त्र से ढक दे। तत्पश्चात् शिष्य के मस्तक पर आठ बार देय मन्त्र अथवा देय विद्या का जप करके नेत्रों के आच्छादन (वस्त्र) को हटाकर 'ॐ अद्येत्यादि' कहकर शिष्य की दाहिनी अञ्जलि में जल देकर यह कहे—'एष मन्त्र आवयोस्तुल्यफलदो भवतु'—(यह मन्त्र हम दोनों को समान फल देने वाला हो)। इस पर शिष्य कहे—'ददस्व' (दीजिये)। अब गुरु पूर्ववत् मन्त्र देवता, मन्त्र के ऋषि, मन्त्र छन्दादि का उल्लेख करते हुये उसकी पुनरावृत्ति शिष्य से कराये। अब शिष्य के दाहिने कान में देय मन्त्र (अथवा देय विद्या) को तीन बार कहे और बाँयें कान में एक बार कहे। परन्तु स्त्री और शूद्र के बाँयें कान में तीन बार तथा दाहिने कान में एक बार मन्त्रोच्चारण करे। अब गुरु से मन्त्र सुनकर शिष्य उस मन्त्र की आठ बार पुनरावृत्ति करे। तत्पश्चात् शिष्य प्राणायामादि न्यासादि पूर्ववत् सम्पन्न करे।।१९।।

अथवा—चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये वा सङ्कल्पसूतकद्वय-मोचनपूर्वकं मन्त्रमात्रप्रकथनं दक्षिणादानञ्चेत्यतिसंक्षेपदीक्षा ॥२०॥

अथवा चन्द्र-सूर्यग्रहण में, तीर्थ अथवा सिद्धक्षेत्र में अथवा शिवालय में संकल्प करे तथा सूतकों का मोचन करते हुये मन्त्र लेकर दक्षिणादान करे। अति संक्षिप्त दीक्षा की यही विधि है।।२०।।

●

अथ सर्वतोभद्रमण्डलम्

शारदायाम्—

चतुरस्रे चतुःकोष्ठे कर्णसूत्रसमन्विते।
चतुर्ष्वपि च कोष्ठेषु कर्णसूत्रचतुष्टयम्॥१॥
मध्ये मध्ये यथा मत्स्यो भवेयुः पातयेत्तथा।
पूर्वापरायते द्वे द्वे मन्त्री याम्योत्तरायते॥२॥

अब शारदातिलक तन्त्रोक्त सर्वतोभद्रमण्डल कहते हैं। प्रथमतः चार कोष्ठयुक्त चतुरस्र मण्डल का गठन करना चाहिये। इन चारो कोष्ठों के चारो कोणों पर सूत्रपात करे। यह सूत्रपात ऐसे करना चाहिये कि जिससे बीच-बीच में मत्स्यसमूह (आकृति) उत्पन्न हो (प्रतीत हो)। (सूत्रपात = रेखा)। अब मन्त्रज्ञ गुरु उस मत्स्यसमूह के पूर्व से पश्चिम तक दो रेखा और उत्तर से पश्चिम तक दो रेखा खींचे। इससे उस चतुरस्र मण्डल में १६ कोष्ठ उत्पन्न हो जाते हैं।।१-२।।

पातयेत् तेषु मत्स्येषु समं सूत्रचतुष्टयम्।
पूर्ववत् कोणकोष्ठेषु कर्णसूत्राणि पातयेत्॥३॥

इस मत्स्यसमूह में पुनः समान चार रेखा खींचनी चाहिये। अब पूर्ववत् चारो कोण- कोष्ठों में चार कर्ण का सूत्रपात करे।।३।।

तदुद्भूतेषु मत्स्येषु दद्यात् सूत्रचतुष्टयम्।
ततः कोष्ठेषु मत्स्याः स्युस्तेषु सूत्राणि पातयेत्॥४॥
यावत् शतद्वयं मन्त्री षट्पञ्चाशत् पदान्यपि।
तावत् तेनैव विधिना तत्र सूत्राणि पातयेत्॥५॥

इससे जो मत्स्यसमूह बनता है, उसमें पहले की ही तरह पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण दो-दो रेखायें खींचे। इन रेखाओं द्वारा अन्तराल कोष्ठ में चार मत्स्य बनते हैं। इस मत्स्यसमूह में पुनः समसूत्रपात करे। मन्त्रशास्त्रज्ञ आचार्य जब तक २५६ कोष्ठ न बन जाय तब तक इस विधि के अनुसार पूर्वोक्त प्रकार से इस मत्स्यसमूह में सूत्रपात (रेखा) खींचते रहें।।४-५।।

दैर्घ्यविस्तारयोः षोडशकोष्ठेषु कृतेषु तद् भवति। तत्र कर्णसूत्रपातनं कोष्ठानां तुल्यपरिमाणार्थमिति बोध्यम् ॥६॥

दैर्घ्य तथा विस्तार में १६ कोष्ठ बनने पर २५६ कोष्ठ होते हैं। कोष्ठों के तुल्य परिमाण के लिये कोष्ठसमूह में कर्णसूत्रपात करना होगा।।६।।

षट्त्रिशंतो पदैर्मध्ये लिखेत् पद्मं सुलक्षणम्।
बहिः पङ्क्त्या भवेत्पीठं पङ्क्तियुग्मेन वीथिका ॥७॥
द्वारशोभोपशोभास्त्रान् शिष्ठाभ्यां परिकल्पयेत्।
शास्त्रोक्तविधिना मन्त्री ततः पद्मं समालिखेत् ॥८॥
पद्मक्षेत्रस्य सन्त्यज्य द्वादशांशं बहिः सुधीः।
तन्मध्यं विभजेद् वृत्तैस्त्रिभिः समविभागतः ॥९॥

मध्य में ३६ कोष्ठों द्वारा एक सुलक्षण पद्म होता है। पद्म के बाहर २८ कोष्ठ रूप एक पंक्ति द्वारा पीठ बनती है। उसके बाहर चारो ओर ८० कोष्ठ रूप दो पंक्ति द्वारा वीथिका होती है। उसके बाहर चारो ओर ११२ कोष्ठ रूप अवशिष्ट दो पंक्ति द्वारा शोभा, उपशोभा तथा कोण की कल्पना करे। तदनन्तर मन्त्रशास्त्र को जानने वाला आचार्य शास्त्रोक्त विधि के अनुसार पद्म बनाये। ३६ कोष्ठात्मक पद्म क्षेत्र में चारो ओर बहिर्भाग में १२ अंश को छोड़कर उसके मध्य के दश अंश के समान भाग को तीन वृत्तों द्वारा विभाजित करे।।७-९।।

आद्यं स्यात्कर्णिकास्थानं केशराणां द्वितीयकम्।
तृतीयं तत्र पत्राणां युक्तांशेन दलाग्रकम् ॥१०॥
बाह्यवृत्तान्तरालस्य मानेन विधिना सुधीः।
निधाय केशराग्रेषु परितोऽर्द्धनिशाकरान् ॥११॥

इस तीन वृत्त के मध्य में प्रथम वृत्त के स्थान में कर्णिका होगी। द्वितीय वृत्त कमल (पद्म) के केशर का स्थान है। प्रथम वृत्त से द्वितीय वृत्त के मध्यवर्त्ती स्थान में केशर होगा। द्वितीय वृत्त से तृतीय वृत्त के मध्यवर्त्ती स्थान में पत्ते बनेंगे। द्वादश अंश वाला स्थान दल का अग्र होगा। वाह्य पत्र वृत्त के अन्तराल का जो मान है, उस मान में सुधी साधक केशर वृत्त के आगे सूत्र (रेखा) का आदि रखकर विधानानुसार पद्म के मध्य सूत्र के दोनों ओर अर्धचन्द्र बनाकर उसमें उसके संधिसंस्थानरूप चार रेखा बनाये। दलाग्र का जो परिमाण है अर्थात् बाहर जिस द्वादशांश को छोड़ा गया है, उसके बराबर परिमाण का चतुर्थ वृत्त बनाये।।१०-११।।

लिखित्वा सन्धिसंस्थानि तत्र सूत्राणि पातयेत्।
दलाग्राणाञ्च यन्मानं तन्मानं वृत्तमालिखेत् ॥१२॥

तदन्तराले तन्मध्ये सूत्रस्योभयतः सुधीः ।
आलिखेद् बाह्यहस्तेन दलाग्राणि समन्ततः ॥१३॥
दलमूलेषु युगशः केशराणि प्रकल्पयेत् ।
एतं साधारणं प्रोक्तं पङ्कजं तन्त्रवेदिभिः ॥१४॥

(प्रसंगतः १२वें श्लोक का तात्पर्यार्थ ऊपर ११वें श्लोक के साथ लिखा जा चुका है। यहाँ १३-१४वें श्लोक का अर्थ अंकित है)। दलाग्र वृत्त के अन्तराल में सुधी साधक उसके मध्य सूत्र के दोनों ओर बाहर चारो ओर अर्थात् दिक् तथा विदिक् में दलाग्र बनाये। दल के मूल समूह में दो-दो केशरसमूह का अंकन करे। तान्त्रिकों ने इसे साधारण पद्म कहा है।।१२-१४।।

पदानि त्रीणि पादार्थं पीठकोणेषु मार्जयेत् ।
अवशिष्टः पदैर्विद्वान् पीठगात्राणि कल्पयेत् ॥१५॥

पीठ पंक्ति के कोण कोष्ठ और उसके दोनों ओर के दो कोष्ठों को पाद के लिये छोड़ देना चाहिये। सुधी साधक बाकी चार कोष्ठों द्वारा पीठगात्र की रचना करे।।१५।।

पत्राणि वीथिसंस्थानि मार्जयेत् पंक्त्यभेदतः ।
दिक्षु द्वाराणि रचयेद् द्विचतुःकोष्ठकैस्ततः ॥१६॥

वीथी के लिये रक्षित दो पंक्ति कोष्ठों के एक पंक्ति में करे (एक आकार में करे)। तदनन्तर चारो ओर भीतरी पंक्ति के मध्य सूत्र के दोनों ओर दो कोष्ठ तथा बाहरी पंक्ति के मध्य सूत्र (मध्य रेखा) के दोनों ओर दो-दो कोष्ठों से ४ द्वारों की रचना करनी चाहिये।।१६।।

पदैस्त्रिभिरथैकेन शोभाः स्युर्द्वारपार्श्वयोः ।
उपशोभाः स्युरेकेन त्रिभिः कोष्ठैरनन्तरम् ॥
अवशिष्टैः पदैः षड्भिः कोणानां स्याच्चतुष्टयम् ॥१७॥

अब द्वार के दोनों ओर भीतर के तीन-तीन कोष्ठ तथा बाहर के एक-एक कोष्ठ को लेकर दो-दो शोभा लगावे (शोभित करे)। इसके पश्चात् चारो दिक् (दिशाओं) की ऊपरी पंक्ति के शोभा संलग्न एक-एक कोष्ठ तथा सबसे नीचे की तीन-तीन कोष्ठ को एक करके चारो ओर आठ उपशोभा बनाये। कोण के बचे छः-छः कोष्ठों से चार कोण होंगे।।१७।।

रञ्जयेत् पञ्चभिर्वर्णैर्मण्डलं तन्मनोहरम् ।
पीतं हरिद्राचूर्णं स्यात्सितं तण्डुलसम्भवम् ॥१८॥

कुसुम्भचूर्णमरुणं कृष्णं दग्धपुलाकजम्।
विद्यादिपत्रजं श्याममित्युक्तं वर्णपञ्चकम्॥१९॥

इस मनोहर मण्डल को पाँच रंग के चूर्ण द्वारा रंगना चाहिये। ये पाँच रंग हैं— हल्दी चूर्ण पीतवर्ण, चावल का चूर्ण श्वेत वर्ण, कुसुम्भ पुष्प का चूर्ण रक्त वर्ण, दग्ध पुलाक चूर्ण (एक तरह के धान्य का नाम) कृष्णवर्ण, बिल्व आदि के पत्ते का चूर्ण (हरित वर्ण)। इस प्रकार पाँच वर्ण होते हैं (बिल्वादि पत्र के चूर्ण का वर्ण श्याम वर्ण भी कहा गया है)।।१८-१९।।

कर्णिकां पीतवर्णेन केसरानरुणेन च।
अङ्गुलोत्सेधविस्ताः सीमारेखाः सिताः शुभाः॥२०॥

इस मण्डल के बाहर चारो ओर एक-एक अंगुल ऊँची तथा विस्तारयुक्त मनोहर श्वेत वर्ण की सीमा रेखा चावल के चूर्ण से (श्वेत वर्ण की) बनाये। पद्म की कर्णिका को हल्दी के चूर्ण से पीत वर्ण की तथा केशर को रक्त वर्ण चूर्ण (कुसुम्भ पुष्पचूर्ण) से बनाये।।२०।।

शुक्लवर्णेन पत्राणि तत् सन्धीन् श्यामलेन च।
रजसा रञ्जयेन्मन्त्री यद्वा पीतेव कर्णिका॥२१॥

मन्त्रज्ञ साधक इस पद्म के पत्रों को सफेद चूर्ण द्वारा (चावल चूर्ण से) पत्र की सन्धियों को श्याम वर्ण चूर्ण (जले पुलाक धान्य के चूर्ण से) रंजित करे। अथवा कर्णिका पीत वर्ण भी रंगी जा सकती है।।२१।।

केसराः पीतरक्ताः स्युररुणाणि दलान्यपि।
सन्धयः कृष्णवर्णाः स्युः सितेनाऽप्यसितेन वा॥२२॥
रञ्जयेत् पीठगर्भाणि पादाः स्युररुणप्रभाः।
गात्राणि तस्य शुक्लानि वीथीषु च चतसृषु॥२३॥
आलिखेत् कल्पलतिका दलपुष्पफलान्विताः।
वर्णैर्नानाविधैश्चित्रैः सर्वदृष्टिमनोहराः॥२४॥

इस रक्त पद्म के केशर को पीत तथा रक्त वर्ण के मिश्रित चूर्ण से, दलों को रक्त वर्ण के चूर्ण से, सन्धियों को श्याम वर्ण चूर्ण से रंजित करना चाहिये। श्वेत वर्ण चूर्ण द्वारा अथवा कृष्ण वर्ण चूर्ण द्वारा कमल के (पद्म के) कोणों को रंगना चाहिये। पाद को रक्त वर्ण एवं उसके गात्र को शुक्ल वर्ण के चूर्ण से रंगे। चारो वीथि को नाना प्रकार के वर्ण द्वारा (उपरोक्त चूर्णो को मिलाकर) रंगे तथा चित्र वर्ण द्वारा रंगे। आँखों को मनोहर लगने वाले पत्र-पुष्प-फलयुक्त कल्पलता भी बनाये।।२२-२४।।

द्वाराणि श्वेतवर्णानि शोभा रक्ताः समीरिताः ।
उपशोभाः पीतवर्णाः कोणान्यसितभानि च ॥२५॥
तिस्रो रेखाः बहिः कार्याः सितरक्ताऽसिताः क्रमात् ।
मण्डलं सर्वतोभद्रमेतत् साधारणं स्मृतम् ॥२६॥

द्वारों को श्वेत वर्ण चूर्ण से, शोभा को रक्त वर्ण चूर्ण से, उपशोभा को पीत वर्ण चूर्ण से तथा कोणों को श्याम वर्ण चूर्ण से रंगना चाहिये। सीमारेखा के बाहर क्रमानुसार शुक्ल, रक्त तथा श्याम वर्ण चूर्ण से तीन रेखा बनाये। इस सर्वतोभद्र में पूजा, होम, याग प्रभृति मंगल कार्य साधारण कहे गये हैं (अर्थात् साधारण कार्य किये जाते हैं)।।२५-२६।।

स्वल्पसर्वतोभद्रमण्डलम्

चतुरस्रां भुवं भित्वा दिग्भ्यो द्वादशधा सुधीः ।
पातयेत् तत्र सूत्राणि कोष्ठानां दृश्यते शतम् ॥२७॥
चतुश्चत्वारिंशदाढ्यं पश्चात् षट्त्रिंशदम्बुजम् ।
कोष्ठैः प्रकल्पयेत् पीठं पङ्क्त्या नैवात्र वीथिकाः ॥२८॥

अल्प सर्वतोभद्र मण्डल कहा जा रहा है। सुधी साधक चतुरस्र भूमि को १२ भाग में बाँटने वाली रेखायें खींचे। इससे १४४ कोष्ठ बनते हैं। इसमें ३६ कोष्ठों वाला पद्म होता है। एक पंक्ति द्वारा कोष्ठ की पीठ की कल्पना करे। इसमें वीथिका नहीं होती।।२७-२८।।

द्वारशोभे यथापूर्वमुपशोभा न दृश्यते ।
अवशिष्टः पदैः कुर्यात् षड्भिः कोणानि तन्त्रवित् ।
विदध्यात् पूर्ववच्छेषमेवं वा मण्डले स्मृतम् ॥२९॥

सुधी साधक पहले की तरह द्वार तथा शोभा का अंकन करे। इसमें उपशोभा नहीं होती। बचे छः कोष्ठों को कोण बनाये। अन्त में रंगना, सीमारेखा, बाहरी तीन रेखा को बनाना आदि कार्य पहले ऊपर लिखे विधि से करे। इसे मण्डल कहा गया है।।२९।।

नवनाभमण्डलम्

चतुरस्रे चतुःषष्टिपदान्यारचयेत् सुधीः ।
पदैश्चतुर्भिः पद्मं ऊस्यान्मध्ये तत्परितः पुनः ॥३०॥
वीथिश्चतस्रः कुर्वीत मण्डलान्तावसानिकाः ।
दिग्गतेषु चतुष्केषु पङ्कजानि समालिखेत् ॥३१॥

अब नवनाभ मण्डल कहते हैं। सुधी साधक एक चतुरस्र (चौकोर स्थान) में ६४ कोष्ठों की रचना करे। मध्य के चार कोष्ठ पद्म होंगे। पुनः इस पद्म के चारो ओर से मण्डल के अन्त तक आठ कोष्ठों को लेकर चार वीथि बनती है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण दिशा के चार कोष्ठों में चार पद्म अंकित करे।।३०-३१।।

विदिग्गतचतुष्कानि भित्वा षोडशधा सुधीः।
मार्जयेत् स्वस्तिकाकारं श्वेतपीतारुणासितैः ॥३२॥

विदिक् = कोण।

रजोभिः पूरयेत् तानि स्वस्तिकानि शिवादितः।
प्राक् प्रोक्तेनैव मार्गेण शेषमन्यत् समापयेत् ॥३३॥

सुधी साधक विदिक् (कोण) गत चार कोष्ठों का (पूर्ववत्) समान १६ भाग करके उसे स्वस्तिकाकार करे। ईशान कोण से प्रारम्भ करके वायुकोण-पर्यन्त उन चारो स्वस्तिकों को क्रमानुसार श्वेत चूर्ण, पीत चूर्ण, रक्त चूर्ण तथा श्याम वर्ण चूर्ण द्वारा रंजित करे। अब पद्म रंजन (रंगना), वीथी में कल्पलतिका बनाकर रंगना, सीमारेखा बनाकर रंगना आदि पहले कही गयी विधि के अनुसार करे।।३२-३३।।

पञ्चाब्जमण्डलम्

नवनाभमिदं प्रोक्तं मण्डलं सर्वसिद्धिदम्।
पञ्चाब्जमण्डलं प्रोक्तमेतत् स्वस्तिकवर्जितम् ॥३४॥
दीक्षायां देवपूजायां मण्डलानां चतुष्टयम्।
सर्वतन्त्रानुसारेण प्रोक्तं सर्वसमृद्धिदम् ॥३५॥

षोडशधेति। विदिग्गतचतुःकोष्ठे षोडशकोष्ठानि कृत्वा तत्रैकैककोणादारभ्य कोष्ठत्रयम् अभ्यन्तरपंक्तेश्चैकैककोष्ठं मार्जयेदिति चतुःस्वस्तिकाकारा भवन्ति। एवं विदिक्चतुष्टये कार्यमित्यर्थः। इति मण्डलचतुष्टयम् ॥३६॥

इस नवनाभ मण्डल को सर्वसिद्धि देने वाला कहा गया है। इसे स्वस्तिकरहित कर देने पर पञ्चाब्ज मण्डल होता है। दीक्षा तथा देवपूजा में यह भी समस्त सिद्धिप्रदा है। यहाँ चारो मण्डलों का विवरण समस्त तन्त्रों के अनुसार दिया गया है। यहाँ षोडशधा का तात्पर्य है कि कोणगत चार कोष्ठों को पूर्वोक्त प्रकार से १६ कोष्ठयुक्त करके एक कोण से आरम्भ करके तीन कोष्ठों के अन्दर वाली पंक्ति के एक-एक कोष्ठ की मार्जना करने पर चार स्वस्तिकों का आकार बनेगा। इस प्रकार से चार विदिक् (कोण) करे। मण्डलचतुष्टय प्रसंग यहाँ समाप्त होता है।।३४-३६।।

●

दीक्षानन्तरं गुरुशिष्यकृत्यम्

अथ गुरुशिष्ययोर्दीक्षानन्तरं निषिद्धम्। यथा तन्त्रे—

मन्त्रं दत्त्वा गुरुश्चैवमुपवासं यदाचरेत्।
महान्धकारनिरये कृमिर्भवति नान्यथा ।।१।।

(यहाँ से पूर्व प्रसंग समाप्त हो जाने के कारण श्लोकसंख्या को एक कर दिया गया है) अब गुरु तथा शिष्य से सम्बन्धित दीक्षा में जो निषिद्ध विषय (प्रसंग) हैं, उन्हें कहते हैं। तन्त्र कहता है कि यदि मन्त्र-दीक्षा देने के पश्चात् गुरु उपवास करता है तब उसे घोर अन्धकारमय नरक में कीट योनि मिलेगी। यह वचन अन्यथा नहीं होगा।।१।।

दीक्षां कृत्वा यदा मन्त्री उपवासं समाचरेत्।
तस्य देवः सदा रुष्टः शापं दत्त्वा व्रजेत् पुरम्।।२।।

यदि मन्त्रज्ञाता शिष्य दीक्षा के पश्चात् उपवास करता है तब मन्त्र देवता उससे सदैव रुष्ट रहते हैं और शाप देकर उसका घर छोड़ देते हैं।।२।।

अथ गुरौ शिष्यकर्त्तव्याकर्त्तव्यनिर्णयः। ज्ञानार्णवे—

जन्महेतु हि पितरौ पूजनीयो प्रयत्नतः।
गुरुर्विशेषतः पूज्यो धर्माधर्मप्रदर्शकः ।।३।।

अब शिष्य का कर्त्तव्य गुरु के प्रति क्या होना चाहिये? इसे कहा जाता है। ज्ञानार्णवतन्त्र के अनुसार पिता-माता जन्म के कारण हैं। अतः उनका विशेष यत्नपूर्वक पूजन करे। गुरु धर्म-अधर्म का प्रदर्शन करते हैं, वे यह बताते हैं कि धर्म तथा अमर्ध क्या है? अतः उनका भी विशेषतः पूजन करना चाहिये।।३।।

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।।४।।

गुरु ही पिता-माता = देवता तथा गति हैं। शिव के क्रोधित हो जाने पर गुरु रक्षा करते हैं; परन्तु गुरु के क्रोधित हो जाने पर कोई रक्षा नहीं कर सकता।।४।।

गुरोर्हितं प्रकर्त्तव्यं वाङ्मनःकायकर्मभिः।
अहिताचरणाद् देवि! विष्ठायां जायते कृमिः ।।५।।

मन, वाणी तथा शरीर से गुरु का हित करने में तत्पर रहना चाहिये। उनका अहित करने से विष्ठा में रहने वाले कीड़े की योनि मिलती है।।५।।

गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदन्यमन्तिके।
प्रयाति नरकं घोरं सा पूजा विफला भवेत्॥६॥

जो व्यक्ति गुरु की उपस्थिति में अन्य की पूजा करता है, उसकी वह पूजा निष्फल होती है तथा उसे घोर नरक में जाना पड़ता है।।६।।

तन्त्रान्तरे—

प्रत्यक्षे वा परोक्षे वा प्रत्यहं प्रणमेद् गुरुम्।
गुरोर्नाम्ना न भाषेत जपकालादृते प्रिये॥७॥

अन्य तन्त्र में कहते हैं कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में नित्य गुरु को प्रणाम करे। भगवान् कहते हैं—हे देवि! जपकाल के अतिरिक्त गुरु का नाम लेना वर्जित है।।७।।

श्रीनाथदेवस्वामीति विवादे साधने वदेत्।
कुलाचारं गुरुं देवं मनसाऽपि न निन्दयेत्॥८॥

व्यवहार कार्य में यदि नाम लेना हीं पड़े तब श्री नाथ देवस्वामी कहकर उनका नाम ले। कुलाचार में गुरु तथा देवता की स्वप्न में भी निन्दा नहीं करनी चाहिये।।८।।

जपकालादिति। प्रातर्गुरुमन्त्रजपे गुरुनामोच्चारणमावश्यकमिति वक्ष्यते। विशेषेण वादः कथनं यत्र तादृशे साधने व्यवहारकर्मणीत्यर्थः। कुला-चारमिति। एतत् त्रयं न निन्दयेत्॥९॥

जपकाल अर्थात् गुरुमन्त्र-जपकाल में गुरु का नामोच्चार आवश्यक है। विशेष रूप से वाद अर्थात् बातचीत में अर्थात् व्यवहार में। कुलाचारम्—कुलाचार कौलिक आचार में। इन तीनों में भी गुरुनिन्दा न करे।।९।।

लिङ्गागमे—

गुरुणालोकितः शिष्य उत्तिष्ठेदासनं त्यजेत्।
गुरुणा सद्सद् वापि यदुक्तं तन्न लङ्घयेत्॥१०॥
रभसः मैथुनं मिथ्या यो वदेत् गुरुमन्दिरे।
स याति नरकं घोरं भैरवेणेति भाषितम्॥११॥

लिङ्गागम के अनुसार गुरु को देखते ही (आगमन करते ही) शिष्य को उठकर खड़ा हो जाना चाहिये। गुरु अच्छा-बुरा जो कुछ भी कहे, उसका लङ्घन (प्रतिवाद)

न करे। जो गुरु के घर में हर्ष, मैथुन करते तथा झूठ बोलते हैं, भैरव के अनुसार उन्हें घोर नरक में जाना पड़ता है।।१०-११।।

श्रीक्रमे—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
तस्मान्मन्येत सततं पितुरत्यधिकं गुरुम् ।।१२।।

श्रीक्रमशास्त्र में कहा गया है कि माता-पिता से मन्त्र देने वाला पिता (गुरु) अधिक गरिमामय है। उसे पिता से भी अधिक सम्मान देना चाहिये।।१२।।

तथा—

आयान्तमग्रतो गच्छेद् गच्छन्तं तदनु व्रजेत्।
आसने शयने वापि न तिष्ठेदग्रतो गुरोः ।।१३।।

और भी कहते हैं कि गुरु के आने पर आगे-आगे उनका सत्कार करे। जब गुरु जाते हैं तब उनके पीछे चले। गुरु के सामने शय्या पर अथवा आसन पर न बैठे।।१३।।

अनुज्ञां प्राप्य तिष्ठेच्च नैवं शापमवाप्नुयात्।
गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदग्रतो न तम्।
स दुर्गतिमवाप्नोति पूजा च विफला भवेत् ।।१४।।

गुरु के सामने उनकी आज्ञा होने पर ही बैठना चाहिये। ऐसा न करने पर अभिशाप मिलता है। जो व्यक्ति गुरु के उपस्थित रहने पर भी उनकी पूजा (सत्कार) नहीं करता, उसे दुर्गति मिलती है और उसकी पूजा विफल हो जाती है।।१४।।

गुरौ मनुष्यबुद्धिस्तु मन्त्रे चाक्षरभावनम्।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत् ।।१५।।

गुरु को मनुष्य समझना (देवता न समझना), मन्त्र को मामूली अक्षर मानना और देवमूर्त्ति को पत्थर (या धातु) मानना नरक का कारण है।।१५।।

स्मरंशादधिकं ज्ञेयं गुरुवंशं महाशुभम्।
जनकादधिको ज्ञेयो मन्त्रदः परमेश्वरः ।।१६।।

अपने (कुल) वंश से अधिक शुभकर गुरु के वंश को माने। मन्त्रदाता परमेश्वर के स्वरूप गुरु को पिता से अधिक मानना चाहिये।।१६।।

रुद्रयामले—

मन्त्रार्णा देवता ज्ञेया देवता गुरुरूपिणी।

तेषां भिदा न कर्त्तव्या यदिच्छेत् सिद्धिमात्मनः।
एकग्रामस्थितो नित्यं गत्वा वन्देत वै गुरुम् ॥१७॥

रुद्रयामल में कहते हैं कि मन्त्रवर्ण को देवतास्वरूप जाने। देवता को गुरुस्वरूप जाने। यदि अपनी सिद्धि की इच्छा है तब देवता तथा गुरु के बीच भेद नहीं करना चाहिये। यदि शिष्य तथा गुरु एक ही गाँव के निवासी हों, तब शिष्य प्रतिदिन गुरुगृह में जाकर उनकी वन्दना करे।।१७।।

मन्त्रार्णा = मन्त्रवर्णाः। भिदा = भेदबुद्धिः। तथा चोक्तम्—
देवतागुरुमन्त्राणामैक्यं सम्भावयन् धिया ॥१८॥ इति।

मन्त्रार्णा—मन्त्रसमूह। भिदा—भेद दर्शन करने वाली बुद्धि। तभी कहा गया है कि देवता, मन्त्र तथा गुरु में ऐक्य भावना रखनी चाहिये।।१८।।

तन्त्रराजे—

गुरूच्यमाने वचने दद्यादित्थं वचस्तथा।
प्रसीद नाथ देवेति तथेति च कृतादरः ॥१९॥

तन्त्रराज में कहा गया है कि गुरु जो भी कहें, शिष्य उस पर ऐसा ही हो, यह कहे। हे नाथ! हे देव! आप प्रसन्न होइये।।१९।।

प्रणम्योपविशेत् पार्श्वे तथा गच्छेदनुज्ञया।
मुखावलोकी सेवेत कुर्यादादिष्टमादरात् ॥२०॥

गुरु को प्रणाम करके उनके पार्श्व में (एक किनारे) बैठे। उनसे अनुमति लेकर तब जाय। गुरु के मुख को देखकर उनकी सेवा करे (अर्थात् उनके मुख को देखकर यह चिन्तन करे कि इन्हें अब किस सेवा की आवश्यकता है)। गुरु जिस कार्य की आज्ञा देते हों, उसे आदरपूर्वक करना चाहिये।।२०।।

ऋणदानं तथादानं वस्तूनां क्रयविक्रयम्।
न कुर्याद् गुरुणा सार्द्धं शिष्यो विज्ञः कथञ्चन।
एकग्रामे नित्यपूजा न कार्या वा तदाज्ञया ॥२१॥

विज्ञ शिष्य गुरु को कर्ज न दे (जो देना हो), वह श्रद्धापूर्वक सेवा के भाव से प्रदान करे। उनसे ऋण भी न लिया करे। यदि एक ही ग्राम में शिष्य-गुरु दोनों रहते हैं तब उनकी नित्य पूजा न करके उनकी आज्ञा का पालन करे (यही पूजा है)।।२१।।

आदानम् ऋणस्यैव, उपस्थितत्वात्। नित्यपूजा न कार्या तदाज्ञया वा कार्येत्यर्थः ॥२२॥

ऊपर ऋण शब्द के बाद दान तथा आदान लिखा गया है। आदान से ऋण लेना जानना होगा। नित्य पूजा न करके उनकी आज्ञा का नित्य पालन करे। यह एक ग्राम में जब शिष्य-गुरु रहते हों तब का नियम है।।२२।।

तथा—

पूजामध्ये समायाते पूजां हित्वा समुद्व्रजेत्।
विधेहि शेषमित्युक्ते कुर्याच्छेषं तदाज्ञया ।।२३।।

समायाते गुराविति शेषः।

इसी प्रकार कहा गया है कि पूजा में गुरु के उपस्थित रहने पर (यदि शिष्य कोई पूजन कर रहा है और वहाँ गुरु उपस्थित हैं तब) पहले गुरु के वचन का पालन करे। पूजा कर रहा है, इसलिये गुरु की आज्ञा की अहवेलना न कर पूजा छोड़कर पहले आज्ञापालन करना चाहिये।।२३।।

नंदिपुराणे—

यो गुरुं पूजयेन्नित्यं तस्य विद्या प्रसीदति।
तत् प्रसादेन तस्मात्स प्राप्नुयात् सर्वसम्पदः ।।२४।।

नन्दी पुराण में कहा गया है कि जो शिष्य गुरु की नित्य पूजा करता है, उसी से मन्त्र देवता अथवा विद्या प्रसन्न होते हैं। गुरु की कृपा से वह मन्त्र देवता अथवा विद्या से सब कुछ पा सकता है।।२४।।

मनुः—

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव वा।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ।।२५।।
उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ।।२६।।

मनु कहते हैं कि लौकिक शास्त्र तथा आध्यात्मिक शास्त्र का ज्ञान, वेद-वेदान्त का ज्ञान जिस गुरु से प्राप्त होता है, उनका पहले अभिवादन करे। जन्मदाता पिता तथा ब्रह्मज्ञानदाता पिता (गुरुं) में गुरुरूपी पिता ही महान् है; क्योंकि ब्राह्मण का उपनयन रूप (द्वितीय जन्म) ही परलोक तथा इस लोक में ब्रह्मप्राप्ति का हेतु बन जाता है, जो कि शाश्वत तथा नित्य है।।२५-२६।।

शरीरञ्चैव वाचञ्च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद् वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ।।२७।।

शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रिय तथा मन को संयत करके कृताञ्जलि होकर गुरु के मुख को देखते हुये उन्हें दण्डवत् हो प्रणाम करे।।२७।।

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात् साध्वाचारः सुसंवृतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताऽभिमुखं गुरोः ॥२८॥

गुरु के पास हमेशा अपने दुपट्टे से (उस समय मनुष्य उत्तरीय दुपट्टा व्यवहार में लाते थे) दाहिना हाथ बाहर रखकर सुन्दर आचरण से युक्त तथा वस्त्र से शरीर ढककर जाय। (आज्ञा लेकर) बैठे। गुरु के अभिमुख बैठे।।२८।।

हीनान्नवस्त्रवेशः स्यात् सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत् प्रथमञ्चास्य चरमञ्चैव संविशेद् ॥२९॥

सर्वदा गुरु से कुछ सस्ता साधारण वस्त्र पहने, उनके अन्न की तुलना में साधारण अन्न तथा उनकी तुलना में कम सजावट वाला वस्त्र पहनकर जाना चाहिये। रात्रि के अन्त में (ब्राह्ममुहूर्त्त में) गुरु के जागने के पहले उठे तथा रात्रि में गुरु के सो जाने के पश्चात् सोने जाय।।२९।।

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत्।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥३०॥

शिष्य सोकर, आसन पर बैठकर, भोजन करते-करते, चलते-फिरते अथवा विमुख होने पर गुरु से बात-चीत न करे।।३०।।

विमुख = गुरु से उल्टे मुख होने पर।

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंश्च तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वव्रजतः पश्चाद् धावंस्तु धावतः ॥३१॥

आसन पर बैठा शिष्य गुरु की आज्ञा होते ही अपने आसन से उठकर खड़ा होकर आज्ञा सुने, उनकी ओर मुख किये हुये दो-चार पग चले। यदि गुरु शिष्य की ओर आते-आते आज्ञा देते हैं, तब शिष्य गुरु की ओर अभिमुख होकर दो-चार पग चले। जब गुरु तेजी से चलते-चलते आदेश करें तब शिष्य उनके पीछे दौड़कर जाकर उनकी बात सुने तथा कहे।।३१।।

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम्।
प्रणम्य तु शयानस्य निर्देशे चैव तिष्ठतः ॥३२॥

जब गुरु पराङ्मुख स्थिति में आदेश करे, तब शिष्य सामने आये। यदि गुरु का आसन दूर है तब शिष्य पास आये। यदि लेटे हुये गुरु आदेश करते हैं तब प्रणाम करके उनके निकट हाथ जोड़कर खड़ा होकर उनकी बातें सुने।।३२।।

नीचं शय्यासनञ्चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥३३॥

(सोये) बैठे हुये गुरु से शिष्य की शय्या तथा आसन सर्वदा नीचे होना चाहिये। गुरु के सामने शिष्य कभी भी अपनी मनमानी न बैठे। पैर वगैरह न फैलाये।।३३।।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥३४॥

गुरु के पीछे (जब गुरु सामने न हों) तब उनके नाम के आगे उपाध्याय, आचार्य जैसे सम्मानजनक शब्द लगाये बिना उनका नाम कभी न ले। गुरु के चलने-फिरने, बोलने तथा उनकी चेष्टाओं की नकल कभी न करे।।३४।।

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्त्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥३५॥

जहाँ गुरु की निन्दा हो रही हो (जहाँ गुरु अनुपस्थित हो, वहाँ उनके पीठ पीछे की निन्दा हो रही हो) तथा जहाँ गुरु उपस्थित हो और वहाँ उनके सामने उनके दोष गिनाये जा रहे हों, वहाँ पर शिष्य अपने दोनों कान ढक ले अथवा वहाँ से अन्यत्र चला जाय।।३५।।

परिवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥३६॥

गुरु से परिवाद करने (अथवा सुनने) से शिष्य अगले जन्म में गदहा बनता है। गुरुनिन्दक को कुत्ते की योनि मिलती है। गुरु के धन का गलत उपभोग करने वाला अगले जन्म में कीड़ा बनता है। गुरु से जलन रखने वाला शिष्य मृत्यु के पश्चात् कृमियों से भी बड़ा कीड़ा होता है।।३६।।

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नास्तिकं स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याऽभिवादयेत् ॥३७॥

यदि शिष्य गुरु से दूर है तथापि स्वयं जाकर उन्हें वस्त्रादि देने की शक्ति रहने पर भी वह अन्य के द्वारा गुरु के पास वस्त्रादि नहीं भेजे; अपितु स्वयं जाकर दे। जब गुरु क्रोधित हों अथवा अपनी स्त्री के साथ हों तब उस समय गुरु की अर्चना न करे। शय्या पर या आसन पर बैठा शिष्य गुरु के आने पर शय्या अथवा आसन से उठकर उनकी अर्चना करे। प्रणामादि उठकर करे।।३७।।

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्त्तयेत् ॥३८॥

गुरु के अभिमुख होकर जब शिष्य गुरुस्थान से अपने स्थान पर आता है तो वह है—प्रतिवात। जब शिष्य अपने स्थान से (गृहादि से) गुरु के स्थान पर जाता है, तब वह है—अनुवात। इन दोनों स्थितियों में गुरु के साथ बैठना वर्जित है। जो विषय गुरु नहीं सुनना चाहते, उस विषय में उनसे वार्त्ता करना उचित नहीं है।।३८।।

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्द्धं शिलाफलकनौषु च ॥३९॥

बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊँटगाड़ी, प्रासाद, पत्थर की शय्या, शिला, दीर्घ काठ के आसन पर तथा नौका पर गुरु के साथ बैठ सकते हैं (क्योंकि वहाँ कोई अन्य उपाय नहीं रहता)।।३९।।

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥४०॥

जैसे मनुष्य फरसा से भूमि खोदकर जल पाता है, वैसे ही शिष्य भी गुरु की सेवा करके गुरुगत विद्या की प्राप्ति करता है।।४०।।

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥४१॥

मन्त्रदाता आचार्य, पिता, माता तथा बड़े भाई की अवमानना न करे। विशेषतः ब्राह्मण की अवमानना कदापि न करे।।४१।।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्त्तिस्तु भ्राताग्र्यो मूर्त्ति वात्मनः ॥४२॥

आचार्य = ब्रह्मा, पिता = प्रजापति, माता = पृथ्वी तथा बड़ा भाई = अपनी आत्मा की मूर्त्ति है।।४२।।

यो मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि ॥४३॥

माता तथा पिता संतान के लिये जो क्लेश सहते हैं, १०० वर्ष में भी पुत्र उसका ऋण नहीं चुका सकता।।४३।।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेषु हि त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥४४॥

सदैव माता तथा पिता को अच्छा लगने वाला कार्य करे। आचार्य का भी सदा प्रिय करे। इन तीनों की संतुष्टि से समस्त तपस्या का काम्य फल मिलता है।।४४।।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्।।४५।।

इन तीनों की सेवा ही परम तप है। इनकी जब तक पूरी सेवा सम्पन्न न हो जाय तब तक पुत्र (शिष्य) को चाहिये कि इनकी सेवा के अतिरिक्त कोई भी अन्य धर्म (कार्य) का पालन न करे।।४५।।

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः।।४६।।

ये ही तीन लोक, तीन आश्रम, तीन वेद तथा तीन अग्निस्वरूप कहे गये हैं।।४६।।

पिता वै गार्हपत्याग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी।।४७।।

पिता ही गार्हपत्य अग्नि है। माता दक्षिणाग्नि है। गुरु आवाहनीय अग्नि है। ये अग्नित्रय सर्वदा गरिमामय हैं।।४७।।

त्रिष्वप्रमाद्यन्नैतेषु त्रीन् लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते।।४८।।

गृहस्थ को चाहिये कि वह इन तीनों के प्रति प्रमाद (लापरवाही) न करे। इससे वह तीन लोकों की विजय करके तीनों लोकों का अधिपति बन जाता है। उसकी देह द्युलोक के देवता की तरह देदीप्यमान होती है और वह हर्षित होता है।।४८।।

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीताऽवरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।।४९।।

शूद्रादि निम्न जाति से भी श्रद्धायुक्त होकर शुभ विद्या (गारुड़ादि विद्या) ग्रहण करे। अन्त्यज चाण्डालादि से श्रेष्ठ धर्म मोक्ष उपाय की शिक्षा ग्रहण करे। अपने कुल से नीचे के कुल से भी स्त्री ग्रहण करना चाहिये।।४९।।

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।
अणुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः।।५०।।

यदि आपत् काल में ब्राह्मण अध्यापक नहीं मिले तब ब्राह्मण ब्रह्मचारी अब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्य के पास भी अध्ययन कर सकता है। जब तक अब्राह्मण गुरु से अध्ययन करे तब तक उनका अनुगमन करे तथा उनकी सेवा करे; लेकिन उन गुरु का पैर धोना या उनका जूठन खाना उचित नहीं है।।५०।।

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमन्ततः।
धान्यं वासांसि शाकं वा गुरवे प्रीतिमाहरेत्॥५१॥

गुरु की प्रसन्नता पाने के लिये अपने सामर्थ्यानुसार भूमि, सोना, गाय, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, धान्य, शाक तथा वस्त्र अथवा इनमें से एक-एक गुरु को देकर उनका प्रेम प्राप्त करे। यदि यह सब देने का सामर्थ्य नहीं है तब मात्र छाता तथा जूता प्रदान करे। यह भी न दे सके तब शाक ही प्रदान करे।।५१।।

इति मनोर्वचनानि प्रीतिमुद्दिश्य इत्यर्थः। दिव्यागमे—

शिव उवाच

गुरुशय्यासनं यानं पादुकोपानपीठकम्।
स्नानोदकं तथा छायां लङ्घयेन्न कदाचन॥५२॥

दान-विषयक मनु द्वारा कहे वचन में गुरु की प्रीति पाना दान का उद्देश्य है। दिव्यागम में भगवान् शिव कहते हैं कि गुरु की शय्या, आसन, यान, पादुका, जूता, चौकी, स्नान जल तथा गुरु की छाया को लांघना वर्जित है।।५२।।

गुरोरग्रे पृथक् पूजामौद्धत्यञ्च विवर्जयेत्।
दीक्षा व्याख्यां प्रभुत्वञ्च गुरोरग्रे परित्यजेत्॥५३॥

पृथक् पूजामिति। तस्माद गुरोः पूजैव कर्त्तव्येत्यर्थः।

गुरु के समक्ष पृथक् पूजा तथा औद्धत्य का त्याग करे। गुरु के सामने दीक्षा देना तथा व्याख्यान देना और प्रभुत्व प्रदर्शित करना वर्जित है। पृथक् पूजा—इसका तात्पर्य है कि गुरु के सामने अन्य की पूजा निषिद्ध है। अतः गुरु की पूजा ही कर्त्तव्य है।

नन्दिपुराणे—

यस्तु श्रुत्वाऽन्यतः शास्त्रं संस्कारं प्राप्य वै शुभम्।
अन्यस्य जनयेत् कीर्त्तिं गुरोः स ब्रह्महा भवेत्॥५४॥

नन्दीपुराण में कहा है कि जो अन्य से शास्त्र पढ़कर और उत्तम संस्कार प्राप्त करके गुरु के अतिरिक्त अन्य की कीर्त्ति बखानता है, उसे ब्रह्महत्या के पाप का भागी होना पड़ता है।।५४।।

विस्मरेच्चाथ मौढ्याद्यः पठित्वा शास्त्रमुत्तमम्।
स याति नरकं घोरमक्षयं भीमदर्शनम्॥५५॥

अन्यत्र कहते हैं कि जो व्यक्ति उत्तम रूप से शास्त्र पढ़कर उसे मूढ़ता के कारण भूल जाता है, वह घोर अन्धकारमय नरक में जाता है।।५५।।

विष्णुः—यस्तु विद्यामासाद्य तया जीवन्न तस्य परलोकप्रदा भवति। यश्च परेषां यशो हन्तीति प्रसङ्गादुक्तम् ॥५६॥

भगवान् विष्णु कहते हैं कि जो व्यक्ति विद्या प्राप्त करके उससे विद्याविक्रयरूप अर्थ उपार्जित करके जीवन व्यतीत करता है, उसे वह विद्या परलोकप्रदा नहीं होती।।५६।।

तथाऽन्यत्र—

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
अभिशप्तस्य नामानि न गृह्णीयात् कदाचन ॥५७॥

अन्यत्र कहते हैं कि अपना नाम, गुरु का नाम, कंजूस का नाम, अभिशप्त का नाम कभी उच्चारण न करे।।५७।।

वीरतन्त्रे—

विंशतिः पुरुषा वापि नवसप्तत्रयोऽपि वा।
न ज्ञात्वा गुरुवंशानां शिष्यश्चेन्नष्टसन्ततिः ॥५८॥

वीरतन्त्र में कहते हैं कि जो व्यक्ति गुरु के वंश के बीस पुरुष, नौ पुरुष, सात पुरुष अथवा तीन पुरुष को जाने विना शिष्य बनता है, उसकी सन्तान नष्ट होती है।।५८।।

तेन गुरोः त्रयज्ञानमावश्यकमिति मन्तव्यम्। ज्ञानार्णवे—

मन्त्रत्यागाद् भवेन्मृत्युर्गुरुत्यागाद् दरिद्रता।
गुरुमन्त्रपरित्यागाद् रौरवं नरकं व्रजेत् ॥५९॥

अतः गुरु की तीन पीढ़ी का ज्ञान आवश्यक है—ऐसा जानना चाहिये। ज्ञानार्णव तन्त्र में कहते हैं कि मन्त्र के त्याग से मृत्यु होती है, गुरु के त्याग से दरिद्रता आती है एवं दोनों का जो त्याग करता है, उसे रौरव नरक में जाना पड़ता है।।५९।।

तथा—

गुरोर्दीक्षां समासाद्य मोहादज्ञानतस्त्यजेत्।
ज्ञानं श्रीर्बलमायुश्च सर्वं तस्य विनश्यति ॥६०॥

इदञ्च स्वानुकूलस्य मन्त्रस्य विहितसद्गुरोश्च त्यागविषयम्। अर्यादिमन्त्रस्य बलवत् पातकादिमतो गुरोश्च परित्यागे दूषणाभावात् ॥६१॥

इसी प्रकार और भी कहा गया है कि गुरु से मन्त्रदीक्षा लेकर मोहवशात् अथवा अज्ञान के कारण जो मन्त्र तथा गुरु का त्याग कर देता है, उसका ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, आयु नष्ट हो जाता है।

यह वचन अपने अनुकूल मन्त्र तथा विधिविहित सद्गुरु के त्याग के सम्बन्ध में कहा गया है। अरिप्रभृति दोषयुक्त मन्त्र तथा पातकादि दोषयुक्त गुरु का परित्याग करने से कोई दोष नहीं होता।।६०-६१।।

यथा यामले—

गृहीतमन्त्रस्त्यक्तव्यो गुरुश्चेद् दोषसंयुतः।
महापातकयुक्तो वा गुरुदेवविनिन्दकः।।६२।।
अनुच्चार्यश्च यो मन्त्रः शत्रुगेहगतस्तथा।
असंस्कृतगृहीतश्चाविधिदीक्षापुरःसरः।
त्यक्त्वा सर्वं प्रयत्नेन पुनर्ग्राह्यं यथाविधि।।६३।।

जैसे यामल में कहा गया है कि यदि गुरु दोष से युक्त है अथवा महापातकयुक्त है अथवा अपने गुरु की निन्दा करने वाले हैं, तब उनसे प्राप्त मन्त्र का त्याग करना चाहिये। जो मन्त्र अनुच्चार्य अथवा अरिगृहगत अथवा जिसे विधानानुसार दीक्षापूर्वक न लिया गया हो अथवा जो संस्कृत होकर न लिया गया हो, उस मन्त्र का त्याग करके पुनः यथाविधान दीक्षा लेनी चाहिये।।६२-६३।।

उद्योगपर्वणि परशुरामं प्रति भीष्मवाक्यम्—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते।।६४।।

महाभारत के उद्योगपर्व में भीष्म पितामह परशुराम से कहते हैं कि कार्य तथा अकार्य में ज्ञानरहित तथा उत्पथगामी गर्वित अभिमानी गुरु का त्याग विहित है।।६४।।

अयोध्याकाण्डे कौशल्यावाक्यम्—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
कामाचारप्रवृत्तस्य न कार्यं ब्रुवतो वचः।।६५।।
पतिता गुरवस्त्याज्या माता तु न कथञ्चन।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी।
अतो ममापि ते कार्यं शासनं गुरुवत्सल।।६६।।

इति।

वाल्मीकि रामायणान्तर्गत अयोध्या काण्ड में माता कौशल्या कहती हैं कि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य ज्ञानरहित मनमानी करने वाले गर्वित गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करना चाहिये। पतित गुरु का सदा त्याग करे। लेकिन पतिता होने पर भी माता का कभी भी त्याग न करे; क्योंकि गर्भ में धारण एवं पालन-पोषण करने से माता का

स्थान अतिशय महत्त्वपूर्ण है। कौशल्या कहती हैं कि हे गुरुवत्सल राम! इसी कारण मेरे आदेश का पालन करना तुम्हारे लिये कर्त्तव्य है।।६५-६६।।

यत् तु—

अविद्यो वा सविद्यो वा गुरुरेव च दैवतम्।
अमार्गस्थोऽपि मार्गस्थो गुरुरेव सदागतिः ॥६७॥

इति श्रीक्रमवचनम्। तत्र अविद्योऽल्पविद्यः सविद्यो बहुविद्यः अमार्गस्थस्तत्तदाचाररहितः। मार्गस्थस्तत्तदाचारसहितः इति न विरोधः। मन्त्रत्यागप्रकारस्तु प्रागुक्तः ॥६८॥

लेकिन श्रीक्रम शास्त्र में वचन है कि गुरु भले ही अविद्यावान हों अथवा विद्यावान हों, वे देवता ही हैं । गुरु मार्गगामी हों अथवा अमार्गगामी हों, वे सर्वदा गति अर्थात् गति के आश्रय हैं। यहाँ अविद्या का तात्पर्य है—अल्प विद्या। अमार्गस्थ का अर्थ है—तन्त्रोक्त आचाररहित अर्थात् अल्प मात्रा में आचारयुक्त। मार्गस्थ अर्थात् तन्त्रोक्त आचार वाले। अमार्गस्थ = अल्प मात्रा में तन्त्रोक्त आचार मानने वाले। इस दृष्टि से पूर्वोक्त वचन के साथ इस श्लोक का विरोध नहीं है। मन्त्रत्याग का प्रकार पूर्व में ही निरूपित किया जा चुका है।।६७-६८।।

ज्ञानार्णवे—

गुरुवद् गुरुपत्नीषु गुरुवत् तत्सुतादिषु।
गुरुवद् गुरुपूज्येषु सततं भक्तिमाचरेत् ॥६९॥

ज्ञानार्णव में कहते हैं कि गुरुपत्नी, गुरु की सन्तान, गुरुदेव द्वारा पूजित व्यक्ति गण आदि के प्रति गुरु के ही समान भक्ति करनी चाहिये।।६९।।

गुरुवदिति। गुराविवेत्यर्थः। तत्सुतादिष्विति। अत्रादिपदाद्गुरोः कन्यापौत्रप्रपौत्रदौहित्रसगोत्राणां परिग्रहः। गुरुपूज्येष्विति। गुरोर्गुरुप्रभृतिषु मान्येष्वित्यर्थः ॥७०॥

गुरुवत् = गुरु के प्रति जो भक्ति है तदनुरूप तत्सुतादिषु = गुरु की कन्या, पौत्र, पुत्र, प्रपौत्र, दौहित्र तथा सगोत्र। गुरुपूज्येषु = गुरु के गुरुप्रभृति मान्य व्यक्तिगण।।७०।।

मनुः—

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद् वृत्तिमाचरेत्।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥७१॥
बालः समाजजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि।
अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥७२॥

उत्सादनञ्च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने।
न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥७३॥

मनु कहते हैं कि गुरु के गुरु, शिष्य से अधिक आयु वाले गुरुपुत्र तथा गुरु की अपनी जाति के पितृव्य आदि से गुरु के समान आचरण करे। अपने से छोटा तथा समान आयु वाला अथवा अधिक आयु वाला तथा अध्यापन में समर्थ गुरुभाई भी गुरुवद् सम्मान योग्य है। यदि गुरुपुत्र यज्ञ में ऋत्विक् हो अथवा न हो, मात्र यज्ञदर्शनार्थ आया हो, तब भी वह गुरुवत् पूज्य है। तथापि शिष्य कदापि गुरुपुत्र का चरण आदि न दबाये, स्नान-उद्वर्त्तन न कराये, उसका जूठन न खाये, पैर न धोये।।७१-७३।।

उत्सादनं = मर्दनम्। उच्छिष्टभोजनमिति। एतेन गुरुवद्वृत्तिनिर्देशानन्तरमुच्छिष्टभोजननिषेधे गुरूच्छिष्टभक्षणे दूषणाभाव इति लभ्यते ॥७४॥

उत्सादन = मर्दन। उच्छिष्ट भोजन द्वारा यह ज्ञात होता है कि गुरुपुत्रादि के साथ गुरुवत् आचरण के अनन्तर गुरुपुत्र के जूठन खाने का निषेध है अर्थात् गुरु का जूठन खा सकते हैं।।७४।।

मनुः—

गुरुवत् परिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
असवर्णास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥७५॥

मनु यह भी कहते हैं गुरु की ही वर्ण वाली गुरुपत्नी भी गुरु के समान आज्ञापालनादि द्वारा पूज्य है। यहाँ यह भी कहा गया है कि यदि गुरुपत्नी गुरु के वर्ण वाली न हो तब भी उनका अभिवादन तथा उठकर स्वागत करे (आज्ञापालन की बाध्यता नहीं है)।।७५।।

अत्यञ्जनं स्नापनञ्च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानाञ्च प्रसाधनम् ॥७६॥

शिष्य गुरुपत्नी की तैलादि से मालिश, स्नान कराना, देह को दबाना तथा बालों को पुष्प आदि से सजाने का कार्य न करे।।७६।।

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥७७॥

अभिवादन में गुण तथा दोष के सम्बन्ध में ज्ञाता युवक शिष्य बीस वर्षीय (युवती) के चरणों को छूकर उसका अभिनन्दन न करे।।७७।।

स्वभाव एव नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥७८॥

इस संसार में नारीगण का स्वभाव यह है कि वे शृंगार तथा चेष्टा से पुरुषों को दूषित कर देती है। अतः पण्डितगण इनसे प्रमत्त न हों।।७८।।

अविद्यांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्॥७९॥

इस लोक में स्त्रीगण देह के धर्म, काम तथा क्रोध के दास अविद्वान् लोगों को ही नहीं; विद्वानों को भी कुपथ में ले जाती हैं।।७९।।

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥८०॥

माता, बहन अथवा पुत्री-सहित अकेले गृहादि में निवास नहीं करना चाहिये। एकान्त में इनके साथ रहना निषिद्ध है; क्योंकि बलवान इन्द्रियाँ विद्वान् व्यक्ति को भी कुपथ में खींच ही लेती हैं।।८०।।

कामन्तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद् वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन्॥८१॥

युवक शिष्य युवती गुरुपत्नी को यह कहे कि मैं अमुक व्यक्ति आपका अभिवादन करता हूँ और यह कहकर उसका पैर छूये विना भूमि को छूकर अभिवादन करे।।८१।।

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन्॥८२॥

दूर प्रवास से वापस आया युवक शिष्य उस दिन सज्जन पुरुषों के धर्म-आचारादि का स्मरण करके वयस्क गुरुपत्नी का चरण स्पर्श बाँयें हाथ से बाँयें चरण का तथा दाहिने हाथ से दाहिने चरण का करे और इसके पश्चात् प्रतिदिन पृथ्वी पर ही अभिवादन करे।।८२।।

स्वन्यूनवयस्कापि गुरुपत्नी नमस्या, 'स्त्रियो नमस्या वृद्धाश्च वयसा प्रत्युरेव ता' इति वचनात्। तदर्थश्च यतः पत्युर्वयसा स्त्रियो वृद्धाः अतः कनिष्ठाऽपि नमस्या। स्वन्यूनवयस्का मातृस्वसा यदि गुरुपत्नी ज्येष्ठवैमात्रेय मातृपत्नी विमाता वा भवति। एवं तादृशी पितृस्वसा यदि गुरुपत्नी भवति, तदा नमस्यैव,

मातुः पितुः कनीयांसं न नमेद् वयसाधिकम्।
नमस्येत्तु गुरोः पत्नीं मातृजायां विमातरम्॥

इति वचनादिति॥८३॥

अपने से कम आयु वाली गुरुपत्नी भी नमस्कार-योग्य होती है; क्योंकि यदि स्त्री का पति शिष्य से उम्र में बड़ा है अथवा कोई वन्दनीय व्यक्ति यदि आयु में बड़ा है; परन्तु उसकी स्त्री शिष्य से अथवा नमस्कार करने वाले व्यक्ति की आयु से कम आयु की है तब भी शिष्यादि को चाहिये कि उस अपने से कम उम्र वाली स्त्री को प्रणाम करे। अपने से कम आयु वाली मातृस्वसा, सौतेले भाई, गुरु के सौतेले भाई की पत्नी अथवा विमाता गुरुपत्नी हो, यदि ऐसी ही पितृस्वसा गुरुपत्नी हो, तब भी उन्हें प्रणाम करे। वैसे कहा जाता है कि माता तथा पिता से कनिष्ठ आयु वाले को अधिक आयु वाला प्रणाम न करे तथापि गुरुपत्नी, गुरु के मातृ वधु तथा गुरु की विमाता को अवश्य प्रणाम करना चाहिये।।८३।।

●

मालानिरूपणम्

अथ करमाला निरूप्यते। यथा सनत्कुमारसंहितायाम्—

तर्जनीमध्यमानामाकनिष्ठा चेति ताः क्रमात्।
तिस्रोऽङ्गुल्यास्त्रिपर्वाणो मध्यमा चैकपर्विका।
पर्वद्वयं मध्यमाया मेरुत्वेनोपकल्पयेत्॥१॥

अब करमाला का निरूपण करते हैं। सनत्कुमार संहिता में कहा गया है कि तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठा को क्रमानुसार करमाला कहा जाता है। इनमें तीन पर्व वाली तीन उंगली तथा एक पर्व-विशिष्ट मध्यमा करमाला है। मध्यमा के शेष दो पर्व करमाला नहीं कहे जाते; वह मेरुरूप होते हैं।।१।।

(हथेली की उंगलियों से माला का काम लेना = करमाला)।

तन्त्रान्तरे—

अनामामध्यमारभ्य कनिष्ठादित एव च।
तर्जनीमूलपर्यन्तं दशपर्वसु सञ्जपेत्॥२॥

अन्य तन्त्र में कहते हैं कि अनामिका उँगली के मध्य पर्व से प्रारम्भ करके कनिष्ठा उंगली के मूल से लेकर तर्जनी मूल-पर्यन्त दश पर्व से जप करना चाहिये।।२।।

यत् तु—

अनामामूलमारभ्य कनिष्ठादित एव च।
तर्जनीमध्यपर्यन्तमष्टपर्वसु संजपेत्॥३॥

इति तदष्टोत्तरशतसहस्रादिजपेऽधिकाष्टविषयम्॥४॥

और भी कहा गया है कि अनामिका के मूल से लगाकर (प्रारम्भ करके) कनिष्ठा के मूल से तर्जनी के मध्य-पर्यन्त आठ पर्वों से जप करे। अष्टोत्तरशत (१०८) अथवा अष्टोत्तर सहस्र (१००८) में जो ८ संख्या है, उस आठ संख्या का जप इन आठ पर्वों से करने के लिये कहा गया है।।३-४।।

शक्तिविषये तु श्रीक्रमे—

अनामिकात्रयं पर्व कनिष्ठापि त्रिपर्विका।

मध्यमायाश्च त्रितयं तर्जनीमूलपर्वणि।
तर्जन्यग्रे तथा मध्ये यो जपेत्स तु पापकृत् ॥५॥

शक्तिमन्त्रों के जप के लिये श्रीक्रम शास्त्र में कहते हैं—अनामिका के तीन पर्व, कनिष्ठा के तीन पर्व, मध्यमा के तीन पर्व तथा तर्जनी का मूल पर्व शक्तिमन्त्र जप में प्रयुक्त करना चाहिये। तर्जनी के अग्र तथा मध्य पर्व से जो जप करता है, वह पाप करता है।।५।।

अनामाया द्वयं पर्व कनिष्ठादिक्रमेण तु।
तर्जनीमूलपर्यन्तं करमाला प्रकीर्त्तिता ॥६॥

इति तन्त्रान्तरवचनानुसाराच्चावसेयम् ॥६॥

अनामिका के तीन पर्व, कनिष्ठा के तीन पर्व, मध्यमा के तीन पर्व तथा तर्जनी का मूल एक पर्व—सब मिलाकर दश पर्व को शक्ति की करमाला कहा गया है—इस तन्त्रान्तर के वचनानुसार यह पर्यवसित हुआ।।६।।

तथैव हंसपारमेश्वरेऽपि—

पर्वत्रयमनामाया परिवर्त्तेन वै क्रमात्।
पर्वत्रयं मध्यमायास्तर्जन्येकं समाहरेत् ॥७॥
पर्वद्वयं तु तर्जन्यां मेरुं तद्विद्धि पार्वति।
शक्तिमाला समाख्याता सर्वमन्त्रप्रदीपिका ॥८॥

हंसपारमेश्वर शास्त्र भी यही कहता है कि प्रदक्षिणा क्रम से अनामिका के तीन पर्व, मध्यमा के तीन पर्व तथा तर्जनी के मूल पर्व को जप के लिये ग्रहण करे। हे पार्वति! तर्जनी के जो बचे हुये दो पर्व हैं, उन्हें मेरु कहा गया है। सब मन्त्रों की प्रदीपिका यह शक्तिमाला इस प्रकार से कही जा रही है।।७-८।।

श्रीविद्यायास्तु—

अनामामूलमारभ्य प्रादक्षिण्यक्रमेण च।
मध्यमामूलपर्यन्तं दश पर्वेषु सञ्जपेत् ॥९॥

किन्तु श्रीविद्या उपासना के सम्बन्ध में कहा गया है कि अनामिका के मूल से प्रारम्भ करके प्रदक्षिण क्रम से मध्यमा के मूल-पर्यन्त दश पर्व से जप करे।।९।।

मुण्डमालातन्त्रे—

मध्यमाया अनामाया मूलाग्रञ्च द्वयं द्वयम्।
कनिष्ठायाश्च तर्जन्यास्त्रयं पर्व महेश्वरि ॥१०॥

अनामा मध्यमायाश्च मेरुः स्याद् द्वितयं शुभम्।
प्रादक्षिण्यक्रमाद् देवि! जपेत् त्रिपुरसुन्दरीम्॥११॥

भगवान् मुण्डमाला तन्त्र में कहते हैं कि हे महेश्वरि! मध्यमा तथा अनामिका के मूल तथा अग्र भाग के दो-दो पर्व, कनिष्ठा तथा तर्जनी के तीन-तीन पर्व से शक्तिमन्त्रों की करमाला होती है। अनामिका तथा मध्यमा के शेष बचे एक-एक पर्व को शुभ मेरु कहा गया है। हे देवि! प्रदक्षिणा क्रम से इन दशों पर्व द्वारा भगवती त्रिपुरसुन्दरी का जप करना चाहिये।।१०-११।।

अत्राप्यधिकाष्टजपः शक्तिमाला कल्पयेत्। तन्त्रान्तरे—

अङ्गुलीर्न वियुञ्जीत किञ्चिदाकुञ्चिते तले।
अङ्गुलीनां वियोगाच्च छिद्रेण स्रवते जपः॥१२॥

यहाँ भी जो अधिक आठ संख्या है (जैसे १०८ में ८, १००८ में ८) इनका जप ऊपर लिखे अनुसार करे। अन्य तन्त्र में करमाला से जप के नियम के सम्बन्ध में कहते हैं कि करतल को किञ्चित् सिकोड़े; परन्तु उँगलियाँ एक-दूसरे से दूर न हों। यदि अंगुली एक-दूसरे से सटी नहीं रहेंगी तो उस बीच के छिद्र से जप का क्षरण होगा।।१२।।

अङ्गुलाग्रे च यज्जप्तं यज्जप्तं मेरुलङ्घने।
पर्वसन्धिषु यज्जप्तः तत्सर्वं निष्फलं भवेत्।
जपसंख्या तु कर्त्तव्या नासंख्यातं जपेत् सुधीः॥१३॥

उँगलियों के अग्र भाग से किया जप, मेरु को लांघकर किया जप, पर्वसन्धि से गिना गया जप निष्फल हो जाता है। सुधी साधक जपसंख्या रख कर जप करे। बिना संख्या के जप न करे।।१३।।

हृदये हस्तमारोप्य तिर्यक् कृत्वा कराङ्गुलीः।
आच्छाद्य वाससा हस्तौ दक्षिणेन सदा जपेत्॥१४॥

हृदय पर हाथ रखकर हाथ की उँगलियों को टेढ़ा करके उन्हें दो हाथ के वस्त्र से आच्छादित करके दाहिने हाथ की उँगलियों से जप करना चाहिये।।१४।।

अथ मालाभेदाः

सनत्कुमारतन्त्रे—

क्रमोत्क्रमगतैर्माला मातृकार्णैः क्षमेरुकैः।
सबिन्दुकैः साष्टवर्गैरन्तर्यजनकर्मणि॥१५॥

अब माला के विषय में कहा जा रहा है। सनत्कुमार तन्त्र के अनुसार आन्तर पूजा में अनुलोम तथा विलोमगत बिन्दुयुक्त क्षमेरुक अष्ट वर्ग के साथ मातृका वर्णसमूह द्वारा अक्षमाला अथवा वर्णमाला होती है। इसमें 'क्ष' ही इस माला का मेरु है।।१५।।

वर्गाश्च तन्त्रान्तरे—

वर्गाश्चादि कू चू टू तू पू यू शू वोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः।

अस्यार्थः—षोडशस्वरसमुदायः कादयः पञ्च पञ्च यादयश्चत्वारः शादयश्चत्वारः इत्यष्टौ वर्गाः। नात्र लवर्गस्य सम्भवस्तदेकदेशस्य क्षकारस्य मेरुत्वात्। तथा च अकारादिचरमलकारान्तमातृकावर्णानां सविन्दुमेकैकं विचिन्त्य एकैकधा मन्त्रं मनसा जप्त्वा पुनर्लकारादकारपर्यन्तमेकैकं सबिन्दुकं विचिन्त्य मन्त्रमेकैकधा मनसा जपेदिति शतजपं निष्पाद्य प्रत्येकमष्टौ वर्गान् सबिन्दुनेकैकशो विचिन्त्य मन्त्रमेकैकधा मनसा जपेदित्यष्टोत्तरशतजपः सिध्यति। एवं जपान्तरेऽप्यूह्यम्। मेरुभूतः क्षकारोऽपि सबिन्दुर्ध्येयः मालाघटकवर्णत्वादिति ।।१६।।

अन्य तन्त्र में वर्ग का नाम कहते हैं। वर्ग है—अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग तथा शवर्ग। यह आठ वर्ग है। इसका अर्थ है कि १६ स्वर का समुदाय, कवर्ग के ५, चवर्ग के ५, टवर्ग के ५, तवर्ग के ५, पवर्ग के ५, यवर्ग के ४, शवर्ग के ४—इस प्रकार ये आठ वर्ग हैं। क्ष मेरु है। इस प्रकार अ से ल पर्यन्त को प्रत्येक के ऊपर बिन्दु लगाकर इनका चिन्तन करे। अर्थात् एक बार इनका बिन्दुयुक्त जप करे। जैसे अ को अं, आ को आं—इस प्रकार बिन्दुयुक्त करके लं पर्यन्त जप करे। यह अनुलोम जप हुआ। अब ल को बिन्दुयुक्त लं चिन्तन करके लं से एक-एक जपता हुआ अ को बिन्दुयुक्त करके वहाँ जप समाप्त करे। यह एक जप हुआ। इस प्रकार से १०० बार जप करके प्रत्येक अष्टवर्ग के प्रत्येक वर्ग को बिन्दुयुक्त करके एक-एक बार जपे। यह आठ जप हुआ। इस प्रकार पहले का १०० तथा यह आठ, सब मिलाकर १०८ जप सम्पन्न हो जाता है। ऐसे ही अन्य जप में भी करना चाहिये। मेरुयुक्त 'क्ष' को भी 'क्षं' रूप से ध्यान करे; क्योंकि यह भी माला का घटक वर्ण है।।१६।।

यत्तु तन्त्रसारे—अधिकाष्टजपो अष्टवर्गान्त्यवर्णैः सानुस्वारैरुक्तम्। तन्न युक्तम्, अष्टवर्गैरित्यस्यानन्वयात्। अन्तर्यजनेत्युपलक्षणम् ।।१७।।

तन्त्रसार में कहते हैं कि (१०० के पश्चात् १०८ करने के लिये) यह जो अधिक ८ का जप है, उसे अनुस्वारयुक्त अष्टवर्ग के अन्त्य वर्ण द्वारा करे। लेकिन यह

समीचीन नहीं है; क्योंकि 'अष्टवर्ग' पद का अन्वय नहीं होगा। 'अन्तर्यजन' पद बाह्य पूजा का भी उपलक्षण है।।१७।।

नारदवचनात्—

सबिन्दुं वर्णमुच्चार्य पश्चान्मन्त्रं जपेद् बुधः।
वर्णमाला समाख्याता अनुलोमविलोमतः ॥१८॥

बाह्य पूजनादि में भी वर्णमाला से जप किया जा सकता है। नारद का वचन है कि पण्डित साधक बिन्दुयुक्त मातृकावर्ण का उच्चारण करके मन्त्र-जप करे। अकार से 'क्ष' पर्यन्त प्रत्येक वर्ण का अनुलोम-विलोम ध्यान करके मन्त्र-जप करे। इसे वर्णमाला जप कहा जाता है।।१८।।

प्रकारान्तरं विशुद्धेश्वरतन्त्रे—

अनुलोमविलोमेन वर्गाष्टकविभेदतः।
मन्त्रेणाऽन्तरितान् वर्णान् वर्णेनाऽन्तरितान् मनून्।
कुर्याद् वर्णमयीं मालां सर्वतन्त्रप्रकाशिनीम् ॥१९॥

विशुद्धेश्वर तन्त्र में प्रकारान्तर से कहा गया है कि उपरोक्त आठ वर्गों के अन्तर्गत अनुलोम-विलोमरूप से पठित अक्षरादि में से प्रत्येक वर्ण को मन्त्र द्वारा तथा मन्त्रों को वर्णों के द्वारा व्यवहित करके समस्त तन्त्रों में प्रकाशमाना वर्णमयी माला करे।।१९।।

अथ मालिनीविजये सूत्रनियमः—

अन्तर्विद्रुमभासमानभुजगी सुप्रोतवर्णोज्ज्वला-
मारोहप्रतिरोहतः शतमयीं वर्गाष्टकाष्टोत्तरम् ॥२०॥

इति।

अब मालिनीविजय तन्त्रोक्त अक्षमाला का सूत्रनियम कहते हैं। अन्तर में मूंगा (प्रवाल) के समान भासमाना कुण्डलिनी देह में ग्रथित वर्णसमूह द्वारा उज्ज्वला है। वह आरोह (अनुलोम) तथा प्रतिरोह (विलोम) में १०० वर्णों के पश्चात् वर्गाष्टक के आठ वर्णोत्तर (अर्थात् १०० के पश्चात् आठ) में १०८ रूप से सन्निविष्टा है, यह चिन्तन करे।।२०।।

●

बाह्यपूजायां मालानिर्णयः

तन्त्रे—

पद्मबीजादिभिर्माला बहिर्योगे शृणुष्व ताः।
रुद्राक्षशङ्खपद्माक्षपुत्रजीवकमौक्तिकैः ॥१॥
स्फाटिकैर्मणिरत्नैश्च सुवर्णैर्विद्रुमैस्तथा।
राजतैः कुशमूलैश्च गृहस्थस्याक्षमालिका ॥२॥

अब बाह्य पूजा में माला का निर्णय बतलाते हैं। तन्त्र में कहते हैं कि बहिर्याग में पद्मबीजादि द्वारा जो माला बनती है, उसे सुनो। रुद्राक्ष, कमलबीज, पुत्रजीवक, मोती, स्फटिक, मणिरत्न, सुवर्ण, विद्रुम, रजत तथा कुशा की जड़ से गृहस्थ की अक्षमाला बनती है।।१-२।।

अङ्गुल्या गणनादेकं पर्वणाष्टगुणं भवेत्।
पुत्रजीवैर्दशगुणं शतं शङ्खैः सहस्रकम् ॥३॥
प्रवालैर्मणिरत्नैश्च दश साहस्रकं स्मृतम्।
तदेव स्फाटिकैः प्रोक्तं मौक्तिकैर्लक्षमुच्यते ॥४॥

अंगुलि द्वारा गणना करके जप करने से एकगुना (जितना किया उतना ही) फल होता है। उंगली के पर्व द्वारा गणना करके जप से आठगुना, पुत्रजीवा की माला से दसगुना, शंख की माला से सौगुना, मूँगे की माला से हजारगुना, मणिरत्न माला तथा स्फटिक माला से दस हजार गुना, मोती की माला से गणना करके जप करने से एक लाखगुना फल होता है।।३-४।।

पद्माक्षैर्दशलक्षं स्यात् सौवर्णैः कोटिरुच्यते।
कुशग्रन्थ्या कोटिशतं रुद्राक्षैः स्यादनन्तकम्।
सर्वैर्विरचिता माला नृणां मुक्तिफलप्रदा ॥५॥

कमलगट्टे की माला से जपगणना द्वारा जप करने से दस लाखगुना, सुवर्णमाला से करोड़गुना फल होगा। कुशग्रन्थि की माला से सौ करोड़ गुना फल तथा रुद्राक्ष से जपगणना द्वारा जप करने से अनन्तगुना फल होता है।।५।।

अत्र शङ्खः कम्बूः। कालिकापुराणे—

रुद्राक्षैर्वा यदि जपेदिन्द्राक्षैः स्फाटिकैस्तथा।
नान्यन्मध्ये प्रयोक्तव्यं पुत्रजीवादिकञ्च यत्॥६॥
यद्यन्यत् तु प्रयुज्यन्ते मालायां जपकर्मणि।
तस्य कामञ्च मोक्षञ्च ददाति न प्रियङ्करी॥७॥

यहाँ शङ्ख है कम्बु। कालिकापुराण के अनुसार यदि रुद्राक्ष, इन्द्राक्ष (भद्राक्ष) तथा स्फटिक माला से जप करते हैं तब उनके दानों के बीच उपरोक्त पुत्रजीवादि के दाने न गूँथें। जप कर्म में प्रयुक्त माला में यदि कुछ और के दाने गूंथते हैं, तब मन्त्रदेवता साधक को काम तथा मोक्ष नहीं प्रदान करते।।६-७।।

जपसंख्यागणननियमः

रुद्रयामले—

नाक्षतैर्हस्तपर्वैर्वा न धान्यैर्न च पुष्पकैः।
न चन्दनैर्मृत्तिकया जपसंख्यान्तु कारयेत्॥८॥

अब जपसंख्या-गणना का नियम कहते हैं। रुद्रयामल के अनुसार अक्षत, उँगली के पर्व, धान्य, पुष्प, चन्दन तथा मिट्टी द्वारा जपसंख्या की गणना नहीं करनी चाहिये।।८।।

लाक्षा कुशीतं सिन्दूरं गोमयञ्च करीषकम्।
विलोड्य गुटिकां कृत्वा जपसंख्यान्तु कारयेत्॥९॥
जन्मान्तरे जायते स वेदवेदाङ्गपारगः।
मिश्रीभावं ततो याति चण्डालैः पापकर्मभिः॥१०॥

लाक्षा (लाख), रक्तचन्दन, सिन्दूर, गोबर, करीषक (शुद्ध गोबर की भस्म) की गुटिका बनाकर जपसंख्या की गिनती करनी चाहिये। ऐसा करने वाला व्यक्ति अगले जन्म में वेदवेदांग में पारंगत होकर जन्म लेता है। तत्पश्चात् वह अपने पापों द्वारा चाण्डाल से मिश्रभाव प्राप्त करता है।।९-१०।।

तथा स्फाटिकैन्द्राक्षरुद्राक्षैः पुत्रजीवसमुद्भवैः।
सुवर्णमणिभिः सम्यक् प्रवालैरथवाऽब्जजैः॥११॥
अक्षमाला प्रकर्त्तव्या देवी-प्रीतिकरा परा।
जपेदुपांशुं सततं कुशग्रन्थ्याथ पाणिना॥१२॥

इसी प्रकार और भी कहा गया है कि स्फटिक, भद्राक्ष तथा रुद्राक्ष द्वारा पुत्रजीवा

की गुटिका, सुवर्णगुटिका, प्रवाल तथा शंख की गुटिका से उत्तम तथा देवी भगवती को प्रसन्न करने वाली माला बनाये। इस अक्षमाला से कुशग्रन्थि अथवा हाथ के द्वारा मन ही मन जप करना चाहिये।।११-१२।।

प्रवालैरथवा कुर्यादष्टाविंशतिबीजकैः।
पञ्चपञ्चाशता वापि न न्यूनैर्नाधिकैश्च वा ॥१३॥

मूंगा (प्रवाल) की माला बनाये। अथवा २८ बीजों द्वारा अथवा पाँच बीजों की माला बनाये। इससे कम अथवा अधिक संख्यक बीजों द्वारा माला न बनाये।।१३।।

कामनाभेदे तु तत्रैव—

पद्माक्षैर्विहिता माला शत्रूणां नाशिनी मता।
कुशग्रन्थिमयी माला सर्वपापप्रणाशिनी ॥१४॥

कामनाभेद से यहाँ कहा गया है कि कमलगट्टे से विरचित माला शत्रुनाशिनी होती है। कुशग्रन्थिमयी माला समस्त पाप का नाश करने वाली होती है।।१४।।

पुत्रजीवफलैः क्लृप्ता कुरुते पुत्रसम्पदम्।
निर्मिता रुप्यमणिभिर्यजमानेप्सितप्रदा।
प्रवालैर्विहिता माला प्रयच्छेद् विपुलं धनम् ॥१५॥

पुत्रजीव के फल द्वारा रचित माला पुत्र तथा सम्पदा प्रदान करती है। रौप्य मणि (चाँदी की गुटिका) द्वारा निर्मित माला यजमान को अभीष्ट फल प्रदान करती है। मूंगे की माला से जप करने फल विपुल धन प्राप्त होता है।।१५।।

भैरवीविद्यायान्तु वाराहीतन्त्रे—

सुवर्णमणिनिर्मालां स्फाटिकीं शङ्खनिर्मिताम्।
प्रवालैरेव कुर्यात् पुत्रजीवं विवर्जयेत्।
पद्माक्षञ्चैव रुद्राक्षमिन्द्राक्षञ्च विशेषतः ॥१६॥

भैरवी विद्या के विषय में वाराही तन्त्र में कहा गया है कि सुवर्ण की गुटिका द्वारा, स्फटिक, शंख की गुटिका द्वारा अथवा मूंगे की माला बनाये। पुत्रजीवा के फल की माला न बनाये। विशेषतः कमलगट्टा, रुद्राक्ष अथवा भद्राक्ष की माला बनाये।।१६।।

कुर्यादिति पूर्वतरेणान्वयः, त्रिपुरामन्त्रजपादौ तु तन्त्रराजे—

रक्तचन्दनमाला तु भोगदा मोक्षदा भवेत् ॥१७॥

'कुर्यात्' पद का अन्वय पूर्वतर माला के साथ होगा। त्रिपुरामन्त्र-जपादि के विषय में तन्त्रराज में कहा गया है कि रक्तचन्दन की माला भोगप्रदा तथा मोक्षप्रदा होती है।।१७।।

तथा—

वैष्णवे तुलसीमाला गजदन्तैर्गणेश्वरे ।
त्रिपुराया जपे शस्ता रुद्राक्षै रक्तचन्दनैः ॥१८॥

यह भी कहा गया है कि विष्णुमन्त्र में तुलसी काष्ठ की माला, गणेशमन्त्र में हाथी-दाँत की माला एवं त्रिपुरामन्त्र में रुद्राक्ष तथा रक्तचन्दन की माला फलदायक होती है।।१८।।

मुण्डमालायाम्—

श्मशानघुस्तूरैर्माला ज्ञेया धूमावतीविधौ ।
नराङ्गुल्यस्थिभिर्माला ग्रथिता सर्वकामदा ॥१९॥
नाड्या संग्रथनं कार्यं रक्तेन वाससा तथा ।
सदा गोप्या प्रयत्नेन जनन्या जारवत् प्रिये ॥२०॥

मुण्डमालातन्त्र में कहा गया है कि धूमावती के जप में श्मशान में उगे धतूरा की माला फलदायक होती है। मनुष्य की उँगली के हड्डियों की माला सर्वकामप्रदा है। ब्रह्मनाड़ीगत चित्रिणी नाड़ी द्वारा अथवा लाल धागे से इस माला को पिरोना चाहिये। भगवान् कहते हैं कि हे प्रिये! जैसे व्यक्ति अपनी माँ के उपपति के विषय में (अपनी बदनामी न फैले, इस कारण) किसी को भी नहीं बताता, वैसे ही इसे भी सबसे गोपनीय रखना चाहिये।।१९-२०।।

नक्षत्रविद्यादौ तु—

अकस्माद् विहिता सिद्धिर्महाशङ्खाख्यमालया ।

इयमेव रहस्यमाला।

पञ्चाशन्मणिभिर्माला निर्मिता सर्वसिद्धिदा ।

तथा—

महाशङ्खेऽप्यशक्तश्चेत् स्फाटिक्या मालया जपेत् ॥२१॥

नक्षत्रविद्या के विषय में कहा गया है कि महाशंख की माला से अकस्मात् (अति शीघ्रता से) सिद्धि मिलती है। इसे रहस्यमाला भी कहते हैं। ५० मणि द्वारा निर्मित माला सर्वसिद्धि देती है। और भी कहते हैं कि जो महाशङ्ख की माला न बना सके, वह स्फटिक की माला से जप करे।।२१।।

मुण्डमालायाम्—

अन्योन्यसमरूपाणि नातिस्थूलकृशानि वै ।
कीटादिभिरदुष्टानि न जीर्णानि नवानि वै ॥२२॥

मुण्डमाला में कहते हैं कि माला की गुटिका सभी बराबर हो, वह अति स्थूल या अत्यन्त छोटी न हो। कीटादि द्वारा खोखली न की गई हो, नूतन हो।।२२।।

गौतमीये—

पञ्चाशल्लिपिभिर्माला विहिता सर्वकर्मसु ।
अकारादि क्षकारान्ता अक्षमाला प्रकीर्त्तिता ॥२३॥
क्षार्णं मेरुमुखं तत्र कल्पयेन्मुनिसत्तम! ।
अनया सर्वविद्यानां जपः सर्वसमृद्धिदः ॥२४॥

गौतमीय तन्त्र में कहते हैं कि ५० वर्ण द्वारा रचित माला समस्त कर्म में विहित है। 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त वर्णमाला को अक्षमाला कहा गया है। हे मुनिसत्तम! उस अक्षमाला का 'क्ष' मेरुमुख है, यह कल्पना करे। इस अक्षमाला द्वारा समस्त विद्या का जप सभी प्रकार की समृद्धि देता है।।२३-२४।।

चामुण्डातन्त्रे—

नित्यं जपं करे कुर्यान्न तु काम्यमबोधनात् ।
काम्यमपि करे कुर्यान्मालाभावे हि सुन्दरि ॥२५॥

चामुण्डातन्त्र में कहते हैं कि २५ मणि द्वारा रचित माला से मोक्ष मिलता है। ३० मणि द्वारा रचित माला से धन की सिद्धि होती है। कामनाहेतु जप करमाला (उँगलियों की गणना) द्वारा न करे। माला यदि नहीं है, तब ही काम्य जप करमाला से (मजबूरी में) कर सकते हैं।।२५।।

गौतमीये—

पञ्चविंशतिभिर्मोक्षं त्रिंशद्भिर्धनसिद्धये ।
सर्वार्थाः सप्तविंशत्या पञ्चदशाभिचारके ॥२६॥

गौतमीय तन्त्र में कहते हैं कि २५ मणि द्वारा रचित माला पर जप करने से मोक्ष मिलता है। ३० मणि द्वारा निर्मित माला से धनसिद्धि तथा २७ मणि की माला से सर्वार्थ- सिद्धि मिलती है। अभिचार कृत्य-हेतु १५ मणि की माला विहित है।।२६।।

पञ्चाशद्भिः काम्यसिद्धिः स्यात्तथा चतुरुत्तरैः ।
अष्टोत्तरशतैः सर्वा सिद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥२७॥

५४ मणि की माला से कामना-सिद्धि होती है। मनीषी गण १०८ मणि द्वारा रचित माला से समस्त सिद्धि-प्राप्ति की बात कहते हैं।।२७।।

●

मालासंस्कारः

अथ मालासंस्कारः। स चावश्यकः। यथा यामले—

अप्रतिष्ठितमालाभिर्मन्त्रं जपति यो नरः।
सर्वं तद्विफलं विद्यात् क्रुद्धो भवति चण्डिका ॥१॥

अब मालासंस्कार कहते हैं। यह आवश्यक है। जैसा यामल में कहा गया है कि जो मनुष्य असंस्कृत माला से जप करता है, उसका समस्त प्रयास विफल होता है और भगवती चण्डिका क्रुद्ध हो जाती है।।१।।

चण्डिकेत्युपलक्षणम्। आगमकल्पद्रुमे—

भूतशुद्ध्यादिकं पूजां समाप्य तत्र पूजयेत्।
गणेशसूर्यविष्णवीशान् दुर्गाञ्चावाह्य मन्त्रवित् ॥२॥

'चण्डिका' पद समस्त देवताओं का उपलक्षण है। आगमकल्पद्रुम ग्रन्थ में कहा गया है कि मन्त्र का ज्ञाता साधक भूतशुद्धि आदि करके माला की पूजा करे। उस माला से गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव तथा दुर्गा का आवाहन करके पूजन करे।।२।।

पञ्चगव्ये ततः क्षिप्त्वा हसौर्मन्त्रेण मन्त्रवित्।
तस्मादुत्तोल्य तां मालां स्वर्णपात्रे निधाय च ॥३॥
पयोदधिघृतक्षौद्रशर्कराद्यैरनुक्रमात्।
तोयधूपान्तरैः कृत्वा पञ्चामृतविधिं बुधः।
क्रमादत्रैव संस्थाप्य स्नापयेच्छीतलैर्जलैः ॥४॥

तदनन्तर मन्त्र का ज्ञाता साधक उस माला को पञ्चगव्य में डालकर 'हसौः' मन्त्र से उसे अभिमन्त्रित करे। तत्पश्चात् पञ्चगव्य से उस माला को निकालकर स्वर्णपात्र में उसे उसे रखकर जल तथा धूप के मध्य में (जल भरे तथा धूप जलाये) करके दुग्ध, घृत, मधु तथा शर्करादि द्वारा पञ्चामृत में माला को रखकर साधक क्रमशः उससे स्नान कराये और अन्त में जल से स्नान कराये।।३-४।।

ततश्चन्दनसद्गन्धकस्तूरीकुङ्कुमादिभिः।
तामालिप्य हंसौर्मन्त्रमष्टोत्तरशतं जपेत् ॥५॥

तस्यां जपेदित्यर्थः।

तदनन्तर चन्दन, सुगन्ध, कस्तूरी तथा कुंकुम द्वारा उस माला को सम्यक् प्रकार से लिप्त करके 'हंसौः' मन्त्र का १०८ बार जप करना चाहिये। यहाँ जपेत् का अर्थ है कि उसी माला से जप करे।।५।।

तस्यां नवग्रहांश्चैव दिक्पालांश्च प्रपूजयेत्।
ततः सम्पूज्य च गुरुं गृह्णीयान्मालिकां शुभाम्।।६।।

उस माला से नवग्रह तथा दिक्पाल गण की पूजा करनी चाहिये। इसके पश्चात् गुरु की पूजा करके उस शुभकरी माला को ग्रहण करे।।६।।

तन्त्रान्तरे—

जीर्णे सूत्रे पुनः सूत्रं ग्रथयित्वा शतं जपेत्।
प्रमादात् पतिता हस्ताच्छतमष्टोत्तरं जपेत्।
जपेन्निषिद्धसंस्पर्शे क्षालयित्वा यथोदितम्।।७।।

पञ्चगव्यादिना प्रक्षाल्याष्टोत्तरशतं जपेदित्यर्थः। छिन्नेऽप्यष्टोत्तरशतजपः करभ्रष्टत्वछिन्नत्वयोस्तुल्यत्वात्।।८।।

तन्त्रान्तर में कहा गया है कि माला का सूत्र कमजोर हो जाने पर नये सूत्र द्वारा माला गूंथकर १०० बार गुरुमन्त्र जपे। (अथवा हसौः) निषिद्ध दूषित वस्तु से स्पर्श होने पर उसी प्रकार से (पंचगव्यादि से) प्रक्षालन करके जप (१०८ बार) करे। 'जपेत्' का अर्थ है—पंचगव्य द्वारा प्रक्षालन; तदनन्तर १०८ जप। माला टूट जाने पर १०८ बार जप करना चाहिये। करभ्रष्ट तथा छिन्न दोनों का तुल्य अर्थ है।।७-८।।

मालाधारणेऽङ्गुलिनियमस्तु तन्त्रे—

तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन शत्रोरुच्चाटनं भवेत्।
अङ्गुष्ठमध्यमायोगान्मन्त्रसिद्धिः सुनिश्चिता।।९।।
अङ्गुष्ठानामिकायोगादुच्चाटोच्छेदने मते।
ज्येष्ठाकनिष्ठायोगेन शत्रूणां नाशनं मतम्।।१०।।

अब माला-धारण में किस उँगली का प्रयोग हो—वह कहते हैं। तन्त्र के अनुसार तर्जनी तथा अंगूठे से माला धारण करके जप करने से शत्रुक्षय तथा अंगुष्ठ एवं मध्यमा के योग से माला धारण करके जप करने से मन्त्रसिद्धि सुनिश्चित होती है। अंगूठा तथा अनामिका से माला धारण करके जप से उच्चाटन तथा विद्वेषण सिद्ध होता है। ज्येष्ठा तथा कनिष्ठिका से माला धारण से शत्रु का नाश कहा गया है।।९-१०।।

वैशम्पायनसंहितायाम्—

अङ्गुष्ठमध्यमाभ्याञ्च चालयेन्मध्यमध्यतः ।
तर्जन्या न स्पृशेदेनां मुक्तिदो गणनक्रमः ॥११॥

वैशम्पायनसंहिता में कहते हैं कि अंगूठा तथा मध्यमा द्वारा मध्य पर्व द्वारा माला चलाये। तर्जनी से माला का स्पर्श न करे। यह गणनाक्रम मुक्तिदायक होता है।।११।।

●

सर्वसम्मतमालासंस्कारः

अथः सर्वसम्मतो मालासंस्कारः यथा सनत्कुमारीये—

कार्पाससम्भवं सूत्रं धर्मकर्मार्थमोक्षदम्।
तच्च विप्रेन्द्र कन्याभिर्निर्मितञ्च सुशोभनम्।।१।।
यद्वा शुक्लं तथा कृष्णं पट्टसूत्रमथापि वा।
शान्तिवश्याभिचारेषु मोक्षैश्वर्यजयेषु च।।२।।
शुक्लं रक्तं तथा पीतं कृष्णं वर्णेषु च क्रमात्।
सर्वेषामेव वर्णानां रक्तं सर्वेप्सितप्रदम्।।३।।

वर्णा ब्राह्मणादयः।

अब सर्वसम्मत मालासंस्कार कहा जाता है। जैसा सनत्कुमारीय में कहते हैं कि कपास के सूत्र से माला गूँथने से वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्षप्रद हो जाती है। ऐसा सूत्र श्रेष्ठ ब्राह्मण की कन्या द्वारा निर्मित हो और सुशोभन हो। यह काला अथवा श्वेत हो सकता है अथवा पट्टसूत्र भी हो सकता है (पटुआ का सूत)। शान्ति, वश्य, अभिचार, मोक्ष, ऐश्वर्य तथा जय में यथाक्रम से शुक्ल, रक्त, पीत तथा कृष्ण वर्ण सूत्र होना चाहिये। अथवा लाल रंग का सूत्र समस्त कार्य में सभी वर्णों के लिये अभीष्टप्रद है।।१-३।।

तथा—

त्रिगुणं त्रिगुणीकृत्य ग्रथयेच्छिल्पशास्त्रतः।
एकैकं मातृकावर्णं सतारं प्रजपन् सुधीः।।४।।
मणिमादाय सूत्रेण ग्रथयेन्मध्यमध्यतः।
ब्रह्मग्रन्थिं विधायेत्थं मेरुञ्च ग्रन्थिसंयुतम्।
ग्रथयित्वा पुरो मालां ततः संस्कारमारभेत्।।५।।

मणियों (माला के दानों) को सूत्र के द्वारा दो दानों के बीच में गांठ दे-देकर माला गूँथना चाहिये। मेरु को भी ऐसी ही ब्रह्मगांठ से युक्त करे। पहले माला को गूँथकर तब उसका संस्कार करना चाहिये।।४-५।।

कालिकापुराणे—

एको मेरुस्तत्र देयः सर्वेभ्यः स्थूलसम्भवः।
आद्यं स्थूलं ततस्तस्मान्न्यूनं न्यूनतरं तथा ॥६॥
विन्यसेत् क्रमतस्तस्मात् सर्पाकारा हि सा यतः।
ब्रह्मग्रन्थियुतं कुर्यात् प्रतिबीजं यथास्थितम्।
अथवा ग्रन्थिरहितं दृढ़रज्जुसमन्वितम् ॥७॥

कालिकापुराण में कहा गया है कि सभी दानों में मोटे एक दाने को मेरु माने। माला का प्रथम दाना स्थूल, तत्पश्चात् वाला दाना उसकी तुलना में छोटा उसके बाद का दाना उससे छोटा हो। इससे माला सर्पाकारा होगी। एक के बाद एक पहले से छोटा दाना हो। प्रत्येक दो दानों के बीच में ब्रह्मगाँठ देना होगा। ग्रन्थि (गाँठरहित) दृढ़ डोरी द्वारा माला को गूंथना चाहिये।।६-७।।

त्रिरावृत्याऽथ मध्येनैवार्द्धावृत्त्याऽन्तदेशतः।
ग्रन्थिः प्रदक्षिणावर्त्तैः स ब्रह्मग्रन्थिसंज्ञकः ॥८॥
नात्मना योजयेन्मालां नामन्त्रो योजयेन्नरः।
दृढं सूत्रं नियुञ्जीत जप्ये त्रुट्येति नो यथा ॥९॥

नात्मनेति। तथा च स्वयं मालां न ग्रथ्नीयादित्यर्थः। कस्यचिन्मते मूलविद्यया ग्रथयेत् ॥१०॥

सूत्र के (तागा के) अन्त में दक्षिणावर्त्त अर्ध आवृत्ति द्वारा जो गाँठ बनती है, वह ब्रह्मग्रन्थि है। व्यक्ति को अपनी माला स्वयं नहीं गूंथनी चाहिये। जप के समय माला का सूत्र न टूट जाय, इसलिये मजबूत सूत्र से माला गूंथनी चाहिये।

'नात्मना' का अर्थ है कि अपनी माला स्वयं न गूंथे। किसी का मत है कि मूल विद्या का जप करते हुये माला को गूंथा जाय।।८-१०।।

यथा एकवीरकल्पे—

मातृकावर्णतो ग्रन्थिं विद्यया वाथ कारयेत्।
सुवर्णादिगुणैर्वापि ग्रथयेत् साधकोत्तमः ॥११॥

जैसा कि एकवीर कल्प में कहते हैं कि साधकश्रेष्ठ मातृका वर्ण के द्वारा अथवा अपने द्वारा उपास्य विद्या (के जप) द्वारा माला को गूंथे। अथवा सुवर्णादि सूत्र द्वारा माला ग्रथित करे।।११।।

ब्रह्मग्रन्थिं ततो दद्यान्नागपाशमथापि वा।
कवचेनाऽवबध्नीयान्मालां ध्यानपरायणः ॥१२॥

माला में ब्रह्मगाँठ अथवा नागपाश गाँठ देना चाहिये। ध्यान में लगा व्यक्ति कवच मन्त्र (हुं) का जप करते हुये माला के सूत्रद्वय को बाँधे (अर्थात् ब्रह्मगांठ लगावे)।।१२।।

सर्वशेषं ततो मेरुं सूत्रद्वयसमन्वितम्।
ग्रथयेत् तारयोगेन बध्नीयात् साधकोत्तमः ॥१३॥

सबसे अन्त में साधकों में श्रेष्ठ सूत्रद्वय से समन्वित मेरु को प्रणव का जप करते हुये गाँठ बाँधे। भगवान् कहते हैं कि हे देवेशि! इस प्रकार से माला गूंथ कर उसकी प्रतिष्ठा करे।।१३।।

नागपाशो बन्धनविशेषः। गौतमीये—

मुखे मुखञ्च संयोज्य पुच्छे पुच्छञ्च योजयेत्।
गोपुच्छसदृशी माला यद्वा सर्पाकृतिर्भवेत्।
एवं निर्माय मालां वै शोधयेन्मुनिसत्तम ॥१४॥

नागपाश एक बन्धन-विशेष है। गौतमीय तन्त्र में कहते हैं कि माला के एक दाने से दूसरे दाने के मुख को युक्त करके पुच्छ (पूंछ) से पुच्छ को युक्त करिये। इससे माला की आकृति गोपुच्छ के समान होगी अथवा सर्पाकृति भी हो सकती है। हे मुनिगणों में श्रेष्ठ! इस प्रकार से माला का निर्माण करके उसका शोधन करना चाहिये।।१४।।

अथ मालासंस्कारप्रयोगः

स्वस्तिं वाच्य ॐ अद्येत्यादि अमुकदेवतामुकमन्त्रजपार्थममुकमाला-संस्कारमहं करिष्ये, इति संकल्प्य अश्वत्थपत्रनवकेन पद्माकारं कल्पयित्वा तन्मध्ये मातृकां मूलमन्त्रञ्चोच्चरन् मालां स्थापयित्वा—

ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमः।
भवेऽभवेऽनादिभवे भजस्व मां भवोद्भवाय नमः॥

इति सद्योजातमन्त्रेण पञ्चगव्येन क्षालयित्वा तेनैव सज्जलेनापि क्षाल-येत् ॥१५॥

अब मालासंस्कार प्रयोग कहा जाता है। स्वस्तिवाचन करने के उपरान्त ऊपर मूल में लिखे 'ॐ अद्येत्यादि' के साथ मास, पक्ष, तिथि प्रभृति का उल्लेख करके 'अमुक देवता (देवता का नाम) अमुक मन्त्र जपार्थं (मन्त्र को कहे) अमुकमाला (माला किस बीज की है, वह कहे) संस्कारमहं करिष्ये'—यह संकल्प लेना चाहिये। अब ९ पीपल के पत्ते लेकर उनके द्वारा कमल के आकार की रचना करके उसमें मातृका तथा मूल मन्त्र का उच्चारण करके वहाँ माला स्थापित करनी चाहिये। तदनन्तर ऊपर लिखे 'ॐ

सद्योजात' आदि मन्त्र पढ़ते हुये माला का प्रक्षालन पञ्चगव्य से करे। इसके उपरान्त निर्मल सुगन्धित जल से माला को स्नान कराये।।१५।।

पञ्चगव्यप्रमाणन्तु गौतमीये—

पलमात्रं दुग्धभागं गोमयं तावदिष्यते।
घृतञ्च पलमात्रं स्याद् गोमूत्रं तोलकद्वयम् ॥१६॥
दधि प्रसृतिमात्रं स्यात्पञ्चगव्यमिदं स्मृतम्।
अथवा पञ्चगव्यानां समानो भाग इष्यते ॥१७॥

गौतमीय तन्त्र में पञ्चगव्य की मात्रा इस प्रकार कही गयी है—दुग्ध एक पल, गोमूत्र एक पल, घृत एक पल, गोमूत्र दो तोला, दधि प्रसृति मात्र। यह पञ्चगव्य है। अथवा सभी को समान भाग का लेकर पञ्चगव्य बनाये।।१६-१७।।

पञ्चगव्यानां पृथगभिमन्त्रणं न तान्त्रिकम्। ततः ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमः रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमः बलविकरणाय नमः बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः इति वामदेवमन्त्रेण चन्दनागुरुगन्धाद्यैर्घर्षयेत् ॥१८॥

पञ्चगव्य का तन्त्र में पृथक् से अभिमन्त्रण नहीं कहा गया है। अब ॐ वामदेवाय नमः से लेकर मनोन्मनाय नमः तक वामदेव मन्त्र को कहे, जो ऊपर मूल में लिखा है। इस मन्त्र से माला पर चन्दन, अगरु, कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्य घिसे।।१८।।

ततः 'ॐ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः। सर्वतः सर्व सर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः' इति अघोरमन्त्रेण धूपेन धूपयेत्। ततः 'ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयादि'ति तत्पुरुषमन्त्रेण चन्दनादिना लेपयेत् ॥१९॥

तदनन्तर ऊपर लिखे अघोरमन्त्र को जपते हुये माला को धूप से धूपित करना चाहिये। इसके पश्चात् ऊपर मूलोक्त 'ॐ तत्पुरुषाय' इत्यादि मन्त्र द्वारा माला पर चन्दनादि का लेप करे।।१९।।

ततः 'ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा। शिवो मेऽस्तु सदाशिवोम्' इति पञ्चममन्त्रेण प्रत्यक्षं शतं शतमभिमन्त्रयेत्सकृत्सकृद्वा समुदायमालायां वा शतजपः ॥२०॥

तदनन्तर 'ॐ ईशानः सर्वविद्यानां' इत्यादि ऊपर लिखे मन्त्र द्वारा (इस पञ्चम ईशान मन्त्र द्वारा) माला के प्रत्येक दाने को १०० बार अभिमन्त्रित करना चाहिये

अथवा एक बार ही अभिमंत्रित करे। अथवा इसी माला पर १०० बार जप इसी मन्त्र का करे।।२०।।

यथा गौतमीये—

अश्वत्थपत्रनवकैः पद्म कारन्तु कारयेत्।
तन्मध्ये स्थापयेन्मालां मातृकां मन्त्रमुच्चरन्।
क्षालयेत् पञ्चगव्येन सद्योजातेन सज्जलैः ॥२१॥

मन्त्रं मूलमन्त्रम्, मूलमित्यपि क्वचित् पाठः। सद्योजातेन सद्योजाताख्यमन्त्रेण। एवं परत्रापि सर्वत्र ॥२२॥

जैसा गौतमीय तन्त्र में कहा गया है कि ९ पीपल के पत्ते के द्वारा एक पद्म के आकार का पात्र बनाकर मातृका एवं मन्त्र का उच्चारण करते हुये उसमें माला को रखना चाहिये। सद्योजात मन्त्र जपते हुये पञ्चगव्य से माला का प्रक्षालन करे तथा मन्त्र को जपते हुये निर्मल सुगन्धित जल से माला का लेप करना चाहिये।

मन्त्र = मूलमन्त्र, जिस देवता का मन्त्र जपना हो, उसका मन्त्र। किसी-किसी प्रति में मन्त्र के स्थान पर मूलं लिखा मिलता है। सद्योजातेन—सद्योजात नामक मन्त्र द्वारा। तत् पुरुष मन्त्र द्वारा गन्ध-लेपन करे। अन्य सभी स्थल पर यही विधि जाने।।२१-२२।।

तथा—

चन्दनागुरुगन्धाद्यैर्वामदेवेन घर्षयेत्।
धूपयेत्तामघोरेण लिम्पेत्तत्पुरुषेण तु ॥२३॥
मन्त्रयेत् पञ्चमेनैव प्रत्येकन्तु शतं शतम्।
मेरुञ्च मन्त्रयेच्चैव मनुना शतमेव हि।

यथा—

प्रत्येकं मन्त्रयेन्मन्त्री पञ्चमेन सकृत् सकृत् ॥२४॥

और भी कहा गया है कि चन्दन अगरु गन्धादि द्रव्य द्वारा पहले लिखे गये वामदेव मन्त्र पढ़कर माला का घर्षण करे। अघोर मन्त्र से माला को धूप दिखाये। तत्पुरुष मन्त्र से माला पर सुगन्धि द्रव्य का लेपन करे। श्लोक २० में कहे गये पञ्चम ईशान मन्त्र से माला के प्रत्येक दाने को १ अथवा १०० बार अभिमंत्रित करे। अथवा मन्त्रज्ञ साधक इसी मन्त्र का जप माला पर करे।।२३-२४।।

गौतमीये—समुदायमालामधिकृत्य 'पञ्चमेन तु सूक्तेन शतान्यूनेन मन्त्रयेदि'ति वचनात् समुदायमालायां वा शतजपः। ततो मालात्वेन मालायाः

प्राणप्रतिष्ठां तत्र कृत्वा मूलमन्त्रेण तां मालां पूजयित्वा तत्रावाह्य मूलदेवतां पूजयेत् ॥२५॥

गौतमीय तन्त्र में पूरी माला को विषय बनाकर कहा है कि पञ्चम ईशान मन्त्र द्वारा कम से कम १०० बार अभिमन्त्रित करे। इस वचन के अनुसार पूरी माला पर इस मन्त्र का १०० जप करना चाहिये। तत्पश्चात् इस माला की प्राणप्रतिष्ठा करके मूल मन्त्र से माला की पूजा करके इसी माला पर मूल देवता (मूल मन्त्र के देवता) का आवाहन करके पूजन करना चाहिये।।२५।।

यथा सनत्कुमारसंहितायाम्—

संस्कृत्यैवं बुधो मालां तत्प्राणांस्तत्र योजयेत्।
मूलमन्त्रेण तां मालां पूजयेद् द्विजसत्तम।

तत् प्राणान् = मालाप्राणान्। तत्र = मालायाम् ॥२६॥

विद्वान् साधक माला का इस प्रकार शोधन करके उसे प्राण-प्रतिष्ठित करे। हे द्विजश्रेष्ठ! मूल मन्त्र द्वारा माला की पूजा करे। ऐसा सनत्कुमार संहिता में कहा गया है। तत् प्राणान् = माला के प्राण को (प्राणप्रतिष्ठा), तत्र = माला में।।२६।।

तथा—

तत्रावाह्य यजेद् देवं यथा विभवविस्तरैः।

जैसा तन्त्र में कहा है तदनुसार वहाँ देवता का आवाहन करके अपने धन-सामर्थ्य के अनुसार उनका पूजन करे।

वाराहीतन्त्रे—

ॐ माले माले महामाले सर्वतत्त्वस्वरूपिणी।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव ॥२७॥
मायाबीजादिकं कृत्वा रक्तपुष्पैः प्रपूजयेत्।

तथा च मायाबीजमुच्चार्य एतन्मन्त्रं पठित्वा रक्तपुष्पैर्मालां पूजयेत्। एतच्च शक्तिविषये। वैष्णवे तु यामले ॥२८॥

वाराही तन्त्र में कहा गया है कि हे माले! माले! हे महामाले! तुम सर्वतत्त्वस्वरूपिणी हो। तुममें चतुर्वर्ग रहता है। अतः तुम मुझे सिद्धि प्रदान करो। माला पर मायाबीज (ह्रीं) का उच्चारण करके लाल पुष्प द्वारा माला का पूजन करे। यह शक्तिमन्त्र-विषयक है; किन्तु वैष्णवमन्त्र के सम्बन्ध में यामल में अलग से कहा गया है।।२७-२८।।

वाग्भवञ्च तथ लक्ष्मीमक्षादिमालिकान्ततः।
ङेन्तां हृदयवर्णान्तां मन्त्रेणानेन पूजयेत् ॥२९॥

वाग्भव (ऐं), लक्ष्मी (श्रीं), चतुर्थी विभक्तियुक्त हृदय वर्णान्त (नम:) अक्षमालिका, सब मिलाकर 'ऐं श्रीं अक्षमालिकायै नम:' यह मन्त्र अक्षमाला की पूजा के लिये (वैष्णव लोगों के लिये) कहा गया है।।२९।।

तेन ऐं श्रीं अक्षमालिकायै नमः इति मन्त्रेण पूजयेत्। ततः प्रथमादितो मेरुपर्यन्तं मेर्वादितः प्रथमपर्यन्तञ्च मूलमन्त्रेण समुदितमातृकावर्णैश्च प्रत्येकमभिमन्त्रयेत्। ततो मालाया देवतात्वसिद्धिकामोऽष्टोत्तरशतं जुहुयात्। श्रुवशेषमाज्यं प्रतिवारं मालायां क्षिपेत्। होमाशक्तौ द्विगुणतया षोडशाधिकशतद्वयजपः। ततस्त्वं माले सर्वदेवानामिति वक्ष्यमाणमन्त्रेण नमस्कृत्य मालां गोपयेत्। ततो गुरवे दक्षिणां दद्यात् ॥३०॥

'ऐं श्रीं अक्षमालिकायै नम:' मन्त्र से माला पूजन किया जाय। तदनन्तर प्रथम दाने से लेकर मेरु-पर्यन्त और पुन: मेरु से लेकर माला के प्रथम दाने तक समुदित मातृका वर्ण द्वारा प्रत्येक दाने को अभिमन्त्रित करना चाहिये। तत्पश्चात् माला के देवता को सिद्धिकामी करने के लिये १०८ बार हवन किया जाय। स्रुवा से (आहुति के बाद बचे घृत का) बचे घृत को माला पर छोड़े। जो हवन करने में अक्षम है, उसे उक्त मन्त्र का २१६ बार जप करना चाहिये। तदनन्तर 'त्वं माले सर्वदेवानां' इस मन्त्र से नमस्कार करके माला को गुप्त स्थान पर रखे। इसके पश्चात् गुरु को दक्षिणा प्रदान करे।।३०।।

यथा वा वाराहीतन्त्रे—

मन्त्रयेन् मूलमन्त्रेण क्रमेणोत्क्रमयोगतः।
तथैव मातृकावर्णैमन्त्रयेत्तान्तु मन्त्रवित् ॥३१॥

जैसे कि वाराहीतन्त्र में कहते हैं कि मन्त्र को जानने वाला साधक माला को अनुलोम तथा विलोम रूप से (प्रथम दाने से मेरु तक = अनुलोम, मेरु से प्रथम दाने तक = विलोम) मूल मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करना चाहिये। ऐसा ही मातृका के वर्णों से भी करना चाहिये।।३१।।

योगिनीहृदये—

होमकर्म ततः कुर्याद् देवताभावसिद्धये।

योगिनीहृदय में कहते हैं कि पूजा के पश्चात् माला में देवभाव की सिद्धि-हेतु होम करना चाहिये।

अष्टोत्तरशतं हूत्वा सम्पाताज्यं विनिक्षिपेत्।
होमकर्मण्यशक्तश्चेद् द्विगुणं जपमाचरेत् ॥३२॥

योगिनीहृदय तन्त्र के अनुसार १०८ आहुति देकर आहुति से बचे घृत को माला पर छिड़कना चाहिये। जो होम में असमर्थ है, वह २१६ बार जप करे।।३२।।

देवताभावो देवतात्वं मालायामित्यर्थः। तथा तत्रैव—

नान्यमन्त्रं जपेन्मन्त्री कम्पयेन्न विधूनयेत्।
कम्पनात् सिद्धिहानिः स्याद्धूननं बहुदुःखदम् ।।३३।।

देवताभाव = माला में देवतात्व। योगिनीहृदय में कहा गया है कि मन्त्रज्ञ साधक जिस मन्त्र से देवता के माला का संस्कार करे, उस माला से अन्य देवताओं का जप न करे। जपकाल में अंगों को हिलाना तथा कम्पन नहीं करे। अन्यथा सिद्धि की हानि होती है। माला का विधूनन दुःखप्रद होता है।।३३।।

शब्दे जाते भवेद् रोगः करभ्रष्टा विनाशकृत्।
छिन्ने सूत्रे भवेन्मृत्युस्तस्माद् यत्नपरो भवेत्।
जपान्ते कर्णदेशे वा उच्चदेशेऽथवा न्यसेत् ।।३४।।

जपकाल में माला जपने का (रगड़ का) शब्द रोगप्रद होता है। माला का हाथ से फिसलना विनाशकारी है। जपकाल में माला के टूटने से मृत्युभय होता है। अतः यहाँ विशेष यत्न आवश्यक है। जप समाप्त होने पर माला को कान पर अथवा किसी ऊँचे स्थान पर रखना चाहिये।।३४।।

त्वं माले सर्वदेवानां सर्वसिद्धप्रदा मता।
तेन सत्येन मे सिद्धिं देहि मातर्नमोऽस्तु ते ।।३५।।
इत्युक्त्वा परिणम्याथ गोपयेद् यत्नतो गृही।
जीर्णे सूत्रे पुनर्मालां ग्रथयित्वा शतं जपेत् ।।३६।।

हे माले! तुम समस्त देवताओं की सिद्धि की हेतु हो। यह सत्य है, अतः मुझे भी सिद्धि प्रदान करो। हे माते! तुमको मेरा नमस्कार! यह कहकर माला को प्रणाम करके यत्नपूर्वक उसे गोपनीयता से रखे। तागा जीर्ण हो जाने पर पुनः गूंथ कर १०० जप करना चाहिये।।३५-३६।।

अत्र धूननमूर्ध्वोऽधश्चालनम्। कम्पनं तिर्यक्चालनमिति भेदः ।।३७।।

ऊपर कहे गये 'विधूनन' का अर्थ है—मस्तक को ऊपर-नीचे हिलाना। कम्पन—अगल-बगल मस्तक हिलाना। यही दोनों में भेद है।।३७।।

अथ रुद्राक्षमाहात्म्यम्। यथा कालिकापुराणे—

मालाबीजेषु सर्वेषु रुद्राक्षो मत्प्रियात् प्रियः ।।३८।।

अनन्तर रुद्राक्ष की महिमा कहते हैं। कालिकापुराण के अनुसार समस्त मालाओं में रुद्राक्ष मुझे सर्वाधिक प्रिय है।।३८।।

अन्यत्र—

एकवक्त्रः शिवः साक्षाद् ब्रह्महत्यां व्यपोहति।
द्विवक्त्रा हरगौरी स्याद् गोवधाद्यघनाशकृत्॥३९॥

अन्यत्र कहते हैं कि एकमुख रुद्राक्ष ब्रह्महत्या का नाशक एवं शिवस्वरूप है। द्विमुख हरगौरी है, जो गोवध के पाप का नाश करता है।।३९।।

त्रिवक्त्रोऽग्निस्त्रिजन्मोत्थपापराशिं प्रणाशयेत्।
चतुर्वक्त्रः स्वयं ब्रह्मा नरहत्यां व्यपोहति॥४०॥

तीन मुखी रुद्राक्ष अग्निस्वरूप है, जो तीन जन्म के पापों का नाश करता है। चतुर्मुखी ब्रह्मा-स्वरूप है, जिससे नरहत्या पाप का नाश हो जाता है।।४०।।

पञ्चवक्त्रस्तु कालाग्निरगम्याभक्ष्यपापनुत्।
षड्वक्त्रस्तु गुरुः साक्षाद् गर्भहत्यां शमेदघम्।
सप्तवक्त्रस्त्वनन्तः स्यात् स्वर्णस्तेयाद्यनुत् सदा॥४१॥

इत्यादि।

पञ्चमुख कालाग्निरूप है, जो अगम्यागमन तथा अभक्ष्य-भक्षणरूप पाप का नाशक है। षड्मुख रुद्राक्ष साक्षात् कार्त्तिकेयस्वरूप है और गर्भहत्या-जनित पापनाशक है। सप्तमुख रुद्राक्ष अनन्तस्वरूप है; इससे स्वर्णहरण जैसे पाप का नाश होता है। इत्यादि।।४१।।

नरहत्यां मनुष्यवधम्। अगम्येति अगम्यागमनाऽभक्ष्यभक्षणजन्यपापक्षय-कारकमित्यर्थः। गर्भहत्येति। गर्भहत्या गर्भघातेन यदघम्, तत् शमेत् शमयेदित्यर्थः॥४२॥

नरहत्या = मनुष्यवध। अगम्या = अगम्यागमन तथा अभ्यक्ष्य भक्षण-जनित पापक्षयकारक। गर्भहत्या = गर्भघात, यह इस पाप का नाश करता है।।४२।।

तथा—

शिखायां हस्तयोः कण्ठे कर्णयोश्चापि यो नरः।
रुद्राक्षं धारयेद् भक्त्या शैवं लोकमवाप्नुयात्॥४३॥

और भी कहते हैं कि जो शिखा, दोनों हाथ, कण्ठ तथा दोनों कानों में भक्तियुक्त हो रुद्राक्ष धारण करता है, उसे शिवलोक की प्राप्ति होती है।।४३।।

रुद्राक्षं देहसंस्थे तु कुक्कुरो म्रियते यदि।
सोऽपि रुद्रपदं याति किं पुनर्मानवा गुह ।।४४।।

देह में रुद्राक्ष पहने हुये मरने से कुत्ता भी रुद्र पद प्राप्त करता है। फिर मानव यदि पहने तो बात ही क्या है।।४४।।

सप्तविंशतिरुद्राक्षमालया देहसंस्थया।
यः करोति नरः पुण्यं सर्वं कोटिगुणं भवेत् ।।४५।।

जो २७ रुद्राक्षों की माला पहनता है, वह जो भी शुभ कर्म करता है, वह करोड़ों गुणित हो जाता है।।४५।।

यो ददाति द्विजातिभ्यां रुद्राक्षं भुवि षण्मुखः।
तस्य प्रीतो भवेद् रुद्रः स्वपदञ्चापि यच्छति ।।४६।।

इति रुद्राक्षमाहात्म्यम्

भगवान् कहते हैं कि हे कार्त्तिकेय! जो मानव ब्राह्मणों को रुद्राक्ष-दान करता है, रुद्र उस पर कृपा करके उसे अपना पद प्रदान करते हैं।।४६।।

अथ रुद्राक्षसंस्कारः

विना मन्त्रेण यो धत्ते रुद्राक्षं भुवि मानवः।
स याति नरकान् घोरान् यावदिन्द्रश्चतुर्दश ।।४७।।

अब रुद्राक्ष का संस्कार कहते हैं। जो मनुष्य बिना मन्त्र से अभिमन्त्रित किये रुद्राक्ष धारण करता है, वह १४ इन्द्रों के कालपर्यन्त नरक में वास करता है।।४७।।

अतएव रुद्राक्षसंस्कार आवश्यकः इत्युच्यते—

अतएव रुद्राक्ष का संस्कार आवश्यक है। इसलिये यह कहा जा रहा है—

पञ्चगव्यपञ्चामृताभ्यां प्रक्षाल्य तदुपरि नमः शिवायेति पञ्चाक्षरमन्त्रं, ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्, उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्यो-र्मुक्षीय मामृतादिति त्र्यम्बकमन्त्रं, ॐ हौं अघोरे ॐ हौं घोरे हुं घोरतरे ॐ हैं ह्रीं सर्वतः सर्वेभ्यो नमस्ते रुद्ररूपिणे। हुं इति मन्त्रञ्च जप्त्वा यथायथमन्त्रैः प्रत्येकं शतं शतं सकृद् वाऽभिमन्त्रयेत् ।।४८।।

पञ्चगव्य तथा पंचामृत से रुद्राक्ष का प्रक्षालन करके उस पर नमः शिवाय, ॐ त्र्यम्बकं यजामहे इत्यादि ऊपर लिखे मन्त्र, ॐ हौं अघोरे इत्यादि ऊपर लिखे मन्त्र का जप करके प्रत्येक रुद्राक्ष को यथायथ मन्त्रों द्वारा १०० बार अथवा एक बार अभिमन्त्रित करे।।४८।।

एकवक्त्रादिक्रमेण मन्त्रो यथा—१. ॐ ऊं भृशं नमः, २. ॐ ऊं नमः, ३. ॐ ह्रां नमः, ४. ॐ ह्रीं नमः, ५. ॐ हुं नमः, ६. ॐ हूं नमः, ७. ॐ ऊं हुं हूं नमः इत्यादि ॥४९॥

अथ क्रमेण धारणमन्त्राः—१. ॐ ऐं, २. ॐ श्रीं, ३. ॐ धुं धुं, ४. ॐ हां हूंः, ५. ॐ ह्रीं, ६. ॐ ऐं ह्रीं, ७. ॐ ह्रीं इत्यादि ॥५०॥

इति रुद्राक्षसंस्कारः

एक मुख से लेकर सात मुख तक के रुद्राक्ष का अभिमन्त्रण मन्त्र ऊपर मूल में कहा गया है। उन मन्त्रों से अभिमन्त्रित करे।।४९।।

(अष्टमुख से १४ मुखी तक के रुद्राक्ष अति दुर्लभ हैं; अतः ग्रन्थकार ने उनका मन्त्र नहीं लिखा है। तन्त्रसार के अनुसार आठमुखी से लेकर १४ मुखी रुद्राक्ष का मन्त्र यहाँ दिया जा रहा है। आठमुखी—ॐ सं हुं नमः, नौमुखी—ॐ हुं नमः, दशमुखी—ॐ हं नमः, एकादशमुखी—ॐ ह्रीं नमः, द्वादशमुखी—ॐ ह्रीं नमः, तेरहमुखी—ॐ क्षां क्षौं नमः, चौदहमुखी—ॐ नमो नमः)।

अब इनके धारण का मन्त्र मुख के अनुसार कहा जा रहा है। एक से सात मुख तक के धारण का मन्त्र ऊपर श्लोक संख्या ५० में लिखा है। आठमुखी से १४ मुखी तक का मन्त्र तन्त्रसार के अनुसार दिया जा रहा है; अष्टमुखी धारण मन्त्र—ॐ रुं रं, नौमुखी—ॐ ह्रां, दशमुखी—ॐ ह्रीं, ग्यारहमुखी—ॐ श्रीं, बारहमुखी—ॐ हां ह्रीं, तेरहमुखी—ॐ क्षौं स्त्रौं एवं चौदहमुखी—का धारण मन्त्र—ॐ डं मां।।५०।।

इस प्रकार रुद्राक्ष संस्कार कहा गया है।

अथ महाशङ्खमालासंस्कारः

तन्त्रे—

आनीय छिन्नशीर्षन्तु नरस्य पतितस्य च।
तुलसीगोमयौ स्पृष्ट्वा तथा गङ्गोदकेन च ॥५१॥
जवनब्राह्मणान्यस्य तत् कार्यं साधकैर्जनैः।
अस्पृष्टं तच्च जानीयाच्छालग्रामशिलादिभिः ॥५२॥

अब महाशङ्खमाला का संस्कार कहते हैं। तन्त्र में कहा गया है कि तुलसी, गोमय (गोबर) तथा गंगाजल द्वारा जिसे छूआ न गया हो और जो यवन अथवा ब्राह्मण न हो, ऐसे अन्य मनुष्य का कटा शिर लाकर साधक महाशंख माला का निर्माण करके उसका संस्कार करे। वह शालग्राम शिला आदि से अस्पृष्ट (छूआ हुआ न) होना चाहिये।।५१-५२।।

गुरुं ततः प्रणम्यादौ संस्कुर्याज्जपमालिकाम्।
कृतनित्यक्रियो मन्त्री मालाञ्च क्रमतो यजेत् ॥५३॥

तदनन्तर नित्यक्रियादि कर चुका साधक प्रथमतः गुरु को प्रणाम करके जपमाला का संस्कार करे। क्रमानुसार उसकी अर्चना करे।।५३।।

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं क्लीं हुं फट् स्वाहा इति मन्त्रेण सप्तधाऽभिमन्त्र्य चषकपात्रादौ निक्षिपेत्। ततः आवाहन्यादिमुद्रया देवीं तत्रावाह्य सपरिवारामुपचारैः सम्पूज्यताम्। वमिति धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्य कवचेनावगुण्ठ्य मत्स्यमुद्रयाच्छाद्य देवीरूपाणां तामक्षमालां ध्यायन् बिन्दुप्रक्षेपं कुर्यात् ॥५४॥

ऊपर लिखे मन्त्र से सात बार माला को अभिमन्त्रित करके चषकपात्र में रखे। तदनन्तर आवाहनी आदि मुद्राओं द्वारा इष्ट देवी का आवाहन उस माला में करके उपचारों से देवी की पूजा उनके परिवार के साथ करे। इस माला का 'वं' मन्त्र से धेनुमुद्रा करके अमृतीकरण करे। कवच मन्त्र (हुं) द्वारा माला का अवगुण्ठन तथा मत्स्यमुद्रा द्वारा उसका आच्छादन करना चाहिये। इस अक्षमाला का देवीरूप ध्यान करते-करते उसमें अर्घबिन्दु का प्रक्षेपण करे।।५४।।

तत्र मन्त्रः—ॐ ह्रीं स्वाहा। ॐ श्रीं स्वाहा। ॐ हुं स्वाहा। ॐ फट् स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं स्वाहा। ॐ ह्रीं हुं स्वाहा। ॐ ह्रीं फट् स्वाहा। इति सप्तधा अर्घ्यबिन्दुप्रक्षेपणं कृत्वा कस्तूरीधूपागुरुभिर्धूपयित्वा चषकादिपात्रादुत्तार्य मालामभिमन्त्रयेत्। तत्र मन्त्रः—ॐ ह्रीं श्रीं महावज्रिणि महाघोररूपे कर्कशमहास्थिमण्डले प्रविश सर्वसिद्धिः प्रयच्छ। ॐ हूं श्रीं ह्रीं स्वाहा। ॐ महाकपालिनि महाघोररूपे स्वाहा। ॐ ॐ ह्रीं श्रीं ह्रीं हुं फट् स्वाहा। इत्यनेनाभिमन्त्र्य दूर्वाक्षतैरभ्यर्च्य कामबीजेनोद्दीपनं कृत्वा उपचारैरभ्यर्च्य मातृकामन्त्रेण सन्दीप्य हुंकारेण वेष्टयेत्। ततः ॐ हुं ह्रीं हुं ॐ हुं श्रीं हुं ॐ हुं हुं ॐ हुं फट् हुं ॐ हुं स्वाहा, ॐ हुं ह्रीं ॐ हुं श्रीं हुं ॐ हुं हुं ॐ हुं फट् ॐ हुं फट् हुं ॐ हुं स्वाहा। ॐ हुं महायोगिनि त्रिभुवनतारिणि महाशङ्खास्थिमालामध्ये निवासं कुरु सर्वसिद्धिं देहि सुरामांसोपहारान् गृह्ण गृह्ण गृह्णापय गृह्णापय ह्रीं श्रीं हुं फट् स्वाहा इत्यनेन यथोचितद्रव्येण बलिं दत्वा संहारमुद्रया देवीं विसृज्य निभृतस्थाने मालां स्थापयेत् ॥५५॥

अर्घ्य बिन्दु का प्रक्षेप करे। सात मन्त्र से सात बार अर्घ्य बिन्दु का प्रक्षेप करे। मन्त्र इस प्रकार से है—ॐ ह्रीं स्वाहा, ॐ श्रीं स्वाहा, ॐ हुं स्वाहा, ॐ फट्

स्वाहा, ॐ ह्रीं श्रीं स्वाहा, ॐ ह्रीं हुं स्वाहा, ॐ ह्रीं फट् स्वाहा। तदनन्तर कस्तूरी, धूप तथा अगरु द्वारा माला को धूपित करके चषक से उठाकर ॐ ह्रीं श्रीं महावज्रिणि महाघोररूपे कर्कशमहास्थिमण्डले प्रविश सर्वसिद्धिं प्रयच्छ। ॐ हुं श्रीं ह्रीं स्वाहा, ॐ महाकपालिनि महाघोररूपे स्वाहा। ॐ ॐ ह्रीं श्रीं ह्रीं हुं फट् स्वाहा मन्त्र द्वारा माला को अभिमन्त्रित करके दूर्वा तथा अक्षत से उसकी अर्चना करके उसका 'क्लीं' बीज से उद्दीपन करे। उपचार द्वारा अर्चना करके मातृकामन्त्र से संदीपन करके 'हुं' द्वारा उसका वेष्टन करना चाहिये। तदनन्तर 'ॐ हुं ह्रीं हुं ॐ हुं श्रीं हुं ॐ हुं हुं ॐ हुं फट् हुं ॐ हुं स्वाहा ॐ हुं महायोगिनि त्रिभुवनतारिणि महाशंखास्थिमालामध्ये निवासं कुरु सर्वसिद्धिं देहि सुरामांसोपहारान् गृह्ण गृह्ण गृह्णापय गृह्णापय ह्रीं श्रीं हुं फट् स्वाहा' मन्त्र से यथोचित द्रव्य की बलि प्रदान करके संहार मुद्रा प्रदर्शित कर देवी का विसर्जन करे तथा एकान्त स्थान पर माला को स्थापित करे।।५५।।

बिन्दुप्रक्षेप इत्यत्र बिन्दुः सुराबिन्दुः। स च प्रतिनिधिनापि सिध्यति। एवं शोधयित्वा पश्चान्मालासंस्कारविधानेनापि संस्कारः करणीय इति तान्त्रिकाः ॥५६॥

बिन्दुप्रक्षेप अर्थात् सुरा (मदिरा) की बूँदें छिड़कना। वह प्रतिनिधि द्वारा भी सिद्ध होता है। (अर्थात् मदिरा के स्थान पर जो द्रव्य विहित (अनुकल्प) हो, उसे ही छिड़का जा सकता है)। इस प्रकार से मालासंस्कार विधि से महाशंख माला का संस्कार करे—ऐसा तान्त्रिकों का कथन है।।५६।।

तन्त्रे—

अकस्माद् विहिता सिद्धिर्महाशङ्खस्य मालया।
महाशङ्खमयी माला ज्ञेया तारामनौ प्रिये ॥५७॥

तन्त्र में कहते हैं कि इस माला से शीघ्र सिद्धि मिलती है। भगवान् कहते हैं—हे प्रिये! महाशंखमयी माला का प्रयोग तारामन्त्रों में होता है।।५७।।

तथा—

नरास्थिघटिता माला महाशङ्खा प्रकीर्त्तिता। इति।
अत्रास्थिपदेन गण्डदेशास्थिग्राह्यमिति साधकाः ॥५८॥

इति महाशङ्खमालासंस्कारः

तन्त्र में और भी कहा गया है कि मनुष्य की अस्थि से बनी माला ही महाशंखमाला है। यहाँ अस्थि पद द्वारा गले की अस्थि गृहीत है, यह साधकों का कथन है।।५८।।

अथ यन्त्रसंस्कारः

कृतनित्यक्रियः स्वस्तिवाच्य संकल्पं कुर्यात्। ॐ अद्येत्यादि अमुकगोत्रः श्री अमुकदेवशर्मा अमुकदेवतापूजार्थं अमुकदेवतायन्त्रसंस्कारमहं करिष्ये इति सङ्कल्प्य गुरुपूजां कृत्वा पञ्चगव्यमानीय हौं इति मन्त्रेणाऽष्टोत्तर-शतमभिमन्त्र्य प्रणवेण यन्त्रं तत्र क्षिपेत्।तत उत्तोल्य स्वर्णादिपात्रे स्था-पयित्वा पञ्चामृतमानीय हौं इति मन्त्रेणाष्टोत्तरशतमभिमन्त्र्य मूलमन्त्रमुच्चार्य तेन स्थापयेत् ॥५९॥

अब यन्त्र-संस्कार कहा जा रहा है। नित्य क्रिया करके साधक स्वस्तिवाचनादि करके ऊपर लिखा 'ॐ अद्येत्यादि' से लेकर 'करिष्ये' तक संकल्प मन्त्र का उच्चारण करके सङ्कल्प करे। तत्पश्चात् गुरुपूजन करके पञ्चगव्य लाकर 'हौं' मन्त्र द्वारा पञ्चगव्य को १०८ बार अभिमन्त्रित करके उस पञ्चगव्य को 'ॐ' कहते हुये यन्त्र पर छोड़ना चाहिये। तदनन्तर उस यन्त्र को पञ्चगव्य से उठाकर स्वर्णादि के पात्र में स्थापित करे। अब पञ्चामृत को 'हौं' मन्त्र से १०८ बार अभिमंत्रित करके मूल मन्त्र का उच्चारण करते हुये उस पञ्चामृत से यन्त्र को स्नान कराये।।५९।।

तत्र क्रमः—प्रथमं दुग्धेन स्थापयित्वा पुनर्जलेन स्थापयित्वा धूपं दद्यात्। एवं दध्ना घृतेन मधुना शर्करया च। ततो मूलमुच्चार्य पुनः केवलदुग्धेन, ततः शीतलजलेन सुगन्धेन चन्दनेन कस्तूरी-कुङ्कुमेन च स्नापयेत्। स्नानं सर्वत्र मूलेन ॥६०॥

स्नान का क्रम इस प्रकार से है—प्रथमतः दूध से, तत्पश्चात् जल से स्नान कराकर धूप देना होगा। इसी प्रकार क्रमशः दधि, घृत, मधु, शर्करा द्वारा स्नान कराये। तदनन्तर मूल मन्त्र का उच्चारण करके केवल दुग्ध द्वारा, तत्पश्चात् सुगन्धित जल द्वारा, इसी प्रकार क्रमशः चन्दन, कस्तूरी एवं कुंकुम से स्नान कराये। तत्पश्चात् पञ्चकषाय-युक्त जल से भरे आठ कलशों द्वारा स्नान कराये। अन्त में शुद्ध जल से स्नान कराना चाहिये। सर्वत्र स्नानार्थ मूल मन्त्र का जप करे।।६०।।

ततो यन्त्रमुत्तोल्य वाससा जलमपनीय स्वर्णादिपात्रे संस्थाप्य कुशाग्रेण यन्त्रं स्पृष्ट्वा, ॐ यन्त्रराजाय विद्महे महायन्त्राय धीमहि तन्नो यन्त्रः प्रचोदयादित्यष्टोत्तरशतमभिमन्त्र्य प्राणप्रतिष्ठां कुर्यात्। ॐ अस्य प्राणप्रति-ष्ठामन्त्रस्य ब्रह्माविष्णुमहेश्वरो ऋषयः ऋग्यजुःसामानि छन्दांसि चैतन्यरूपा प्राणशक्तिः देवता प्राणप्रतिष्ठायां विनियोगः। ॐ आं ह्रीं क्रों यं वं रं लं वं शं षं सं हों हंसः अमुकदेवतायाः प्राणाः इह प्राणा इत्यादिक्रमेण

प्राणप्रतिष्ठां कृत्वा तत्र प्रकृतदेवतामावाह्य षडङ्गानि विन्यस्य यथाशक्त्युपचारैः सम्पूज्य षडङ्गैः सम्पूज्य च पट्टसूत्रदर्पणवस्त्रालङ्कारचामरघण्टादिकं दद्यात्। ततश्चाष्टोत्तरसहस्रं जप्त्वा शक्तश्चेद्वलिं दद्यात्। ततोऽष्टोत्तरशतं हुत्वा प्रत्याहुतिसम्पातं यन्त्रे दद्यात्। होमाशक्तौ द्विगुणजपः। ततो गुरवे तत्पुत्रादिभ्यो वा दक्षिणां दत्त्वाऽच्छिद्रमवधारयेत् ॥६१॥

तत्पश्चात् जल से यन्त्र को उठाकर वस्त्र से उसे पोंछकर स्वर्णादि के पात्र में स्थापित करना होगा। अब कुशा के अग्रभाग से यन्त्र का स्पर्श करके 'ॐ यन्त्रराजाय विद्महे महायन्त्राय धीमहि तन्नो यन्त्रः प्रचोदयात्' इस यन्त्रगायत्री का १०८ बार जप करके 'ॐ अस्य प्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा ऋषयः ऋग्यजुःसामानि छन्दांसि चैतन्यरूपा प्राणशक्तिः देवता प्राणप्रतिष्ठायां विनियोगः। ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हों हंसः अमुकदेवतायाः प्राणाः इह प्राणा' मन्त्र से यन्त्र की प्राणप्रतिष्ठा करके षडङ्ग न्यास कर यथाशक्ति यन्त्र का पूजोपचार करे। षडङ्ग द्वारा पूजा करके पट्टसूत्र, दर्पण, वस्त्र, अलंकार, चामर तथा घण्टादि प्रदान करे। तदनन्तर मूल मन्त्र का १०८ जप करके यदि समर्थ हो तो बलि प्रदान करे। तत्पश्चात् १०८ बार होम करके अन्त में यन्त्र प्रदान करे। जो होम में असमर्थ हैं, वे द्विगुण जप करें। सर्वान्त में गुरु को अथवा उनके पुत्रादि को दक्षिणा देकर देवी का विसर्जन करके अच्छिद्रावधारण करे।।६१।।

यथा रुद्रयामले—

स्नात्वा सङ्कल्पयेन्मन्त्री गुरोरर्चनमाचरेत्।
पञ्चगव्यं ततः कृत्वा शिवमन्त्रेण मन्त्रितम् ॥६२॥
तत्र चक्रं क्षिपेन्मन्त्री प्रणवेन समाकुलम्।
तस्मादुष्कृत्य तच्चक्रं स्थापयेत् स्वर्णपात्रके ॥६३॥

जैसा रुद्रयामल में कहा है कि साधक स्नानादि करके संकल्प करे। तदनन्तर गुरु की अर्चना करे, तत्पश्चात् पञ्चगव्य बनाकर उसे शिवमन्त्र से अभिमन्त्रित करना चाहिये। मन्त्रज्ञ साधक इस पञ्चगव्य को 'ॐ' का जप करते हुये यन्त्र पर छिड़के। अब उस पञ्चगव्य से यन्त्र को उठाकर स्वर्णपात्र में रखे।।६२-६३।।

पञ्चामृतेन दुग्धेन शीतलेन जलेन च।
चन्दनेन सुगन्धेन कस्तूरी-कुंकुमेन च ॥६४॥

पञ्चामृत, दूध, शीतल जल, चन्दन, सुगन्ध द्रव्य, कस्तूरी तथा कुङ्कुम द्वारा स्नान कराये।।६४।।

पयोदधिघृतक्षौद्रशर्कराद्यैरनुक्रमात् ।
तोयधूपान्तरैः कुर्यात् पञ्चामृतविधिं बुधः ॥६५॥

विद्वान् साधक यथाक्रम से दूध, दही, घृत, मधु तथा शर्करा से पञ्चामृत विधानानुसार स्नान कराये।।६५।।

हाटकैः कलशैर्देवीमष्टाभिर्वारिपूरितैः।
कषायजलसम्पूर्णैः कारयेत् स्नानमुत्तमम्।
वाससा जलमुक्तं तं स्थापयेद् हेमपीठके।।६६।।

पञ्च कषाय रसयुक्त जलपूर्ण आठ सुवर्ण कलश द्वारा देवी (यन्त्र को) को उत्तम रूप से स्नान कराये। तदनन्तर वस्त्र से पोंछकर हेमपीठ पर स्थापित करे।।६६।।

यन्त्रराजाय विद्महे महायन्त्राय धीमहि तन्नो यन्त्रः प्रचोदयात्।

स्पृष्ट्वा यन्त्रं कुशाग्रेण गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत्।
अष्टोत्तरशतं देवि! देवताभावसिद्धये।।६७।।

भगवान् कहते हैं कि हे देवि! यन्त्र का देवत्य सम्पादित करने के लिये इस यन्त्र को कुशा के अग्रभाग से स्पर्श कराकर 'यन्त्रराजाय विद्महे महायन्त्राय धीमहि तन्नो यन्त्रः प्रचोदयात्' इस यन्त्रगायत्री का १०८ बार जप करके उसे अभिमन्त्रित करे।।६७।।

गायत्र्या उक्तयन्त्रगायत्र्येत्यर्थः। देवताभावसिद्धये देवतात्वसम्पत्तये। तथा तत्रैव—

आत्मशुद्धिं ततः कृत्वा षडङ्गानि च विन्यसेत्।
तत्रावाह्य महादेवीं जीवन्यासं समाचरेत्।
उपचारैः षोडशभिर्महामुद्रादिभिः सह।।६८।।

गायत्र्या—ऊपर लिखी यन्त्रगायत्री द्वारा। देवताभावसिद्धये—देवत्व-सम्पादनार्थ। उस तन्त्र में और भी कहा गया है कि तदनन्तर आत्मशुद्धि करके षडङ्ग न्यास करे। तदनन्तर उस यन्त्र में महादेवी का आवाहन करके उसमें देवी की प्राणप्रतिष्ठा करे। तत्पश्चात् महामुद्रादि द्वारा षोडशोपचार पूजन करे।।६८।।

कृषरतुष्टधान्यादीनां मुद्रापरिभाषा; सा चाग्रे वक्ष्यते। तथा—

फलताम्बूलनैवेद्यैर्देवीं मन्त्री समर्चयेत्।
पट्टसूत्रादिकं दद्यात् स्वर्णालङ्कारमेव च।।६९।।
मुकुरं चामरं घण्टां यथायोग्यं महेश्वरि।
सर्वमेतत् प्रयत्नेन दद्याद् देव्यैः समाहितः।।७०।।

कृषर = खिचड़ी, भूजा धान आदि मुद्रा की परिभाषा है। इसे बाद में कहा जायेगा। वहाँ और भी कहा गया है कि मन्त्र का ज्ञाता साधक फल, ताम्बूल, नैवेद्य द्वारा देवी

की सम्यक् पूजा करे। पट्टसूत्र तथा वस्त्र-अलंकार प्रदान करे। भगवान् कहते हैं— हे महेश्वरि! समाहित होकर यथायोग्य दर्पण, चामर, घण्टा को यत्नपूर्वक देवी को प्रदान करे।।६९-७०।।

ततो जपसहस्रन्तु कुर्यादीप्सितसिद्धये।
बलिदानं ततः कृत्वा प्रणमेद् यन्त्रराजकम् ।।७१।।
अष्टोत्तरशतं हूत्वा सम्पाताज्यं विनिक्षिपेत्।
होमकर्मण्यशक्तश्चेद् द्विगुणं जपमाचरेत् ।।७२।।
धेनुमेकां समानीय स्वर्णशृङ्गाद्यलंकृताम्।
गुरवे दक्षिणां दद्यात्ततो देव्या विसर्जनम् ।।७३।।

तदनन्तर अभिप्रेत की सिद्धि के लिये (जो इच्छा हो, उसकी सिद्धि के लिये) १००८ बार मूल मन्त्र का जप करना चाहिये। तदनन्तर बलि देकर यन्त्रराज को प्रणाम करे।

१०८ हवन करके प्रत्याहुति से बचे घृत को यन्त्र पर छिड़कना चाहिये। यदि (अर्थाभाव से) होमकर्म न कर सके तो उस स्थिति में २१६ बार जप करे। सर्वान्त में सोने से मढी सींग की गाय, जो अलंकारयुक्त हो, गुरु को दान करे। तदनन्तर देवी का विसर्जन करे।।७१-७३।।

अथ त्रिलोहीमुद्रा

यथा तन्त्रे—

सोमसूर्याग्निरूपाः स्युर्वर्णा लोहत्रयं तथा।
रोप्यमिन्दुः स्मृतो हेमसूर्यस्ताम्रं हुताशनः ।।७४।।
लोहभागाः समुद्दिष्टाः स्वराद्यक्षरसंख्यया।
तैलौंहैः कारयेन् मुद्रामसङ्कलितसङ्गताम् ।।७५।।

अब त्रिलोही मुद्रा बतलाते हैं। तन्त्र में कहा गया है कि जैसे अकारादि वर्ण सोम-सूर्य तथा अग्निरूप हैं, वैसे ही लोहत्रय भी सोम-सूर्य-अग्निरूप कहे गये हैं। चाँदी सोमरूप, स्वर्ण सूर्यरूप तथा ताँबा अग्निरूप है।

मन्त्र के स्वरादि अक्षरों की संख्या के अनुसार उक्त तीनों लोहे का भाग कहा गया है। इन तीनों धातुओं के अलग-अलग तार को एक-दूसरे के साथ संयुक्त करके एक अंगूठी बनानी चाहिये।।७४-७५।।

शारदायाम्—

एषु स्वराः स्मृताः सौम्याः स्पर्शाः सौराः शुभोदयाः।
आग्नेया व्यापकाः सर्वे सोमसूर्याग्निदेवताः ।।७६।।

स्वराः षोडश विख्याताः स्पर्शान्ते पञ्चविंशतिः।
व्यापका दश ते कामधनधान्यप्रदायकाः ॥७७॥

शारदातिलक में कहते हैं कि इन अकारादि वर्णों से स्वर वर्ण सोमस्वरूप, स्पर्श वर्ण सूर्यस्वरूप, व्यापक वर्ण आग्नेयरूप हैं। १६ स्वरों के सम्बन्ध में सभी जानते हैं। स्पर्श वर्ण २५ हैं। व्यापक वर्ण १० हैं। सभी कामप्रद एवं धन-धान्य प्रदान करने वाले हैं।।७६-७७।।

तन्त्रे—

साग्रं सहस्रं संजप्य स्पृष्ट्वा तां जुहुयात् ततः।
तस्यां सम्पातयेन्मन्त्री सर्पिषा पूर्वसंख्यया ॥७८॥
निक्षिप्य कुम्भे तां मुद्रामभिषेकोक्तवर्त्मना।
आवाह्य पूजयेद् देवीमुपचारैः समाहितः ॥७९॥

इसी शारदातिलक में और भी कहा गया है कि उस त्रिलौह मुद्रा का स्पर्श करके १००८ बार मातृका जप करने के पश्चात् १००८ बार होम करे और होम से बचे घृत को उस मुद्रिका पर १००८ बार छिड़के। अभिषेकोक्त पूर्वकथित पद्धति से जैसे पहले अभिषेक का वर्णन है, उसी प्रकार मुद्रा को घट में रखकर समाहित चित्त से देवी का पूजन उपचारों द्वारा करे।।७८-७९।।

अभिषिच्य विनीताय दद्यात् तां मुद्रिकां गुरुः।
इयं मुद्रा क्षुद्ररोगविषज्वरविनाशिनी ॥८०॥

गुरु विनीत शिष्य का अभिषेक करके यह अंगूठी प्रदान करे। यह अंगूठी क्षुद्र रोग, विष तथा ज्वर का नाश करती है।।८०।।

व्यालचौरमृगादिभ्यो रक्षां कुर्याद् विशेषतः।
युद्धे विजयमाप्नोति धारयन् मनुजेश्वरः ॥८१॥
मन्त्रसिद्धिकरी पुंसां चतुर्वर्गफलप्रदा।
धारयन् मनुजो नित्यं देवतुल्यो भवेद् भुवि ॥८२॥

विशेषत: यह सर्प, चोर, व्याघ्रादि से रक्षा करती है। राजा इसे धारण करके युद्ध में विजय प्राप्त करते हैं। यह मनुष्य को मन्त्रसिद्धि तथा चतुर्वर्ग-रूप फल देने वाली है। इसे सदा धारण करने वाला पृथ्वी पर देवतुल्य हो जाता है।।८१-८२।।

एषामर्थः—वर्णा आकरादयः सोमसूर्याग्निरूपाः तथा लोहत्रयमपि सोमसूर्याग्निरूपम्। लोहत्रयपदेन रौप्यस्वर्णताम्राण्यत्रोच्यन्ते। सर्वज्ञतैजसं

लोहमिति निर्देशात्। अतएव त्रयाणां लोहानां समाहारस्त्रिलौहीत्युच्यते। तद्विभागमाह—रोप्यमिन्दुः स्मृतः। हेम सूर्यस्ताम्रमग्निः स्ववाद्यक्षरेति स्वरकादियादिवर्णसंख्ययेत्यर्थः। मुद्रामङ्गूरीयकम्। असङ्कलितेति। असङ्कलितामथ च संगतां कुर्यादित्यर्थः। तथा च रौप्यादिकं गुणाकारं पृथक् पृथक् कृत्वा सङ्गतां कुर्यादित्यर्थः। एषु वर्णेषु मध्ये। सौम्याः सोमनामानः अथ च सोमदेवताकाः। स्पर्शाः वर्ग्याः कादयः सौरा अथ च सूर्यदेवताकाः। यादयो व्यापकनामानः अथ च अग्निदेवताकाः। तदेवाह सोमसूर्याग्निदेवता इति ॥८३॥

इन श्लोकों का अर्थ है कि वर्णसमूह सोम, सूर्य तथा अग्निस्वरूप हैं। वैसे ही लौहत्रय भी सोम, सूर्य तथा अग्निरूप है। लोहत्रय द्वारा चाँदी, सोना तथा ताँबा कहा जाता है; क्योंकि 'समस्त तैजस लौह' यह शास्त्रनिर्देश है। अतः इन तीनों का मिश्रण त्रिलौह है। अब तीनों का विभाग बताते हैं। चाँदी सोम है। स्वर्ण सूर्य तथा ताम्र अग्नि है। स्वर वर्ण १६, कादिवर्ण २५ तथा यादिवर्ण १०—यह इनकी वर्णसंख्या है। मुद्रा = अंगूठी। असंकलित = अमिश्रित अर्थात् संयुक्त करे। एषु—वर्णसमूह में। सौम्या—सोम। स्पर्श कादि वर्ग कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, टवर्ग, पवर्ग = २५ वर्ण। इनको सौर कहते हैं अर्थात् इनका देवता सूर्य है। सोम के अन्तर्गत अकारादि १६ स्वर हैं। यादि वर्ग के १० वर्ण हैं। इनका देवता है—अग्नि। तभी 'सोम-सूर्याग्नि देवता' यहा कहा गया है।।८३।।

स्वराः कियन्तः इत्याह—स्वरा षोडश विख्याता इति। स्पर्शा इति। कादयः पञ्चविंशतिसंख्यकाः। व्यापका यादयो दश। तथा च रौप्यभागाः षोडश, स्पर्शभागाः पञ्चविंशतिः। ताम्रभागा दश इति लभ्यते ॥८४॥

स्वर कितने हैं? उत्तर है—१६। स्पर्श वर्ण = २५। व्यापक = १०। अतः त्रिलौह में चाँदी १६ भाग, स्वर्ण २५ भाग तथा ताँबा १० भाग लेना होता है।।८४।।

केचित् तु सूर्याणां द्वादशात्मकत्वात् स्वर्णभागा द्वादशेति वदन्ति। अयमेव पक्षः साम्प्रदायिकः। सौरागमेऽपि ताम्रतारसुवर्णानामर्कषोडशथेन्दुभिः। अत्र संख्यान्वयो व्युत्क्रमेण। केचित् तु सुवर्णस्याग्न्यात्मकतया दशभागमूचुः। वायवोऽत्र दश प्रोक्ता वह्नयश्च दश स्मृता इति शारदावचनात्। ताम्रस्य सूर्यात्मकत्वाद् द्वादशभागाः। अयमपि पक्षः साम्प्रदायिकः ॥८५॥

किसी के मतानुसार सूर्य द्वादश स्वरूप है। अतः स्वर्ण १२ भाग लेना चाहिये। यह साम्प्रदायिक पक्ष है। सौरागम में भी कहते हैं कि ताम्र, चाँदी तथा सुवर्ण का भाग

१२, १६ तथा १० होगा। यहाँ संख्या के अन्वय से व्युत्क्रम होगा अर्थात् सुवर्ण का भाग १०, चाँदी का १६ एवं ताँबा का १२। कोई-कोई कहते हैं कि सुवर्ण अग्निस्वरूप है। अत: १० भाग, क्योंकि वायु १० कहे गये हैं तथा अग्नि भी १० कही गयी है। यही शारदातिलक में कहा गया है। ताम्र सूर्यस्वरूप है; अत: १२ भाग—यह कथन भी साम्प्रदायिक है अर्थात् सम्प्रदायविशेष का है।।८५।।

तदुक्तं स्वच्छन्दभैरवे—

दशभागं सुवर्णस्य ताम्रस्य द्विदशन्तथा।
षड्दशं रजतस्यापि चैतल्लोहत्रयं शुभम्।।८६।।

जैसा कि स्वच्छन्दभैरव तन्त्र में कहा गया है कि सोना १० भाग, ताँबा १२ भाग तथा चाँदी १६ भाग—यह लौहत्रय शुभ होता है।।८६।।

इति शारदाटीकायां शङ्कराचार्यः। साग्रमिति साष्टकमित्यर्थः। पूर्वसंख्यया—अष्टोत्तरसहस्रसंख्यया। अभिषिच्येति। पूर्वोक्तदीक्षापद्धत्युक्तविधिना घटं संस्थाप्य तत्तत् कल्पोक्तदेवतावाहनपूजने कृत्वा साध्यमभिषिच्य तस्मै दद्यादित्यर्थः। ततो गुरवे दक्षिणां दद्यात्। क्षुद्ररोगेति। क्षुद्रः शत्रुः। रोगो व्याधिः ।।८७।।

यह शंकराचार्य ने शारदा टीका में कहा है। 'साग्रं' इस पद का साष्टक अर्थात् आठ अर्थ होगा। पूर्वसंख्यया—१००८ संख्या। अभिषिच्य = पूर्वोक्त दीक्षा पद्धति से उक्त विधि के अनुसार घट स्थापित करके उस-उस कल्प में कहे देवता का आवाहन तथा पूजन करके साध्य शिष्य का अभिषेक करके उस अंगूठी को प्रदान करे। शिष्य अब गुरु को दक्षिणा दे। क्षुद्र = शत्रु। रोग = व्याधि।।८७।।

विशेष—आदि शंकराचार्य-रचित प्रपंचसार तन्त्र को अनेक स्थल पर उपजीव्य करके शारदातिलक रचित हुआ है। यह राघवभट्ट-कृत पदार्थादर्श देखने से समझ में आयेगा। यहाँ सुधीजन यह विचार करें कि आदि शंकराचार्य द्वारा शारदातिलक की टीका सम्भव है अथवा नहीं। ये कौन से शंकराचार्य हैं?

अथैतत् प्रयोगः। तत्र प्रथमं स्वस्तिं वाच्य संकल्पं कुर्यात्—ॐ अद्येत्यादि स्वोपासितमन्त्रसिद्धिकामस्त्रिलोहीमुद्रासंस्कारमहं करिष्ये इति संकल्प्य मुद्रां स्पृष्ट्वा स्वीयमन्त्रमष्टोत्तरसहस्रं जपेत्। ततोऽग्निं संस्थाप्य ॐ अद्येत्यादि त्रिलोहीमुद्रासंस्काराङ्गकाष्टोत्तरसहस्रं शतं वा होममहं करिष्ये इति संकल्प्याष्टोत्तरं सहस्रं शतं वा जुहूयात् प्रत्याहुतिशेषं मुद्रायां क्षिपेत् ।।८८।।

अब त्रिलोही मुद्रा के संस्कार की विधि कहते हैं। सर्वाग्र में स्वस्तिवाचन तथा

ऊपर मूल में लिखा संकल्प 'ॐ अद्येत्यादि' करे। अब मुद्रा को स्पर्श करते हुये अपने उपास्य मन्त्र को १००८ बार जपे। तदनन्तर अग्नि-स्थापना करके उसी 'ॐ अद्येत्यादि' मन्त्र से १००८ अथवा १०८ होम करे। अन्त में जो घृत शेष बचे, उसे मुद्रा 'अंगूठी' पर छिड़के।।८८।।

ततः सर्वतोभद्रमण्डलं ॐ मण्डलाय नम इति गन्धपुष्पाभ्यां सम्पूज्य शालिभिः कर्णिकामध्यमापूर्य तदुपरि तण्डुलैरास्तीर्य तेषु दर्भानास्तीर्य तदुपरि साक्षतविष्टरं न्यसेत्। ततो मण्डले ॐ आधारशक्तये नमः, ॐ कूर्माय नमः इत्यादि पीठमन्त्रन्तु तत्तत्पटलोक्तं कुर्यात्, ततो मण्डल-प्रादक्षिण्येन यं धूम्रार्चिषे नमः, रं उष्मायै नमः, लं ज्वलिन्यै नमः, वं ज्वालिन्यै, शं स्फुलिङ्गिन्यै, षं सुश्रियै, सं सुरूपायै, हं कपिलायै, ळं हव्यवहायै, क्षं कव्यवहायै नमः इति वह्नेर्दश कलाः पूजयेत्। ततो दीक्षापद्धत्युक्तविधिना तत्र कुम्भं संस्थाप्य तत्र यथोक्तविधिना देवतां ध्यात्वावाह्य यथाशक्त्युपचारैः पूजयेत्। ततः कलशस्थजलेनाष्टो-त्तरशताभिजप्तेनाभिषिच्य शिष्याय मुद्रां दत्त्वा गुरवे दक्षिणां दद्यात्। शिष्यस्तु ॐ अद्येत्यादि शत्रुरोगविषज्वरविनाशव्यालचौरमृगाद्यपादान-करक्षणयुद्धादिकरणकजयमन्त्रसिद्धिचतुर्वर्गफलप्राप्तिदेवतुल्यत्वकामस्त्रि-लोहीमुद्राधारणमहं करिष्ये इति संकल्प्य बिभृयात् ।।८९।।

इसके पश्चात् सर्वतोभद्र मण्डल की पूजा 'ॐ मण्डलाय नमः' मन्त्र द्वारा गन्ध तथा पुष्पादि से करके शालि धान्य से उसकी कर्णिका का पूजन करे। उसके ऊपर चावल बिछाकर उसके ऊपर अक्षतयुक्त विष्टर स्थापित करना चाहिये। तदनन्तर उस मण्डल पर ॐ आधारशक्तये नमः, ॐ प्रकृत्यै नमः इत्यादि पीठन्यास मन्त्र से मण्डल का पूजन करे। तदनन्तर मण्डल के प्रदक्षिण क्रम से इन मन्त्रों द्वारा अग्नि की दश कला का पूजन करे—यं धूम्रार्चिषे नमः, रं उष्मायै नमः, लं ज्वलिन्यै नमः, वं ज्वालिन्यै नमः, शं स्फुलिङ्गिन्यै नमः, षं सुश्रियै नमः, सं सुरूपायै नमः, हं कपिलायै नमः, ळं हव्यवहायै नमः, क्षं कव्यवहायै नमः। तदनन्तर पहले दीक्षा पद्धति में जिस प्रकार से कुम्भ स्थापना का निर्देश है, तदनुसार कुम्भ स्थापित करके उसमें उसी विधि से देवता का ध्यान और आवाहन करे। उनकी यथाशक्ति पूजा करे। तदनन्तर १०८ बार मन्त्र से अभिमन्त्रित किये गये कलशस्थ जल के द्वारा साध्य शिष्य का अभिषेक करके गुरु उसे मुद्रा प्रदान करे। शिष्य को अब चाहिये कि गुरु को दक्षिणादि द्वारा प्रसन्न करे। इसके अनन्तर शिष्य ऊपर मूल संस्कृत में 'ॐ अद्येत्यादि' से लेकर 'महं करिष्ये' पर्यन्त संकल्प करके गुरु-प्रदत्त मुद्रा को उंगली में धारण करे।।८९।।

अथ बलिविधिः

मुण्डमालातन्त्रे—

छागे दत्ते भवेद् वाग्मी मेषे दत्ते कविर्भवेत्।
महिषे धनवृद्धिः स्यान्मृगे मोक्षफलं लभेत्॥१॥
पक्षिदाने महर्द्धिः स्याद् गोधिकायां महाफलम्॥२॥

अब बलिविधि कहते हैं। मुण्डमाला तन्त्र के अनुसार बकरे की बलि देने से वाग्मी, मेष-बलि से कवित्व-प्राप्ति, महिष-बलि से धन-वृद्धि तथा मृग से मोक्ष-प्राप्ति मिलती है। पक्षी-बलि महासमृद्धि देता है। गोधिका (गोह) की बलि देने से महाफल मिलता है।।१-२।।

तथा—

सिंहव्याघ्रनरान् दत्त्वा ब्राह्मणो नरकं व्रजेत्॥३॥

तन्त्र में कहा गया है कि सिंह, व्याघ्र तथा मनुष्य की बलि देने से ब्राह्मण को नरक की प्राप्ति होती है।।३।।

कालिकापुराणे—

स्त्रियं न दद्यात्तु बलिं दत्त्वा नरकमाप्नुयात्।
न तु त्रैमासिकान्न्यूनं पशुं दद्याच्छिवाबलिम्॥४॥
न च त्रैपक्षिकान्न्यूनं प्रदद्याद् वै पतत्रिणम्॥५॥
छिन्नलाङ्गूलकर्णादिं भग्नशृङ्गादिकं तथा।
कूष्माण्डमिक्षुदण्डञ्च मद्यमामिषमेव च॥६॥
एते बलिसमा ज्ञेयास्तृप्तौ छागसमाः स्मृताः।
चन्द्रहासेन कट्वारैश्छेदनं मुख्यमुच्यते॥७॥

कालिकापुराण में कहा है कि स्त्री जाति के पशु की बलि नहीं देनी चाहिये, देने से नरक प्राप्त होता है। तीन महीने से कम आयु वाले पशु की बलि नहीं देनी चाहिये। तीन पक्ष (४५ दिन) से कम आयु वाले पक्षी की बलि देना निषिद्ध है। काने, विकलांग, दुष्ट पशु अथवा पक्षी की बलि न दे। कटी पूंछ, कटे कान, टूटी सींग वाले की बलि देना वर्जित है। कूष्माण्ड, गन्ना, मद्य तथा मांस भी बलि ही है। इनसे भी

उतनी ही तृप्ति देवता को होती है, जितनी पशु-बलि से होती है। चन्द्रहास (खड्ग) तथा कटार से काटना ही मुख्य कहा गया है।।४-७।।

मत्स्यसूक्ते—

छेदयेत् तीक्ष्णखड्गेन प्रहारेण सकृद् बुधः ।

ब्रह्मपुराणे—

नराश्वमेधौ मद्यञ्च कलौ वर्ज्या द्विजातिभिः ॥८॥

मत्स्यसूक्त में कहते हैं कि विद्वान् व्यक्ति तेज खड्ग से एक बार के प्रहार द्वारा बलि को काटे। ब्रह्मपुराण के अनुसार कलिकाल में नरबलि, अश्वमेध यज्ञ तथा मद्य द्विजों के लिये वर्जित है।।८।।

एतेन मद्यप्रतिनिधिताम्रपात्रस्थमध्वादिदानमपि निषिद्धम्। प्रधानेऽनधिकारादिति स्मृतिविदां सम्मतम्। तान्त्रिकास्तु प्रतिनिधिद्रव्यदातुं शक्यते इति वदन्ति ॥९॥

अतः मद्य का अनुकल्प (प्रतिनिधि) ताम्र पात्रस्थ मधु का भी दान मद्य के बदले में नहीं करे। यह स्मृतिवित् पण्डितों का मत है। तान्त्रिकगण का कथन है कि प्रतिनिधि द्रव्य की बलि दे सकते हैं।।९।।

अथ बलिदानप्रयोगः

पशुं स्नापयित्वा देव्यग्रे संस्थाप्य श्वेतसर्षपविक्षेपाद् भूतादीनपसार्यार्घ्योदकेन तत्वमुद्रया सप्तधा संप्रोक्ष्यास्त्रेण संरक्ष्य कवचेनावगुण्ठ्य धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्य गन्धपुष्पाक्षतैः सम्पूज्य पशोः कर्णे पठेत्—ॐ पशुपाशाय विद्महे विश्वकर्मणे धीमहि तन्नो जीवः प्रचोदयात्। ततः ह्रीं कालि कालि वज्रेश्वरि लौहदण्डायै नमः इति मन्त्रेण खड्गं पूजयेत्। तत; खड्गस्याग्रमध्यमूलेषु क्रमेण पूजयेत्—हुं वागीश्वरी-ब्रह्मभ्यां नमः, हुं लक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः, हुं उमा-महेश्वराभ्यां नमः। ततः ॐ ब्रह्मविष्णुशिवशक्तियुक्ताय खड्गाय नमः इति सर्वत्र पूजयेत्। ततः—

ॐ खड्गाय खरनाशाय शक्तिकार्यार्थतत्पर! ।
पशुश्छेद्यस्त्वया शीघ्रं खड्गनाथ नमोस्तु ते ॥

इति खड्गं नमस्कुर्यात्। ततः ॐ अद्येत्यादि अमुकदेवताप्रीतिकामः श्री अमुके देवि! इमं पशुं तुभ्यमहं सम्प्रददे। ततो निवेदयेत्, तद्यथा—ॐ यथोक्तेन विधानेन तुभ्यमस्तु समर्पितम्। ततो बलिं छिन्द्यात्। ततः समांसरुधिरं स्वर्णादिपात्रे निधाय देव्यै दद्यात् ॥१०॥

अब बलिदान प्रयोग कहते हैं। पशु को नहला कर देवी के आगे लाये। फट् मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित सफेद सरसों प्रभृति लेकर 'ॐ अपसर्पन्तु ये भूता' इत्यादि भूतसमूह को हटाने वाले मन्त्र को पढ़कर (सरसों चतुर्दिक फेंके) और तत्त्वमुद्रा करके अर्घ्योदक द्वारा बलि का सम्प्रोक्षण करे। फट् मन्त्र से रक्षा करके, कवच मन्त्र (हुं) द्वारा अवगुंठन करके धेनुमुद्रा द्वारा अमृतीकरण करे। तत्पश्चात् गन्ध-पुष्प द्वारा पूजन करके पशु के कान में 'ॐ पशुपाशाय विद्महे विश्वकर्मणे धीमहि तन्नो जीवः प्रचोदयात्' यह मन्त्र पढ़े। तदनन्तर 'ॐ कालि कालि वज्रेश्वरि लोहदण्डायै नमः' मन्त्र द्वारा खड्ग का पूजन करे। यह करके 'ॐ अद्येत्यादि' मन्त्र से देवता को (यह मन्त्र ऊपर संस्कृत में लिखा है) बलि समर्पित करे। इसके पश्चात् बलि पशु का छेदन करके मांस-रुधिर को स्वर्णादि पात्र में रखकर अर्चना करके देवी को समर्पित करे।।१०।।

रुधिरदाने स्थाननिर्णयमाह कालिकापुराणे—

छागन्तु वामतो दद्यान्महिषन्तु भवेत् पुरः।
दक्षिणे वामतो दद्यादग्रतो देहशोणितम् ॥११॥

कालिकापुराण में रुधिर-दान में स्थान का नियम कहते हैं। बकरे को वामभाग में एवं महिष को सामने अथवा दक्षिण में दे। देहशोणित को आगे दे।।११।।

इति ततोऽवशिष्टबलिं बटुकादिभ्यो दद्यात्। यथा वायव्ये—हुं वां वटुकाय नमः इति गन्धादिना सम्पूज्य एष बलिः हुं वां वटुकाय नमः इति दद्यात्। एवमीशाने—हुं यां योगिनीभ्यो नमः। नैर्ऋते—हुं क्षां क्षेत्रपालाय नमः। आग्नेये—हुं गां गणपतये नमः। इति दद्यात्। ततः खड्गस्थरुधिरेण स्वललाटे—

ॐ यं यं स्पृशामि हस्तेन यं यं पश्यामि चक्षुषा।
स स मे वश्यतां यातु देवराजसमो यदि ॥

'ॐ ऐं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा' इति मन्त्रद्वयेन तिलकं कुर्यात् ॥१२-१३॥

इस वचन के अनुसार महिष की सामने अथवा दक्षिण अथवा वाम ओर बलि दे। छाग-बलि वाम भाग में देनी चाहिये। और भी कहा गया है कि सुवर्ण, रजत, ताम्र अथवा कांस्य पात्र में बलि का रक्त रखकर मन्त्र पढ़ते हुये देवी को रक्त का दान करे। तदनन्तर बटुक आदि देवी के गणों को बाकी बची बलि प्रदान करे। वायव्य कोण में 'ॐ वां वटुकाय नमः' से गन्धादि द्वारा पूजन करके 'हुं वां वटुकाय नमः' मन्त्र से उनको बलि प्रदान करनी चाहिये। इसी तरह ईशान कोण में योगिनी गण को 'हुं यां योगिनिभ्यो नमः' से बलि दे। नैर्ऋत्य कोण में क्षेत्रपाल को 'हुं क्षां क्षेत्रपालाय नमः'

से बलि प्रदान करे। आग्नेय कोण में गणपति का पूजन करके 'हुं गां गणपतये नमः' मन्त्र से बलि प्रदान करे। तदनन्तर ऊपर कहे गये श्लोक 'ॐ यं यं' से लेकर 'समो यदि' पर्यन्त पढ़ते हुये तथा 'ॐ ऐं नित्यक्लिन्ने' से लेकर 'मदद्रवे स्वाहा' तक पढ़ते हुये खड्ग में लगे रुधिर से अपने ललाट पर तिलक लगाये।।१२-१३।।

कालिकापुराणे—

स्नापयित्वा पशुं तत्र भूषयेत् पुष्पचन्दनैः।
पूजयेत् साधको देवीं बलिं मन्त्रैर्मुहुर्मुहुः ।।१४।।
उत्तराभिमुखो भूत्वा बलिं पूर्वमुखन्तथा।
निरीक्ष्य साधकः पश्चादिमं मन्त्रमुदीरयेत् ।।१५।।

स च मन्त्रः 'छागः त्वं बलिरूपेण' इत्यादि। अत्र तु तान्त्रिकोत्सर्गे न प्रयुज्यते ।।१६।।

कालिकापुराण के अनुसार बलि के स्थान में पशु को स्नान कराकर पुष्प तथा चन्दनादि से भूषित करके देवी के बलि-मन्त्र से पूजा करे। तदनन्तर साधक उत्तर की ओर मुख करके देवता के सम्मुख (सामने वाले) मुख की ओर बलि का मुख करके यह मन्त्र कहे 'छाग त्वं बलिरूपेण' इत्यादि। किन्तु तान्त्रिक बलिदानों में यह मन्त्र प्रयुक्त नहीं होता।।१४-१६।।

तथा तत्रैव—

प्रभूतबलिदाने तु द्वौ वा त्रीनग्रतः कृतान्।
पूजयेत् प्रमुखान् कृत्वा सर्वांस्तन्त्रेण साधकः ।।१७।।

कालिका पुराण में कहते हैं कि प्रभूत बलिदान स्थल में (जहाँ अनेक पशुओं की बलि देनी हो वहाँ) दो अथवा तीन पशुओं को आगे करके और उन्हें प्रधान मानकर सभी पशुओं के लिये उनकी ही पूजा करनी चाहिये।।१७।।

तथा—

स्थाने नियोजयेद् रक्तं शिरश्च सप्रदीपकम्।
छेदयेत् तीक्ष्णखड्गेन बलिं पूर्वाननं तु तम्।
अथवोत्तरवक्त्रां तं स्वयं पूर्वमुखस्तथा ।।१८।।

वहाँ और भी कहा गया है कि पात्र (स्थान) में रक्त रखना चाहिये। पशु के मस्तक पर प्रदीप रखे। देवता के सम्मुख बलि पशु का मस्तक करके तीखे धार वाले खड्ग से उसका छेदन करे। अथवा स्वयं पूर्वाभिमुखी होकर उत्तरमुखीन बलिपशु का उसी प्रकार छेदन करे।।१८।।

भविष्यपुराणे—

बलिं ये च प्रयच्छन्ति सर्वभूतविनाशनम्।
तेषान्तु तुष्यते देवी यावत् कल्पन्तु शाङ्करम्॥१९॥

भविष्यपुराण के अनुसार जो व्यक्ति देवी को सर्वभूत-विनाशन (प्रचुर परिमाण में) बलि प्रदान करते हैं, उनके प्रति देवी 'शंकर' कल्पपर्यन्त (देवकल्पपर्यन्त) प्रसन्न रहती हैं।।१९।।

सर्वभूतविनाशनमिति सर्वभूतानि। विहितमहिषादीनि विनाश्यन्ते यस्मिन् बलाविति। चर्मणि द्वीपिनं हन्तीतिवन्निमित्तसप्तमीति स्मार्ताः॥२०॥

सर्वभूतविनाशनम् इस पद के वाक्य का अर्थ है—समस्त भूत अर्थात् बलि में विहित महिष-प्रभृति पशुसमूह का विनाश जिससे हो, वह बलि है—सर्वभूतविनाशन बलि। चर्मणि द्वीपिनं अर्थात् चर्म से निर्मित हाथी का वध करते हैं। यहाँ निमित्त अर्थ में सप्तमी है। यह स्मार्त कहते हैं।

यज्ञपार्श्वः—

उष्ट्रो वा यदि वा मेषच्छागो वा यदि वा हयः।
पशुस्थाने नियुक्तानां पशुशब्दोऽभिधीयते॥२१॥

यज्ञपार्श्व कहते हैं कि यदि ऊँट, मेष अथवा बकरा अथवा अश्व पशु स्थान पर हैं तब वे 'पशु' शब्द से बोध्य होते हैं। अर्थात् यदि इन्हें पशुबलि के लिये लाते हैं, तब इन्हें पशु कहा जायेगा।।२१।।

कालिकापुराणे—

शोणितं मन्त्रपूतञ्च शीर्षं पीयूषमुच्यते।
तस्माच्च पूजने दद्याद्बलेः शीर्षञ्च शोणितम्॥२२॥

कालिकापुराण में कहा गया है कि मन्त्रपूत शोणित तथा शिर भी अमृत कहा जाता है। अतः देवी-पूजा में मस्तक तथा रक्त प्रदान करे।।२२।।

तथा—

पूजासुनाऽऽममांसानि दद्याद् वै साधकोत्तमः।
ऋते तु लोहितं शीर्षममृतं तत्तु जायते॥२३॥

और भी कहा गया है कि साधकश्रेष्ठ व्यक्ति देवीपूजा में रक्त तथा मस्तक के अतिरिक्त आम (कच्चा) मांस कभी भी न दे। किन्तु रक्त तथा मस्तक (देवी को समर्पित) अमृत हो जाता है।।२३।।

भविष्यपुराणे—

अजानां महिषाणाञ्च मेषाणाञ्च तथा वधात्।
प्रीणयेद् विधिवद् दुर्गां मांसशोणिततर्पणैः ॥२४॥

भविष्यपुराण में कहा गया है कि बकरा, भैंसा तथा मेढ़ा—इनके समूह का विधिपूर्वक बलि किया मांस तथा रक्त से देवी का तर्पण करने से दुर्गा देवी की प्रीति प्राप्त होती है।।२४।।

दुर्गाया दर्शनं पुण्यं दर्शनादभिवन्दनम्।
वन्दनात् स्पर्शनं श्रेष्ठं स्पर्शनादभिपूजनम् ॥२५॥
पूजनात् स्नपनं श्रेष्ठं स्नपनात् तर्पणं स्मृतम्।
तर्पणात् मांसदानन्तु महिषाजनिपातनम् ॥२६॥

दुर्गा के दर्शन से पुण्य होता है। दर्शन से अभिवन्दन श्रेष्ठ है, अभिवन्दन से श्रेष्ठ है—स्पर्शन (छूना), स्पर्शन से अभिपूजन और भी श्रेष्ठ है। इस पूजन से स्नपन श्रेष्ठ है। स्नपन से तर्पण और भी श्रेष्ठ है। तर्पण से भी श्रेष्ठ है—महिष, छाग की बलि द्वारा प्रदान किया गया मांस।।२५-२६।।

महिषोऽजो निपात्यते यत्र मांसदाने तत् तथा। तथा—

समेकमेकं वरदा तृप्ता भवति चण्डिका।
रुधिरेणोरणस्येह तर्पिता विधिवन् नृप ॥२७॥

महिष तथा बकरे के वध से प्राप्त मांसदान ही महिषाजनिपातन मांसदान है। और भी कहते हैं—हे राजन्। देवी-पूजा में विधिवत् भेड़ा के रुधिर द्वारा देवी चण्डिका तर्पिता होकर एक वर्षपर्यन्त तृप्त रहती हैं।।२७।।

समेकं वत्सरम्; यव्यो मासः समेकं सवत्सरमिति श्रुतेः। उरणो = मेषः ॥२८॥

समेकं—वत्सर एक वर्ष, यव्यो मासः समेकं वत्सरम्—यह शतपथ ब्राह्मण का वाक्य है। उरण = मेष।।२८।।

तथा—

अजस्य दर्शवर्षाणि रुधिरेण सुतर्पिता।
महिषेण शतं वीर! तृप्ता भवति चण्डिका ॥२९॥
सहस्त्रं तृप्तिमायाति स्वदेहरुधिरेण तु।
तर्पिता विधिवद् दुर्गा भित्वा बाहूरुजङ्घके ॥३०॥

और भी कहते हैं कि छाग (बकरा) के रक्त द्वारा चण्डिका १० वर्ष-पर्यन्त परम प्रीतिकरा हो जाती हैं। हे वीर! वे महिष के रक्त से १०० वर्ष-पर्यन्त तृप्ति का अनुभव करती हैं। विधिवत् अपने बाहु, उरु, जंघाद्वय को विदीर्ण करके उसका रक्त अर्पित करने से भगवती दुर्गा १००० वर्ष-पर्यन्त तृप्त रहती हैं।।२९-३०।।

नारेण शिरसा वीर! पूजिता विधिवन् नृप।
तृप्ता भवेद् भृशं दुर्गा वर्षाणां लक्षमेव तु ।।३१।।

हे वीर राजन्! मनुष्य के मस्तक द्वारा विधिवत् पूजन करने से देवी दुर्गा एक लाख वर्ष-पर्यन्त अत्यन्त तृप्त हो जाती हैं।।३१।।

कालिकापुराणे—

नाभेरधस्ताद् रुधिरं पृष्ठभागस्य च प्रिये।
स्वगात्ररुधिरं दद्यान्न कदाचित् तु साधकः ।।३२।।

कालिकापुराण में भगवान् कहते हैं कि हे प्रिये! साधक अपने अंगों का रुधिर देवी को निवेदित करे। नाभि से नीचे के अंगों का तथा पीठ का रुधिर कभी भी देवी को प्रदान न करे।।३२।।

नोष्ठस्य चिबुकस्यापि नेन्द्रियाणाञ्च मानवः।
कण्ठाधो नाभितश्चोद्‌र्ध्वं बाह्वोः पाणिमृते तदा।
प्रपद्याद् रुधिरं घातं नातिकुर्याच्च साधकः ।।३३।।

अपने मानव रक्त का दान करते समय ओठ, गाल तथा इन्द्रियों का रक्त कदापि देवी को दान न करे। हथेली को छोड़कर बाहु का, कण्ठ के नीचे किन्तु नाभि के ऊपर के अंगों का रुधिर दान करे। साधक अपने शरीर पर अधिक घाव किये बिना रुधिर प्रदान करे।।३३।।

गण्डयोश्च ललाटस्य भ्रुवोर्मध्यस्य शोणितम्।
कर्णाग्रस्य च बाह्वोश्च शुनयोरधरस्य च ।।३४।।
कण्ठयोर्नाभितश्चोद्‌र्ध्वं हृद्भागस्य यतस्ततः।
पार्श्वयोश्चापि रुधिरं दुर्गायै विनिवेदयेत् ।।३५।।

गण्डद्वय, ललाट, भ्रूमध्य, कर्णाग्र, बाहुद्वय, स्तनद्वय, अधर, कण्ठ के नीचे और नाभि के ऊपर, हृदय प्रदेश के स्थान तथा दोनों पार्श्व का रुधिर दुर्गा को निवेदित करे।।३४-३५।।

न गुल्फतो असृग् दद्याज्जत्रोर्नापि च साधकः।

न च रोगाविलादङ्गान्नान्यघाताच्च भैरवः।
तदर्थकृतघाताच्च नाश्रब्दः क्षुब्धमानसः ॥३६॥

साधक गुल्फ, कन्धा तथा वक्ष की सन्धि से निकाल कर रक्तदान न करे। हे भैरव! रोग से प्रभावित अंगों का भी रक्त अर्पित करना वर्जित है। अन्य आघात (चोट इत्यादि) से निकला रक्त भी नहीं देना चाहिये। केवल वही रक्त प्रदान करे, जिसे दान के निमित्त साधक अपने शरीर से निकालता है।।३६।।

स्रुतरक्तं प्रदद्यात् तु पद्मपुष्पस्य पत्रके।
सौवर्णे राजते पात्रे कांस्ये फाले च वा नरः।
निधाय देव्यै दद्यात्तु तद्रक्तं मन्त्रपूर्वकम् ॥३७॥

मनुष्य पद्मपुष्प के पत्ते में रखकर रक्त का दान करे अथवा स्वर्णपात्र में, रजत, कांस्य अथवा नारियल के (खोल) कवच में रखकर मन्त्रपाठ करते हुये रक्तदान देवी को करे।।३७।।

बाह्वोरिति। पणिं करतलं विना बाह्वोरित्यर्थः। फाले फलसम्बन्धिनि नारिकेलपात्रादौ ॥३८॥

बाह्वो: = अर्थात् पाणि अर्थात् हथेलियों को छोड़कर बाकी बाहु का रक्त। फाले = फल के खोल में; जैसे—नारियल।।३८।।

तथा तत्रैव—

हनने छूरिकाखड्गसङ्कुलादियदस्त्रकम्।
घातेन बृहदस्त्रस्य महाफलमवाप्नुयात् ॥३९॥

और भी कहा गया है कि बलिपशु को छेदन के लिये छूरा, खड्ग, संकुल प्रभृति अस्त्रों में से जो बृहद् अस्त्र है, उसके आघात द्वारा महाफल प्राप्त होता है।।३९।।

पद्मपुष्पस्य पत्रन्तु यावद् गृह्णाति साधकः।
न कदाचित् प्रदद्यात्तु नाङ्गच्छेदं समाचरेत् ॥४०॥

पद्मपुष्प के पत्ते में जितना रक्त आता है, उसके चौथाई रक्त से अधिक कभी भी देवी को प्रदान न करे एवं अंगच्छेद भी न करे।।४०।।

यः स्वहृदयसंजातं मांसं माषप्रमाणतः।
तिलमुद्गप्रमाणं वा देव्यै दद्यात्तु भक्तितः।
षण्मासाभ्यन्तरे तत्तु काममिष्टमवाप्नुयात् ॥४१॥

जो व्यक्ति अपने हृदयसंजात मांस एक मासा अथवा तिलबीज के बराबर मांस

देवी को प्रदान करता है, उसे छः मास के भीतर अभीष्ट प्राप्त हो जाता है।।४१।।

बाह्वोस्तु स्कन्धयोर्वापि न दद्याद् दीपवर्त्तिकाम्।
हृदये वा स्नेहपात्रं विना भक्त्या तु साधकः।।४२।।

साधक बाहुद्वय अथवा स्कन्धद्वय अथवा हृदय पर दीप की बत्ती न दे। स्नेहपात्र के विना ही भक्तिपूर्वक देवी को उसका दान करे।।४२।।

क्षणमात्रेण तद्दीपप्रमाणस्य फलं शृणु।
भुक्त्वा च विपुलान् भोगान् देवीगेहे यथेच्छया।
कल्पत्रयन्तु संस्थाय सार्वभौमो नृपो भवेत्।।४३।।

एक क्षण मात्र ऐसे दीपदान के फल का श्रवण करो। दीपदान करने वाला विपुल भोग प्राप्त करके देवी के धाम में यथेच्छ भाव से तीन कल्प तक निवास करके सार्वभौम राजा होता है।।४३।।

महिषस्य शिरच्छिन्नं सप्रदीपं शिवापुरः।
हस्ताभ्यां यः समादाय अहोरात्रन्तु तिष्ठति।।४४।।
स चिरायुः पूतमूर्त्तिरिह भुक्त्वा मनोरथान्।
भोगस्यान्ते मद्‌गृहगो गणानामधिपो भवेत्।।४५।।

जो व्यक्ति दो हाथों में भैंसा का कटा मस्तक लेकर देवी के सामने अहोरात्र अवस्थित रहता है, वह पवित्र मूर्त्ति व्यक्ति दीर्घायु होकर मनचाहा भोग भोग कर अन्त में मेरे धाम का निवासी होकर मेरे गणों का अधिपति होता है, यह भगवती का वचन है।।४४-४५।।

नरस्य शीर्षमादाय साधको दक्षिणे करे।
वामे सरुधिरं पात्रं गृहीत्वा निशि जाग्रतः।।४६।।
यावद् रात्रिं स्थितो मर्त्यो राजा भवति चेह वै।
मृते मम पुरं प्राप्य गणानामधिपो भवेत्।।४७।।

जो साधक दाहिने हाथ में मनुष्य का मस्तक एवं वाम हाथ में रुधिरपात्र लेकर रात्रि में जागते हुये बैठा रहता है, वह इस लोक में निश्चय ही राजा होता है एवं मृत्यु के पश्चात् मेरे धाम में गणों का अधिपति होकर निवास करता है।।४६-४७।।

क्षणमात्रं बलीनां यः शिरोरक्तं करद्वये।
गृहीत्वा चिन्तयेद् देवीं पुरस्तिष्ठति मानवः।
स कामानिह सम्प्राप्य देवीलोके महीयते।।४८।।

जो व्यक्ति अंजलि में बलि का रक्त लेकर क्षणमात्र देवी का चिन्तन करता है और

देवता के सामने अवस्थान करता है, वह समस्त काम्य वस्तु प्राप्त करके अन्त में देवीलोक में सम्मानित होता है।।४८।।

महामाये! जगन्मात:! सर्वकामप्रदायिनि!।
ददामि देहरुधिरं प्रसीद वरदा भव ।।४९।।
इत्युक्त्वा मूलमन्त्रेण नातिपूर्वं विचक्षण:।
स्वगात्ररुधिरं दद्यात् साधक: सिद्धिमानस: ।।५०।।

विचक्षण सिद्धिकामी साधक ऊपर लिखे श्लोक ४९ को पढ़कर मूल मन्त्र पढ़ते हुये अपने अंगों का रुधिर देवी को अविलम्ब अर्पित करे।।४९-५०।।

येनात्ममांसं सत्येन ददामि स्वविभूतये।
निर्वाणं तेन सत्येन देहि हुं हुं नमो नम:।
इत्यनेन तु मन्त्रेण स्वमांसं वितरेद् बुध: ।।५१।।

पण्डित साधक इस श्लोक को 'येनात्म' से लेकर 'नमो नम:' तक पढ़कर अपना मांस देवी को दान करे।।५१।।

पुनस्तत्रैव—

स्वगात्ररुधिरं दत्त्वा आत्महत्यामवाप्नुयात्।
मद्यं दत्त्वा ब्राह्मणस्तु ब्राह्मण्यादेव हीयते ।।५२।।

वहीं पुन: और कहते हैं कि किन्तु ब्राह्मण अपने अंगों का रुधिर-दान करके आत्महत्या का पाप अर्जित करेगा और देवी को मदिरा प्रदान करने वाला ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से च्युत माना जायेगा।।५२।।

न कृष्णसारमितरे बलिन्तु क्षत्रियादय:।
ददत: कृष्णसारन्तु ब्रह्महत्यामवाप्नुयु:।
प्रदाने कृष्णसारस्य मन्त्रोऽयं समुदीरित: ।।५३।।

क्षत्रिय-प्रभृति अन्य वर्ण के लोग कृष्णसार मृग की बलि न दें; अन्यथा उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। कृष्णसार मृग की बलि में यह मन्त्र पढ़ना चाहिये (ब्राह्मण ही इनकी बलि दे सकता है।)।।५३।।

कृष्णसार! ब्रह्ममूर्ते ब्रह्मतेजोविवर्धन!।
चतुर्वेदमय! प्राज्ञ! प्रज्ञां देहि यशो मह: ।।५४।।

हे कृष्णसार! हे ब्रह्ममूर्ते! हे ब्रह्मतेज बढ़ाने वाले! हे चतुर्वेदमय प्राज्ञ! हमें प्रज्ञा, बल तथा यश प्रदान करो।।५४।।

शत्रुबलिः

अत्रैव—

महानवम्यां शरदि रात्रौ स्कन्दविशाखयोः ।
यवचूर्णमयं कृत्वा रिपुं मृण्मयमेव वा ।।५५।।

शिरच्छित्वा बलिं दद्यात् कृत्वा तस्य तु मन्त्रतः ।
अनेनैव तु मन्त्रेण खड्गमामन्त्र्य यत्नतः ।।५६।।

वहीं यह भी कहा गया है कि शारदीया महानवमी की रात्रि में स्कन्द तथा विशाख के मन्त्र से शत्रु-बलि देनी चाहिये। यव (जो) चूर्ण से अथवा मृण्मय शत्रूमूर्त्ति बनाकर वक्ष्यमाण उन-उन मन्त्रों द्वारा (जो पहले बताये जा चुके हैं) खड्ग को अभिमन्त्रित करके उसके द्वारा शत्रुमूर्त्ति का मस्तक काट कर वक्ष्यमाण मन्त्र से बलि प्रदान करे।।५५-५६।।

रक्तं किलिकिलि घोरं घोराधारविहिंसकः ।
ब्रह्मशिखाद्विकमक्षममुकं चारिसत्तमम् ।।५७।।
टान्तः विसर्गसहितः स च बिन्दुयुतोऽपरः ।
ब्रह्माग्नियोगश्चन्द्रेण बिन्दुना च समन्वितः ।
फडन्तो बलिषु प्रोक्तः खड्गे स्कन्दविशाखयोः ।।५८।।

वक्ष्यमाण मन्त्र है—'रक्तं किलिकिलि घोरं घोराधारविहिसंकः ॐ ॐ त्रीं अमुकं अरिसत्तमं ठः ठं स्वाहा।

खड्ग का मन्त्र यह है—ब्रह्म (क) तथा अग्नि (र) दोनों का योग अर्थात् 'क्र'। यह चन्द्र एवं बिन्दु द्वारा युक्त होकर बनता है—'क्रीं'। उसमें फट् (अस्त्र मन्त्र) को युक्त करने से खड्ग मन्त्र का उद्धार होता है—'क्रीं फट्'। स्कन्द तथा विशाखा की बलि में यही खड्ग-मन्त्र कहा गया है।।५७-५८।।

रक्तद्रव्यैः सेचयित्वा कृत्रिमं तं रिपुं बलिम् ।
कुचन्दनस्य तिलकं ललाटे विनिवेश्य च ।।५९।।
रक्तमालाधरं कृत्वा रक्तवस्त्रधरं तथा ।
कण्ठे बद्ध्वा रक्तसूत्रैर्नाभौ शल्यञ्च कृत्रिमम् ।।६०।।
दत्त्वोत्तरशिरस्कं तं कृत्वा खड्गेन छेदयेत् ।
शिरस्तस्य ततो दद्यात् स्कन्दमन्त्रेण मन्त्रितम् ।।६१।।

इति बलिविधिः

उस कृत्रिम शत्रु की प्रतिमा को लाल रंग के द्रव्य से रंग कर उस पर लाल चन्दन

का तिलक करके लाल माला पहनाये और लाल वस्त्र से ढँके। उसके गले में लाल रंग का सूत्र बांधकर उसकी नाभि में एक शलाका डालकर उसे उत्तर शिरस्थ करके खड्ग द्वारा उसका छेदन करे। तदनन्तर स्कन्दमन्त्र से अभिमन्त्रित करके उसके शिर को देवी के समक्ष अर्पित करे।।५९-६१।।

विशेष—शरत् काल की महानवमी को इस शत्रुमूर्त्ति का शिर काट कर स्कन्दमन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करके देवी को प्रदान करने का वर्णन कालिका पुराण में मिलता है। यहाँ जो स्कन्दमन्त्र लिखा गया है, उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं है। कालिका-पुराण के आधार पर ही यहाँ शत्रु बलि प्रकरण ग्रन्थकार ने लिखा है; परन्तु कालिका-पुराण में जो मन्त्र अंकित है, उसके आधार पर उपरोक्त प्रकार का मन्त्रोद्धार हो नहीं सकता, जो यहाँ ग्रन्थकार ने बताया है। अतः यह मन्त्र संदिग्ध है। दुर्गा पूजा-पद्धति आदि में भी इस मन्त्र का उल्लेख नहीं मिलता। प्रतीत होता है कि शुद्ध स्कन्दमन्त्र का प्राप्त सामग्री से उद्धार नहीं हो सका। इसलिये यही अशुद्ध मन्त्र अंकित कर दिया गया है। श्री जीव न्यायतीर्थ प्रभृति ने भी इसके संशोधन की चेष्टा नहीं की है—अनुवादक।

अथ पूजास्थानम्

कालिकापुराणे—

यत्र तत्र नरः पूजां निर्जने कुरुते च यः।
तस्यादत्ते स्वयं देवी पत्रं पुष्पं फलं जलम् ॥६२॥

अब पूजास्थान कहा जा रहा है। कालिकापुराण में कहते हैं कि जो मनुष्य जहाँ-तहाँ निर्जन में देवी पूजा करता है, देवी उसके द्वारा प्रदत्त पत्र, पुष्प, फल तथा जल को स्वयं ग्रहण करती हैं।।६२।।

शिला प्रशस्ता पूजायां स्थण्डिलं निर्जनं तथा।
ऊषरे कृमिसंयुक्ते स्थानेऽमृष्टेऽपि नार्चयेत् ॥६३॥

पूजनार्थ शालिग्राम शिला प्रशस्त है। स्थण्डिल तथा निर्जन स्थान प्रशस्त हैं। क्षार-मिट्टी युक्त (ऊषर) में, कृमि-कीट वाले स्थान में तथा अशुद्ध स्थान में पूजा करना वर्जित है।।६३।।

●

अथाशौचादौ वर्ज्यावर्ज्यनियमः

अशौचन्तु विहितकर्माधिकारविरोधी अदृष्टविशेषः ॥१॥

अब अशौच में वर्जनीय एवं अवर्जनीय नियम कहते हैं। अशौच अर्थात् विहित कर्म में अधिकार विरोधी अदृष्ट विशेष।।१।।

देवलः—

> **सन्ध्यां पञ्च महायज्ञान् नैत्यिकं स्मृतिकर्म च।**
> **तन्मध्ये हापयेत् तेषां दशाहान्ते पुनः क्रिया ॥२॥**

देवल कहते हैं कि अशौच में सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ, स्मृति-विहित नित्यकर्म का त्याग करे। अशौच के १० दिन बीतने पर उनका पुनः अनुष्ठान किया जा सकता है।।२।।

पञ्चयज्ञानाह मनुः—

> **अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।**
> **होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञाऽतिथिपूजनम् ॥३॥**

मनु पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में कहते हैं कि ब्रह्मयज्ञ (अध्ययन-अध्यापन), पितृयज्ञ (अन्नादि तथा जल द्वारा पितरों का तर्पण), देवयज्ञ (अग्नि में हवन), भूतयज्ञ (भूतबलि), नृयज्ञ (अतिथिपूजा)—ये पञ्चयज्ञ हैं।।३।।

दैवो—देवयज्ञः, भौतो—भूतयज्ञः। नैत्यिकं वैदिकश्राद्धादि, स्मृति-कर्म—वैधस्नानादि। अत्र च 'न मुहूर्त्तमप्यप्रयतः स्यादि'त्यापस्तम्ब-वचनाद् स्पृश्यास्पर्शनादौ शौचस्य स्वकृतिसाध्यत्वात् तदर्थं स्नानादि कर्त्तव्यम्, मूत्रपुरीषत्यागादिस्थानीयशौचनिमित्तकप्रक्षालनादिवत्। एवं भोजनाश्रितत्वात् प्राणाहूत्यादिदानञ्च कार्यम्। एवञ्च कर्माभ्यन्तरे कदाचिद-प्रायत्ये स्नानादिकं नैमित्तिकाङ्गत्वान्न व्यवधायकम्। अतः पूर्वं कृतानां कतिपयक्रियाभागानां न पुनः करणमिति स्मार्त्ताः ॥४॥

दैव—देवयज्ञ। भौत—भूतयज्ञ। नैत्यिक—वैदिक श्राद्धादि। स्मृति कर्म—वैध स्नानादि। 'इनमें एक मुहूर्त्त भी अनियमित नहीं होना चाहिये' इस आपस्तम्ब के वचनानुसार अस्पृश्य स्पर्श प्रभृति में शौच (शुद्धि) निज प्रयत्न-साध्य है; अतः शौच

के लिये मूत्रत्याग तथा मलत्यागादि के लिये धोना इत्यादि को अशौच में भी किया जाता है। इसी प्रकार भोजनाश्रित प्राणाहुति भी कर्त्तव्य है। इस प्रकार से कर्म में कभी भी अस्पृश्य का स्पर्श प्रभृति में स्नान आवश्यक होने के कारण यह सब नैमित्तिक अंग हैं; अतः अशौच में भी स्नानादिक कर्म में बाधा नहीं होती। अतएव पूर्वकृत अनेक कर्मों का (अशौच समाप्त होने पर) पुनः अनुष्ठान नहीं होता। यह स्मार्त्त वचन है।।४।।

तन्मध्ये—अशौचमध्ये। हापयेत्—त्यजेत्। तेषां—सन्ध्यादीनाम्। दशाहान्ते—तत्तदशौचान्तोत्तरदिने। अभिवादयेदित्यनुवृत्तौ शङ्खः—'नाशुचिर्न जपन्न दैवपित्र्यकार्यं कुर्वन्नि'ति। आपस्तम्बः अप्रयतायाप्रयतश्च न प्रत्यभिवादयेत्। अभिवादनं—सम्बोधनपूर्वको नमस्कारः। प्रत्यभिवादनं—सम्बोधनपूर्वकप्रतिनमस्काराशीर्दानादि, तदुभयं निषिद्धम्। केवलनमस्कारमाह स्मृतिः—सर्वे चापि नमस्कुर्युः सर्वावस्थासु सर्वदा इति। केवलं प्रतिनमस्काराशीर्दानादि च न निषिद्धम्, तुल्ययुक्तेः ।।५।।

तन्मध्ये—अशौच में। हापयेत्—त्याग करे। तेषां—सन्ध्या-प्रभृति। दशाहान्ते—उन-उन अशौच के अन्त में दिन पर दिन। अभिवादयेत्—अभिवादन करे। इस क्रिया की अनुवृत्ति में शंख कहते हैं कि अशुचि होकर, जप करते, दैव तथा पितृ कार्य के करते समय अभिवादन न करे। अर्थात् जब अशौच हो, अशुद्धि हो तब, जप करते समय तथा दैव अथवा पितृ कार्य करते समय अभिवादन करना वर्जित है। आपस्तम्ब कहते हैं कि अप्रयत व्यक्ति अन्य अप्रयत व्यक्ति को नमस्कार न करे। अभिवादन—सम्बोधनपूर्वक नमस्कार। प्रत्यभिवादन—आशीर्वाद देना, नमस्कार का उत्तर देना। इन दोनों में अशौच निषिद्ध है। स्मृति में केवल नमस्कार करने के लिये कहा गया है। कहते हैं कि समस्त अवस्था में सर्वदा सभी नमस्कार करें। युक्ति के तुल्यत्व हेतु केवल नमस्कार एवं आशीर्वाददानादि निषिद्ध नहीं है।।५।।

राघवभट्टधृतो नारदः—

अथ सूतकिनः पूजा वक्ष्याम्यागमदेशिताम्।
स्नात्वा नित्यञ्च निर्वर्त्य मानस्या क्रियया तु वै।
बाह्यपूजा क्रमेणैव ध्यानयोगेन पूजयेत् ।।६।।

राघव भट्ट द्वारा उद्धृत नारदवचन में कहते हैं कि अब अशौची (सूतक में) व्यक्ति को आगम-कथित पूजा करनी चाहिये। स्नान करके नित्य कर्म करके मानसिक क्रिया द्वारा मन ही मन क्रमानुसार पूजा करे; जैसा कि शुद्धि के समय नित्य बाह्य पूजा में करता था।।६।।

नित्यश्चाशुचिकर्त्तव्यप्रेततर्पणादि। मन्त्रमुक्तावल्याम्—

जपो देवार्चनविधिः कार्यो दीक्षान्वितैर्नरैः।
नास्ति पापं यतस्तेषां सूतकं वा यतात्मनाम् ॥७॥ इति।

प्रेततर्पणादि अशौच का कर्तव्य नित्य किया जाता है। मन्त्रमुक्तावली में कहते हैं कि दीक्षित व्यक्ति का देवार्चन करना तथा जप करना कर्त्तव्य है; जो संयत चित्त व्यक्ति हैं, उन्हें पाप अथवा सूतक का अशौच नहीं होता।।७।।

राघवभट्टधृतं—

वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वापि कर्त्तनम्।
न त्वनभ्यर्च्य भुञ्जीत भगवन्तं त्रिलोचनम् ॥८॥

भले ही प्राण चला जाय, मस्तक भी कट जाय; लेकिन भगवान् त्रिलोचन की अर्चना बिना भोजन न करे—यह राघवभट्ट द्वारा उद्धृत लिंगपुराण का वचन है।।८।।

यत्तु नारसिंहकल्पे सदा मन्त्रजापमुक्त्वा—

यदि स्यादशुचिस्तत्र स्मरेन्मन्त्रं न तूच्चरेत्।
मनो हि सर्वजन्तूनां सर्वदैव शुचिः स्मृतम् ॥९॥

इत्युक्तं तन्मूत्रोच्चाराद्यशौचपरम् ॥१०॥

और नारसिंह कल्प में सदा मन्त्र जप करने के लिये कहकर यह कहते हैं कि यदि अशौच हो तब मन्त्र का उच्चारण न करे, अपितु मन ही मन जपे; क्योंकि सभी प्राणी गण का मन सदा पवित्र कहा गया है। मूत्रादि त्याग अशौच है।।९-१०।।

मन्त्रोत्तरेऽपि—

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्नपि।
मन्त्रैकशरणो विद्वान् मनसैव सदाऽभ्यसेत् ॥११॥

तान्त्रिककर्मस्वशौचप्रतिबन्धकतायां 'अथ सूतकिन' इति वचनं प्रमाणम्।

मन्त्रोत्तर ग्रन्थ में कहते हैं कि विद्वान् व्यक्ति भले ही शुद्ध हो अथवा अशौच में हो, उसे सर्वदा मन्त्र-जपपरायण होना चाहिये। एक मन्त्र का आश्रय लेकर चलते-चलते, बैठते-बैठते, खड़े रहते, शयन करते-करते, सर्वदा मन में मन्त्र का पुनः-पुनः उच्चारण करता रहे। तान्त्रिक कर्मों में अशौच की प्रतिबद्धता के सम्बन्ध में इस प्रसंग का 'अथ सूतकिन' यह छठा श्लोक प्रमाण है—'मन ही मन मानसिक पूजा क्रमानुसार करे'।।११।।

पुराणे—

चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत्।
नाशौचं कीर्त्तने तस्य स पवित्रकरो यतः ॥१२॥
न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति हरेर्नामानि लुब्धक ॥१३॥

पुराण में कहते हैं—हे लुब्धक! चक्रधारी हरि के नाम का सदा कीर्त्तन करो। उनके नाम के कीर्त्तन में कोई अशौच-विचार नहीं है; क्योंकि वह पवित्र करने वाला है। उनके नाम के कीर्त्तन में कोई देश का नियम नहीं है। कहीं भी नाम-जप किया जा सकता है। सभी काल में हो सकता है। उच्छिष्ट आदि स्थल पर भी हरिनाम-कीर्त्तन में कोई निषेध नहीं है।।१२-१३।।

चक्रायुध अर्थात् श्रीहरि।

वाराहीतन्त्रे—

तारायाश्चैव काल्याश्च त्रिपुरायाश्च सुव्रते।
सूतके मृतके चैव न त्यजेत्तु जपार्चनम् ॥१४॥

एतद्वचनं शुद्धिनिर्णयेऽपि लिखितम्।

भगवान् द्वारा वाराही तन्त्र में कहा गया है कि हे सुव्रते! जननाशौच तथा मरणाशौच में तारा, काली तथा त्रिपुरा के मन्त्र-जप एवं पूजन का परित्याग नहीं करना चाहिये। यह वचन शुद्धिनिर्णय में भी लिखा गया है।।१४।।

कालिकापुराणे—

अशुचिर्न महामायां पूजयेत्तु कदाचन।
अवश्यन्तु स्मरेन्मन्त्रं योऽतिभक्तियुतो नरः ॥१५॥

किन्तु कालिकापुराण में कहते हैं कि अशुचि व्यक्ति महामाया की पूजा न करे। जो अतिभक्ति से युक्त है, वह अवश्य ही मन्त्र का स्मरण कर सकता है।।१५।।

तत्रैव—

दन्तरक्ते समुत्पन्ने स्मरणञ्च न विद्यते।
सर्वेषामेव मन्त्राणां स्मरणान्नरकं व्रजेत् ॥१६॥

कालिकापुराण में और भी लिखा है कि दाँतों से यदि रक्त निकल रहा हो, उस समय मन्त्र का जप भी न करे; अन्यथा नरक प्राप्त होता है।।१६।।

अत्राहोरात्रमशौचम्, वक्ष्यमाणरुधिरस्रावे तथा दर्शनात्। एवञ्च दन्त-

रक्तपाते सन्ध्यावन्दनपूजामन्त्रस्मरणादीन्यहरहः कर्त्तव्यान्यन्यान्यपि निषिद्धान्येव सर्वेषामित्युपादानादिति बहवः ॥१७॥

दाँत के गिरते रक्त से अहोरात्र-पर्यन्त का अशौच होता है; क्योंकि वक्ष्यमाण रुधिर के स्राव से इस प्रकार का अशौच देखा जाता है। इसी कारण दाँतों से रक्तपात के कारण सन्ध्यावन्दन, मन्त्र-स्मरणादि तथा इसी प्रकार के अन्य सभी कर्म निषिद्ध हो जाते हैं। इसीलिये यहाँ 'सर्वेषां' पद का उपयोग किया गया है। यह बहुत लोग कहते हैं।।१७।।

केचित्तु अहरहः क्रियमाणं सन्ध्यावन्दनादि कर्म दन्तरक्तपाते न निषिद्धम्, किन्तु तदन्यन्नित्यं काम्यं नैमित्तिकञ्च निषिद्धम्।

सर्वकालमुपस्थानं सन्ध्यायाः पार्थिवेष्यते ।
अन्यत्र सूतकाशौचविभ्रमातुरभीतितः ॥१८॥

इति वचनात् 'नित्यस्य कर्मणो शनिः केवलं मृत्युजन्मनोः' इति वामन-पुराणवचनाच्च ॥१९॥

कोई कहते हैं कि प्रतिदिन क्रियमाण सन्ध्यावन्दनादि कर्म में दाँतों से रक्त (बीमारी या चोट से) निकलने के कारण अहोरात्र अशौच देखा जाता है। इसलिये दाँतों से रक्तपात होने के कारण सन्ध्यावन्दन, पूजा, मन्त्रस्मरणादि तथा अन्य अहरहः कर्त्तव्य निषिद्ध नहीं किये गये हैं। किन्तु नित्य कर्म, काम्य कर्म तथा नैमित्तिक कर्म निषिद्ध है। तभी यह वचन है कि हे पार्थिव! सूतकादि अशौच, विभ्रम, रोगग्रस्त तथा भयरहित स्थिति में सदा सन्ध्यावन्दन उपासना की सभी इच्छा करते हैं। केवल मृत्यु तथा जन्म अशौच में (उपरोक्त) कर्म नहीं करना चाहिये। यह वामन पुराण का वचन है।।१८-१९।।

अत्र सर्वकालमित्यत्र नित्यकालमिति पाठो न युक्तः, अनन्वयात्, केनाप्यन्येनाऽनुक्तत्वाच्च। सूतकाशौचं—जननमरणान्यतरनिमित्तकाशौचम्। विभ्रमश्चित्तविक्षेपः। नित्यस्य—अविशेषादहरहर्विहितसामान्यस्य। केवलमित्यस्य अशौचान्तरव्यावृत्तये मृत्युजन्मनोरन्वयः, नित्येऽन्वये काम्यनैमित्तिकयोरनिषेधापत्तेः। केवलमित्यनेन कैमुतिकन्यायमूलकोपलक्षणापरिग्रहासम्भवाच्च। तथा च सर्वेषामेव मन्त्राणामित्यत्र सर्वपदस्य संकोच एव युक्तः ॥२०॥

यहाँ 'सर्वकालं' के स्थान पर 'नित्यकालं' का पाठ समीचीन नहीं है; क्योंकि इसका अन्य पद के साथ अन्वय नहीं होता और अन्य किसी के लिये भी यह नहीं कहा गया है। सूतकाशौच अर्थात् जन्म-मरण, इसका अन्यतर निमित्तक है—अशौच।

विभ्रम अर्थात् चित्त का विक्षेप। नित्यस्य = अहरह: विहित नित्यकर्म के लिये। केवल इसी 'नित्यस्य' पद का अशौचान्तर के वारण के लिये 'मृत्युजन्मनो:' इस पद के साथ हुआ है। 'नित्य' पद के साथ इसका अन्वय होने पर काम्य कर्म तथा नैमित्तिक कर्म के अनिषेध के कारण आपत्ति होगी और केवल इसी पद के द्वारा कैमुतिक न्यायमूलक उपलक्षणों के ग्रहण की भी सम्भावना नहीं है। अतएव 'सर्वेषामेव मन्त्राणां' में सर्व पदों का संकोच ही युक्त है।।२०।।

यद्यपि सूतकाशौचेत्यत्र सूतकं पदं जननमरणाशौचपरमेव, बहुशस्तथैव प्रयोगात्। अशौचपदञ्च तदितराशौचपरमिति प्रतीयते। वामनपुराणवचनोत्तरार्द्धे च 'न च नैमित्तिकत्यागः कर्त्तव्या हि कथञ्चने'त्यत्र जननमरणाशौचयोर्नैमित्तिकत्यागव्यावृत्त्या केवलमिति पदमितरव्यावृत्त्या नित्यकर्मणोर्विशेषणमिति च प्रतीयते, न तु जननमरणयोः। ततश्च जननमरणयोर्नित्यमात्रस्य त्यागः सिध्यति, न तु तयोरेव नित्यत्यागः इत्यपि ॥२१॥

'सूतकाशौच' पद यहाँ जननाशौच और मरणाशौच का ही द्योतक है। कारण अनेक स्थलों पर इसी प्रकार से इसका प्रयोग मिलता है। 'अशौच' पद अपने से अभिन्न 'अशौच' पर ही प्रतीयमान होता है। उपरोक्त वामन पुराण के वचन के उत्तरार्द्ध में कहा गया है कि 'किसी नैमित्तिक कर्म का त्याग कर्त्तव्य नहीं है।' यहाँ जननाशौच तथा मरणाशौच में नैमित्तिक कर्म का त्याग निषिद्ध (व्यावृत्त) होने से 'केवलम्' पद से अन्य नैमित्तिक कर्म के त्याग की व्यावृत्ति के कारण नित्य कर्म का विशेषण प्रतीत होता है। किन्तु जननाशौच तथा मरणाशौच का विशेषण प्रतीयमान नहीं होता। अतएव जनन तथा मरण में नित्य कर्ममात्र का त्याग सिद्ध होता है। किन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि केवल जननाशौच तथा मरणाशौच में ही नित्य कर्म का त्याग करे (अर्थात् दाँत से रक्तादि गिरने का भी अशौच नित्य कर्म में लगता है)। केवल जननाशौच तथा मरणाशौच के अतिरिक्त अन्य अशौच भी हैं; किन्तु उनमें नैमित्तिक कर्म का त्याग निषिद्ध है।।२१।।

तथापि कुरुपाण्डवयुद्धे विविधक्षतेषु 'आदित्यमुपतस्थिरे' इत्यनेन महाभारते सन्ध्यानुष्ठानश्रुतेः क्षताशौचे सन्ध्यानुष्ठानप्राप्त्या तुल्यन्यायादहरहर्विहितमात्रे क्षताशौचस्याप्रतिबन्धकत्वं, सूतकाशौचेत्यत्राशौचपदस्य स्वरूपकथनपरत्वञ्च कल्प्यते। अतत्रवैतदेकवाक्यतया रुधिरादिक्षालनजशुद्धिरप्यहरहः कर्त्तव्यकर्मस्वेव ॥२२॥

तथापि कौरव-पाण्डवों के युद्ध में लोगों को अनेक घाव होने पर भी वे आदित्य की उपासना करते रहते थे। इस महाभारत के प्रमाणानुसार क्षत-विक्षत व्यक्तियों द्वारा सन्ध्या अनुष्ठान सुना गया है। अत: अहरह: विहित कर्मों में क्षताशौच का प्रतिबन्धक वचन नहीं है अर्थात् क्षतविक्षत व्यक्ति सन्ध्यादि विहित कर्म करते थे। साथ ही सूतकाशौच यह अशौच स्वरूप माना गया है। अत: रुधिरादि गिरने की शुद्धि भी अहरह: कर्मसमूह में होती रहती है।।२२।।

ततश्च—

वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविट्कर्णविट्नखाः ।
श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥२३॥

इति।

इसीलिये वसा, शुक्र (वीर्य), असृक् (रक्त), मज्जा, मूत्र, विष्ठा, नाक का मैल, कान का मैल, श्लेष्मा, असुदूषिका (नेत्रों का मैल) तथा पसीना—ये बारह मनुष्य के मल कहे गये हैं।।२३।।

मनूक्तमलानां सम्बन्धे—

आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये ।
उत्तरेषु च षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुध्यति ॥२४॥

बोधायन ऋषि मनु द्वारा कथित इन मलसमूह की शुद्धि का उपाय कहते हैं। प्रथम छ: मल—वसा, शुक्र, असृक्, मज्जा, मूत्र तथा विष्ठा की शुद्धि जल तथा मृत्तिका से होती है। शेष छ: केवल जल से शुद्ध हो जाते हैं।।२४।।

इति बोधायनपूतत्वाभिधानस्य कर्मार्हमात्रप्रयोजकतया क्षताद्यशौचे क्षालनात् परं प्रात्यहिककर्माधिकारः सिध्यतीति तद्भिन्ने नैमित्तिकादौ क्षतादौ क्षालनादप्यनधिकारः पर्यवस्यति ॥२५॥

बोधायन का पवित्रता-सम्बन्धित यह कथन कर्मानुष्ठान की योग्यता का प्रयोजक है; अत: क्षतादि-निमित्तक अशौच में प्रक्षालन के पश्चात् प्रतिदिन के कर्म का अधिकार सिद्ध होता है। इसीलिये इन कर्मों में क्षतादि की अशुद्धि होने पर उसे धो लेने के पश्चात् प्रतिदिन के कर्म किये जा सकते हैं। उन्हें करने का अनधिकार प्रक्षालन से (धोने से) समाप्त हो जाता है।।२५।।

अथवा क्षताशौचं नित्यकर्मणां प्रतिबन्धकमेव तदुत्तरक्षालनन्तु प्रात्यहिककर्मण्युत्तेजकमन्यथा क्षालनशुद्ध्याभिधानमन्यत्रालब्धपदमनर्थकं स्यादिति ॥२६॥

अथवा क्षताशौच नित्य कर्मसमूह का प्रतिबन्धक है; किन्तु तत्पश्चात् प्रक्षालन करके प्रात्यहिक कर्म करते हैं; अन्यथा प्रक्षालन तथा शुद्धि की उक्ति अनर्थक हो जाती है।।२६।।

वस्तुतस्तु काम्यनित्यनैमित्तिकनित्ययोर्वारणार्थकमव्ययं केवलपदं नित्यस्य विशेषणं मृत्युजन्मनोश्च विशेषणमविशेषात्। भवतु वा मृत्युजन्मनोऽ-न्यस्मिन्नशौचे प्रात्यहिककर्मानुष्ठानमायाति। शेषार्द्धे च—न तु नैमित्तिकत्याग इति। नैमित्तिकत्यागस्तु न केवलमृत्युजन्मनोरपि तु क्षताद्यशौचेऽपीत्ये-तत्परम्। अथवा अशौचकाले कर्त्तव्यनैमित्तिकयोगनिषेधपरमिति वदन्ति, तथा व्यवहरन्ति च ॥२७॥

वास्तव में काम्य नित्य, नैमित्तिक नित्य का वारण करने के लिये 'केवल' पद नित्य पद का विशेषण है; साथ ही मृत्यु तथा जन्म का भी विशेषण है; क्योंकि मात्र एक के विशेषण में कोई विशेष हेतु नहीं है। अथवा 'केवल' पद मृत्यु तथा जन्म का विशेषण हो। 'नित्य' पद यहाँ पर प्रात्यहिक क्रियापरक है। जननाशौच तथा मरणाशौच के अतिरिक्त अन्य प्रकार का अशौच भी प्रात्यहिक कर्म के अनुष्ठान के कर्त्तव्य रूप में उपस्थित है। वामनपुराण के वचन का तात्पर्य है (न तु नैमित्तिक-त्याग) कि केवल जन्म तथा मरण में ही नैमित्तिक का त्याग नहीं कहा गया; अपितु क्षतादि अशौच में भी इनका त्याग कहा गया है। अथवा यह वचन अशौच काल में 'नैमित्तिक कर्म के सम्बन्ध में निषेधपरक हैं' यह कहते हैं तथा उसी प्रकार से व्यवहार भी करते हैं।।२७।।

तन्न सम्यक्, सूतकाशौचेत्यत्राशौचपदवैयर्थ्यात्। पूर्वमते तु दन्तरक्ते-इत्यादिकालिकापुराणैकवाक्यतया दन्तरक्तपाताशौचपरतया तत् सार्थ-क्यम्। तत्राशौचपदस्य स्वरूपाख्यानपरत्वेऽपि श्राद्धादिदिने सायंसन्ध्या-नुष्ठानापत्तिः। तत्र विशेषवचनान्निषेध इति चेत्, अत्रापि कालिकापुराणीयं विशेषवचनं बाधकमस्ति, सर्वकालमित्यत्र सर्वपदवैयर्थ्यसंकोचश्च। सर्वमन्त्राणामित्यत्र सर्वपदसंकोचकल्पनया तुल्यकक्षः। अपि च भारतीय-विविधक्षतकालीनसन्ध्यानुष्ठानदृष्टान्तो दन्तरक्तपातवासरेऽपि सन्ध्यादि-निषेधो विशेषवचनबलादेव सिध्यति ॥२८॥

किन्तु ऊपर लिखा मत समीचीन नहीं है; क्योंकि वैसा होने पर 'सूतकाशौच' शब्द में अशौच पद व्यर्थ हो जाता। उसकी कोई सार्थकता नहीं रहेगी। पूर्वमत में दन्तरक्त इत्यादि कालिकापुराण के वचन के साथ एकवाक्यता प्रयुक्त सूतकाशौचस्थलीय

अशौच पद दन्तरक्तपात-जनित 'अशौच' तात्पर्यक जाना जाता। वहाँ अशौच पद स्वरूपकथनपरक होने से श्रद्धादि के दिन में सायंसन्ध्या के अनुष्ठान पर आपत्ति होती। यदि कोई यहाँ यह कहे कि सायंसन्ध्या का निषेध है तब यहाँ कालिका पुराण का ऊपर कहा वचन बाधक होगा। 'सर्वकालं' यहाँ सर्व पद वैयर्थ्य प्रयुक्त संकोच है। 'सर्वमन्त्राणां' में सर्व पद का संकोच होने से दोनों तुल्य पक्ष हो जाते हैं। अर्थात् सर्वकाल तथा सर्वमन्त्राणां दोनों में सर्व पद का संकोच है। अत: वे समान पक्ष हो गये हैं।

और भी महाभारतीय विविध क्षतों के रहते कौरव-पाण्डवों द्वारा सन्ध्यानुष्ठान का दृष्टान्त भी विशेष रूप से निषिद्ध दन्तरक्तपातादि विषय में संगत नहीं है। अतएव श्राद्धादि के दिन सायंकाल सन्ध्यानुष्ठान के निषेध की तरह दांत से रक्त गिरने के दिन सन्ध्यादि के निषेध का विशेष वचन भी सिद्ध हो जाता है।।२८।।

अतएव—

भोजने दन्तलग्नानि निर्हृत्याचमनं चरेत्।
दन्तलग्नमसंहार्यं लेषं मन्येत दन्तवत्।।२९।।
न तत्र बहुशः कुर्याद् यत्नमुद्धरणे पुनः।
भवेदत्यन्तमाशौचं तृणवेधाद् व्रणे कृते।।३०।।

इसलिये भोजन में दाँत में लगे अन्न व्यञ्जनादि के अंश को बाहर करके आचमन करे अर्थात् मुख धो ले। यदि दाँत से सब न निकलें तब दाँत में लगे लेप को दाँत के समान समझे। जो प्रयत्न से भी न निकल सके, उसे दाँत के समान समझे। उसे निकालने के लिये अधिक प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि तिनके आदि से खोदने से वहाँ व्रण हो जाने के कारण अधिक अशौच हो जायेगा।।२९-३०।।

इत्यग्रे देवलेनाशौचस्यात्यन्तिकत्वरूपगुरुत्वमुक्तम्। तच्च मनःशरीरोभयाशुद्धिप्रयोजकम्, न तु लेपसम्बन्धप्रयुक्ताशौचाद् वैलक्षण्यम्, लेपस्य दन्ततुल्यताप्रतिपादनेनाह शौचासम्पादकत्वात् तदपेक्षयात्यन्तत्वकथनायोगात्।।३१।।

इस वचन में देवल द्वारा अशौच के आत्यन्तिकत्व रूप गुरुत्व का जो वर्णन किया गया है, वह मन तथा शरीर की अशुद्धि का प्रयोजक है। किन्तु (दाँतों में प्रयत्न से भी न निकाला जा सकने वाला भक्ष्य पदार्थ का अंश) लेप सम्बन्ध तो प्रयुक्त अशौच से विलक्षण नहीं है। क्योंकि लेप को दाँत के समान कह देने से उसमें अशौच-सम्पादकता है ही नहीं और उसके कारण अशौच के अत्यन्तत्व की उक्ति भी संगत नहीं है।।३१।।

सव्रणः सूतकी पूयी मत्तोन्मत्त रजस्वलाः ।
मृतबन्धुरशुद्धश्च वर्ज्यान्यष्टौ स्वकालतः ॥३२॥

व्रणयुक्त, सूतकी, विकृत रक्तयुक्त (पूयी), मत्त, उन्मत्त, रजस्वला, मृतबन्धु, अशुद्ध व्यक्ति—ये आठ अपने-अपने काल में (जब-जब इनमें विकृति हो, जो ऊपर कही गयी हैं) वर्जनीय हैं।।३२।।

इति देवलेन क्षतवत एव सव्रणत्वेनापादानात्। किञ्च कालिकापुराणे—'स्मरणञ्च न विद्यते' इत्यनेनाऽन्याशौचशुद्धस्यापि मनसो दन्तरक्तपातेऽ-शुचित्वमिति सुव्यक्तमेव ॥३३॥

इस वाक्य से देवलकर्तृक क्षतवान का ही सव्रण रूप से (क्षतवान अर्थात् व्रणयुक्त) ही उपादान हुआ है। कालिका पुराण के 'स्मरणञ्च न विद्यते' इस वाक्य द्वारा अन्य अशौच में शुद्ध मन भी दाँतों के रक्तपात से अशुद्ध हो जाता है, यह सुस्पष्ट कहा गया है।।३३।।

व्रणे कृते इत्यत्र व्रणः क्षतम् ।

'व्रणे कृते' यहाँ व्रण है—क्षत।

तथा शातातपः—

दन्तलग्ने फले मूले भक्ष्यस्नेह तथैव च ।
ताम्बूले चेक्षुदण्डे च नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥३४॥

क्षतस्याशौचजनकत्वञ्च स्वजन्यरुधिरक्लेदपूयादिपातद्वारैव, न तु स्वतः तेन नीरक्तकर्णवेधान्नोपनयनबाधः ॥३५॥

शातातप ऋषि कहते हैं कि फल, मूल, भक्ष्य वस्तु की चिकनाई तथा ताम्बूल की लालिमा एवं ईख चूसने से उसके फांस यदि दाँत में लगे रह जाते हैं तब भी द्विज उच्छिष्ट नहीं होता। क्षत = क्षतजन्य रुधिर, क्लेद तथा पूयपात द्वारा अशौच होता है। इनका गिरना अशौच है। जब शरीर के अन्दर हैं तब अशौच नहीं है। ये स्वयमेव अशौच के जनक नहीं हैं। इसलिये रक्तपात-रहित कर्णवेध से उपनयन में बाधा नहीं होती।।३४-३५।।

नाभेरुद्ध्वमधो वापि यदि स्याद्रुधिरं स्रवः ।
नित्यन्तु तदहः कर्म कुर्वन्नरकमाप्नुयात् ॥३६॥

यस्य क्षरति शोणितमिति द्वितीयचरणः क्वचित् । तदहरित्यस्य कुर्वन्नि-त्यनेनाऽन्वयः, न तु कर्मेत्यनेन, वैयर्थ्यात्। अत्र सन्दंशन्यायेन नाभेरपि

ग्रहणम्, ततश्च शोणितक्षरणे नित्यं कर्म तदहर्न कुर्यादिति लब्धम्। कैमुतिकन्यायाच्च काम्यनैमित्तिकयोर्निषेधः। अत्र नित्यं अहरहः क्रियमानातिरिक्तम्, पूर्वोक्तवामनपुराणसंवादात्। तदहरित्यत्राहः सावनम्। स्रवणन्तु स्वस्थानादन्यत्र पतनम्। तेन पतनादेव दूषणाभावः ॥३७॥

'यस्य क्षरति शोणितम्' ऐसा द्वितीय चरण भी कहीं-कहीं देखा जाता है। उसका इस पद 'कुर्वन्' के साथ अन्वय है, किन्तु 'कर्म' पद के साथ अन्वय नहीं है; क्योंकि इससे नित्य पद की व्यर्थता आपतित होती। यहाँ संदंश न्याय से 'नाभि' को ग्रहण करे। तब इस प्रकार का अर्थ होगा कि शोणित क्षरित होने पर उस दिन नित्य कर्म न करे। कैमुतिक न्याय से काम्य कर्म तथा नैमित्तिक कर्म का भी निषेध होता है। यहाँ पूर्वोक्त वामन पुराण के संवाद-अनुसार नित्य होता है—अहरहः क्रियमाण कर्म के अतिरिक्त कर्म। इसलिये यहाँ अहः (दिन) सावन दिन है। स्रवण है—स्वस्थान से अन्यत्र पतन। अतः पतन के अभाव में दोष का अभाव होता है। अर्थात् रक्तादि का पतन न होने पर कोई दोष नहीं होता है।।३६-३७।।

तत्रापि विशेषः कालिकापुराणे—

जानूर्ध्वं क्षतजे जाते नित्यकर्माण्यपि त्यजेत्।
नैमित्तिकन्तु तदधः स्रवद्रक्तो न चाचरेत् ॥३८॥

अत्र नित्यपदमहरहः क्रियमाणमात्रपरम्। अत्र तु कारणे नित्यकर्मव्यावृत्त्या जान्वधःक्षरणे अहरहः कर्त्तव्यस्य न त्याग इति सिद्धम् ॥३९॥

यहाँ कालिकापुराण में विशेषतः कहा गया है कि जानु से ऊपर के अंगों में क्षतजनित रक्तस्राव होने पर नित्य कर्म का आचरण न करे। जानु के अधोभाग में रक्तस्राव वाला व्यक्ति नैमित्तिक कर्म का भी अनुष्ठान न करे। यहाँ 'नित्य' पद अहरहः क्रियमाण नित्य कर्ममात्रपरक है। यहाँ 'तु'कार द्वारा नित्य कर्म की व्यावृत्ति द्वारा जानु के अधोभाग में रक्तक्षरण में व्यक्ति नैमित्तिक कर्म का भी अनुष्ठान न करे—यह सिद्ध हो जाता है।।३८-३९।।

तत्र यद्यपि जानूर्ध्वक्षरणेऽपि क्षलनादेवाहरहः कर्माधिकारस्तदधोऽपि तथात्वेऽविशेषान्नैमित्तिकं त्वित्यत्र तदध इति विशेषोऽभिधानं व्यर्थं स्यात्, तथापि जानूर्ध्वक्षरणे क्षालन एव जान्वधःक्षरणे क्षालनाक्षालनयोरहरहः कर्त्तव्यस्य त्याग इति तात्पर्यार्थः। प्रात्यहिकातिरिक्तन्तु नित्यं काम्यं नैमित्तिकञ्च क्षालनाक्षालनयोरेव न कर्त्तव्यमिति निष्कर्षः ॥४०॥

यद्यपि यहाँ जानु के ऊपर हुये क्षत का प्रक्षालन होते ही अहरहः कर्त्तव्य कर्म का

अधिकार हो जाता है, उसके अधोदेश से रक्तक्षरण से, इसी प्रकार नित्य कर्म में अधिकार होने में कोई विशेष न होने से 'नैमित्तिकं तु' यहाँ 'तदध:' यह विशेष उक्ति व्यर्थ होती है तथापि जानु के ऊर्ध्व में रक्तक्षरण के प्रक्षालन की तरह अर्थात् ऊर्ध्व से क्षरित (जानु के ऊर्ध्व से क्षरित) रक्त के प्रक्षालन के पश्चात् नैमित्तिक कर्म कर सकते हैं—इस न्यायानुसार जानु के अधोदेश से रक्तक्षरण से प्रक्षालन तथा अक्षालन में अहरह: कर्त्तव्य नित्य कर्म का त्याग होगा—यह तात्पर्य है (अर्थात् जानु के नीचे यदि रक्त बह रहा है तब वह प्रक्षालन से भी शुद्ध नहीं होगा। प्रात्यहिक (प्रतिदिन) के कर्म के अतिरिक्त नित्य, काम्य तथा नैमित्तिक कर्म में प्रक्षालन-अप्रक्षालन भी कर्त्तव्य नहीं है, यह निष्कर्ष है।।४०।।

ननु क्षालनशुद्धिवचनं क्षतजस्रावं विना क्षतजसंयोगमात्रपरम्, जानूद्र्ध्वमित्यादि कालिकापुराणे विरोधादिति चेन्न प्रागुक्तवचनैः क्षताद्यशौचेऽपि नित्यकर्माधिकारसिद्धेस्तत्रापि क्षालनशुद्धेरुपयुक्तत्वात् ॥४१॥

अच्छा 'जानुदूर्ध्वमित्यादि' कालिकापुराण के वचन के सहित विरोध हो रहा है। इसलिये क्लेदप्रभृति का ग्रहण नहीं होगा; अपितु चोट से रक्त बहने का अर्थ ग्रहण होगा—यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पूर्वोक्त वचन द्वारा क्षतादि-जनित अशौच में भी नित्य कर्म का अधिकार सिद्ध होता है। वहाँ भी प्रक्षालनजनित शुद्धि की उपयुक्तता है।।४१।।

अथात्र क्षतजग्रहणात् क्लेदाद्यसंग्रहे इति चेन्न, पूयक्लेदादेरपि क्षतजत्वात् योगार्थस्याविशेषात् क्षतजपदस्योपलक्षणपरत्वाद् वा। क्षतञ्च विदीर्णावयवविशेषः अविदीर्णावयवाद्रुधिरादिक्षरणासम्भवात्। वैधकर्ममात्रं प्रति क्षतजाशौचत्वेन प्रतिबन्धकता क्षालनोत्तरप्रात्यहिकेऽसम्भवात्। नापि क्षालनवदन्यक्षताशौचत्वेन, क्षालनेऽप्याह्निकश्राद्धकरणप्रसङ्गात् ॥४२॥

यदि उपरोक्त वचनों से यह प्रतीत हो रहा हो कि यहाँ क्षतज रक्त का तात्पर्य है, क्लेदप्रभृति नहीं, तो यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि क्लेद, पूयप्रभृति सभी क्षत (चोट आदि से) से उत्पन्न होते हैं। क्षतज रक्त और क्लेद-पूयप्रभृति में कोई विशेषता नहीं है। क्षतज पद तो पूय, क्लेदप्रभृति का उपलक्षणपरक है। जो अंग विदीर्ण नहीं है, वहाँ से रुधिर आदि का क्षरण सम्भव नहीं है, अत: क्षत का तात्पर्य है—विदीर्ण अवयवविशेष। प्रक्षालन के पश्चात् प्रात्यहिक नित्य कर्म में क्षतज अशौच सम्भव नहीं होने से वैध कर्ममात्र के प्रति क्षतज अशौच (अशौच रूप से) प्रतिबन्धक है—किन्तु प्रक्षालन न्याय अन्य क्षताशौचत्वरूप से प्रतिबन्धक नहीं है; क्योंकि उससे प्रक्षालन

भी वार्षिक श्राद्धकरण का प्रसंग हो जायेगा (अर्थात् प्रक्षालन के अनन्तर वार्षिक श्राद्ध कर सकते हैं)।।४२।।

स्वतंत्रास्तु स्रवद्रक्तो न चाचरेदित्यत्र स्रवन् निर्देशात् क्षरणकाल एव क्षताशौचम्, तेन तदनन्तरप्रक्षालनादपि कर्माधिकार इति वदन्ति ॥४३॥

स्वतन्त्र गण यह कहते हैं कि 'स्रवद्रक्तो न चाचरेत्' यहाँ स्रवत् शब्द के निर्देश हेतु रक्त का क्षरण काल (जब तक रक्त गिरता रहता है) ही क्षताशौच का काल है। अन्य काल क्षताशौच नहीं है। अत: रक्तक्षरण-प्रक्षालन (रक्त गिरना बन्द होने पर धोकर) से ही कर्म का अधिकार मिल जाता है।।४३।।

नन्वेवं रजस्वलाशौचेऽपि नित्याधिकारः स्यादहरहः कर्त्तव्यस्य कुत्राप्य-निषेधादिति चेन्न ॥४४॥

अच्छा, यह होने पर रजस्वला अशौच में भी नित्य कर्म का स्त्री को अधिकार हो जाता; क्योंकि उसे अहरह: कर्त्तव्य कर्म का कहीं भी निषेध नहीं है, यदि ऐसा कहा जाय—ना ऐसा नहीं कहा जा सकता।।४४।।

स्त्रीधर्मिणी त्रिरात्रन्तु स्वमुखं नैव दर्शयेन्न दन्तान् धावयेत् ॥४५॥

क्योंकि स्त्री के लिये तो यह नियम है कि रजस्वला होने पर तीन रात्रि-पर्यन्त दर्पणादि में अपना मुख न देखे, दन्तधावन तक न करे।।४५।।

इत्यादिषु लौकिककर्मणोऽपि त्यागबोधनात् जननमरणाशौचाभ्यामपि रजस्वलाशौचस्य गुरुत्वाज्जननमरणाशौचत्याज्यानां तत्र सुतरां त्यागात् ॥४६॥

इत्यादि वचन में लौकिक कर्म का भी त्याग ज्ञापित हुआ है और जनन-मरण अशौच होने पर भी रजस्वलाशौच की प्रधानता के कारण जननाशौच तथा मरणाशौच में त्याज्य कर्मसमूह रजस्वला अशौच में भी त्याज्य हैं।।४६।।

कालिकापुराणे—

नेत्रके च समुत्पन्ने क्षुरकर्मणि मैथुने।
धूमोद्गारे तथा वान्ते नित्यकर्मणि सन्त्यज्येत् ॥४७॥
द्रव्ये भुक्ते ह्यजीर्णे च नैव भुक्त्वापि किञ्चन।
कर्म कुर्यान्नरो नित्यं सूतके मृतके तथा ॥४८॥

कालिकापुराणानुसार नेत्र से जल बहने पर, क्षौर कर्म में, मैथुन में, निद्रा के उद्गार में तथा वमन में नित्य कर्म का त्याग करना चाहिये। भोजन से अजीर्ण होने पर मनुष्य कुछ खाकर नित्य कर्म न करे। जननाशौच तथा मरणाशौच में भी नित्य कर्म नहीं करना चाहिये।।४७-४८।।

गुरुमाक्षिप्य विप्रञ्च प्रहृत्यैव च पाणिना।
न कुर्यान्नित्यकर्माणि रेतःपाते च भैरव ॥४९॥

हे भैरव! गुरु का तिरस्कार करके, ब्राह्मण पर हाथों से प्रहार करके तथा वीर्यपात में नित्य कर्म न करे।।४९।।

अत्रापि नित्यमहरहः कर्मातिरिक्तम्। नेत्रके जले अश्रुमित्यर्थः। द्रव्य इति। भुक्ते द्रव्ये जीर्णताम्रपात्रे इत्यर्थः। मैथुने रेतःपातसत्त्वेऽपि मैथुनस्य पृथगुपादानं रेतःक्षालनेऽपि कर्माधिकारज्ञापनार्थम्। काम्यादावधिकदोषार्थं वेति नव्याः ॥५०॥

यहाँ नित्य है—अहरहः कर्त्तव्य कर्म से अतिरिक्त कर्म। नेत्रके = अश्रु। द्रव्य का अर्थ है—खाये हुये भोजन का न पचना। मैथुन में रेतःपात होने पर रेतःप्रक्षालन में भी कर्म के अनधिकार-ज्ञापनार्थ यहाँ मैथुन को पृथक् रूप से कहा गया है। अथवा काम्यादि कर्म में अधिक दोष दिखलाने के लिये इसे पृथक् रूप से कहा गया है। यह नव्यगण कहते हैं।।५०।।

क्षौरादिषु विशेषमाह ब्रह्मपुराणम्—

श्मश्रु कर्माश्रुपातञ्च मैथुनं कूर्दनं तथा।
अस्पृश्यस्पर्शनं कृत्वा स्नायाद् वर्ज्या जलक्रिया ॥५१॥

क्षौरादि अश्रुपात विषय में ब्रह्मपुराण में विशेषतः कहा गया है कि श्मश्रु (क्षौर) कर्म, अश्रुपात, मैथुन, कूर्दन (वमन) तथा अस्पृश्य-स्पर्शन में स्नान करना चाहिये, परन्तु इसमें जल में तीर्थ का आवाहनादि वर्जित है।।५१।।

श्मश्रुकर्म = क्षौरम्। मैथुनं ऋत्वभिगमनम्। कूर्दनं = वमनम्। स्नायात् जलावगाहनमात्रं कुर्यात्। न तु तीर्थावाहनादिकमपि जल-क्रिया, तां न कुर्यादित्यर्थः। अत्र तीर्थावाहनादिनिषेधस्तत्तत् क्रियाजन्याप्रायत्यनाशक-स्नाने तदुत्तरकर्माधिकारितासम्पादकपुनःस्नाने तु सर्वकार्यमिति श्रीदत्ता-दयः ॥५२॥

श्मश्रुकर्म = क्षौरकर्म। मैथुन = ऋतुमती स्त्री से सहवास। कूर्दन = वमन। स्नायात् = जल में अवगाहनमात्र। लेकिन तीर्थ में अवगाहन अथवा तीर्थ का आवाहन (जल में) न करे। तीर्थावाहनादि निषेध का तात्पर्य उन-उन क्रिया के लिये अनियम-नाशक स्नान तथा उसके परवर्त्ती कर्माधिकार-सम्पादक पुनः स्नान करके समस्त कार्य करे। यह श्रीदत्तप्रभृति कहते हैं।।५२।।

एवञ्च क्षौराश्रुपातऋत्वभिगमनवमनास्पृश्यास्पर्शनेषु तत्कालिकमप्रायत्यं जायते। तत् तु स्नानापनेयम्। ततश्च तेषु मज्जनस्नानं कृत्वा पश्चाद् वैधस्नानादि कुर्यादिति तत्त्वम् ॥५३॥

क्षौर, अश्रुपात, स्त्री-सहवास, वमन तथा अस्पृश्य-स्पर्शन से तात्कालिक अनियम स्पष्ट होता है। वह स्नान द्वारा हटता है। अतएव इन सब दोषों में पहले (सामान्य) स्नान करके तदनन्तर वैध स्नान करना चाहिये। यही तत्त्व है।।५३।।

प्राञ्चस्तु श्मश्रुकर्मादि कृत्वा स्नायात्। तत्कालीनाप्रायत्यप्रशमनायेति शेषः। जलक्रिया तीर्थावाहनादिरूपा वर्ज्येव। क्षौरादिकरणदिने तर्पणादिकं न कर्त्तव्यमेवेत्यर्थ इत्याहुः ॥५४॥

प्राचीन गण यह कहते हैं कि क्षौरकर्मादि के पश्चात् स्नान करे। उस समय के अनियम का नाश करने के लिये स्नान करना चाहिये। उस समय जल में तीर्थादि का आवाहनरूप जलक्रिया वर्जित है। क्षौरादि करने के दिन तर्पणादि न करे, इसका यही तात्पर्य है।।५४।।

औषधार्थं जलादिभोजनादपि न तद्दिवसीयक्रियानिवृत्तिरित्याह ॥५५॥

कालिकापुराणम्—

पत्रं पुष्पञ्च ताम्बूलं भेषजत्वेन कल्पितम्।
कणादिपिप्पलीञ्चैव फलं भुक्त्वा क्रियां चरेत् ॥५६॥

औषध के लिये जलादि, भोजनादि-हेतु उस दिन की क्रियानिवृत्ति नहीं होती।।५५।।

कालिका पुराण में कहते हैं कि औषधरूप में कल्पित पत्र, पुष्प, ताम्बूल, कण-प्रभृति, पिप्पली तथा फल का भक्षण करके क्रिया का आचरण करे।।५६।।

जलस्यापि नरश्रेष्ठ! भोजनाद् भेषजादृते।
नित्यक्रियां निवर्त्तेत सह नैमित्तिकैः सदा ॥५७॥

हे नरश्रेष्ठ! भेषज के अतिरिक्त जल, भोजन में भी सर्वदा नैमित्तिक कर्म के साथ नित्यक्रिया निवर्त्तित होती है।।५७।।

कणस्तण्डुलादि सूक्ष्मावयवः।

कण अर्थात् तण्डुलादि का सूक्ष्म टुकड़ा।

गोभिलः—

इक्षुरापः पयश्चैव ताम्बूलं फलमौषधम्।
भक्षयित्वा तु कर्त्तव्या स्नानदानादिकाः क्रियाः ॥५८॥

गोभिल कहते हैं कि ईख, जल, दूध, ताम्बूल, फल तथा औषध भक्षण करके स्नान, दान प्रभृति क्रिया करे।।५८।।

कालिकापुराणे—

विशेषतः शिवापूजां प्रमीतपितृको नरः।
यावत् वत्सरपर्यन्तं मनसापि न चाचरेत्॥५९॥

कालिकापुराण में कहा गया है कि जिस व्यक्ति के पिता-माता प्रमीत (मृत हैं), वह उनकी मृत्यु के एक वर्ष-पर्यन्त मन के द्वारा भी शिवा-पूजा का आचरण न करे।।५९।।

अत्र पिता च माता च पितरौ, प्रमीतौ पितरौ यस्य स इत्यर्थः। इदञ्च नित्यपूजेतरपरम्॥६०॥

प्रमीतपितृक पद के स्थल पर 'पिता च माता च' इस द्वन्द्व समास में एकशेष होकर 'पितरौ' पद निष्पन्न होता है। तत्पश्चात् 'प्रमीतौ पितरौ यस्य पुरुषस्य' वह प्रमीतपितृक पद होता है। यह नर का विशेषण है। यह नित्य पूजा-भिन्नपरक है।।६०।।

यथा तत्रैव—

महागुरुनिपातेषु काम्यं किञ्चिन्न चाचरेत्।
आर्त्विज्यं ब्रह्मयज्ञञ्च श्राद्धं देवयुतञ्च यत्॥६१॥

तेन स्त्रिया अपि पतिमरणवर्षे न काम्याधिकारः तस्यास्तस्यैव महागुरुत्वात्॥६२॥

उसी कालिका पुराण में आगे कहा है कि महागुरु के परलोक-गमन के वर्ष में कुछ भी काम्य कर्म, पौरोहित्य कर्म न करे। जिस श्राद्ध में विश्वेदेव की युक्तता हो, वह भी न करे। ऐसे ही स्त्री भी स्वामी-मरण के एक वर्ष-पर्यन्त काम्य कर्म न करे। उसके लिये पति ही महागुरु है।।६१-६२।।

कालिकापुराणे—

त्रिमुहूर्त्तं पूजयेत्तु देवीं त्रिपुरभैरवीम्।
न जपेत् त्रिंशता न्यूनं साधकस्तु कदाचन॥६३॥
अङ्गुष्ठमध्यमानामाङ्गुलिभिस्तिसृभिः पुनः।
सदा पुष्पादिकं दद्यान्मालाञ्च त्रिगुणां चरेत्॥६४॥

कालिका पुराण के अनुसार साधक त्रिपुरभैरवी का पूजन तीन मुहूर्त्त-पर्यन्त करे। कभी भी ३०० संख्या से कम जप न करे। अंगूठा, मध्यमा तथा अनामिका द्वारा सर्वदा पुष्प आदि प्रदान करे। त्रिगुणा माला करे।।६३-६४।।

चर्मासनमधिष्ठाय पश्चात् कृत्वा पदद्वयम्।
पूजयेन्निर्जने देशे साधको नान्यमानसः ॥६५॥

साधक चंचलचित्त न होकर (एकाग्र होकर) चर्मासन पर बैठकर दोनों पैर पीछे करके निर्जन स्थान पर पूजा करे।।६५।।

आसादयेत्तु पुष्पादिं नैवेद्यादि च यद्भवेत्।
तद् वामहस्तमुख्येन सततं साधको बुधः ॥६६॥

विद्वान् साधक बाँयें हाथ को मुख्य करके उससे पुष्प, नैवेद्यादि जो भी सम्भव हो सके, प्रदान करे।।६६।।

त्रिछिद्रा त्रिपुरा प्रोक्ता न सम्यक् पूजिता यदि।
शरीरे निन्दितव्याधिर्जायतेऽवश्यमेव हि ॥६७॥
अवश्याः पुत्रदाराश्च भृत्त्वाद्याश्च भवन्ति हि।
शस्त्रघाताद्भवेत् सम्यक् प्राणत्यागो ह्यसंशयम् ॥६८॥

त्रिपुरा देवी त्रिछिद्रा कही गयी हैं। यदि वे भली-भाँति पूजित नहीं होती तब साधक के शरीर में निन्दित व्याधि का उदय होता है तथा स्त्री, पुत्र, भृत्य प्रभृति वश में नहीं रहते (मनमाने हो जाते हैं)। ऐसे साधक की शस्त्राघात से मृत्यु होती है।।६७-६८।।

कालिकापुराणे—

एवन्तु वाम्यभावेन यजेत् त्रिपुरभैरवीम्।
बालान्तु वामदाक्षिण्यभावाभ्यामपि पूजयेत् ॥६९॥

कालिका पुराण में यह भी कहते हैं कि इस प्रकार वामभाव से त्रिपुरभैरवी का पूजन करे। बाला देवी की वाम तथा दक्षिणभाव से पूजा करनी चाहिये।।६९।।

श्मशानभैरवीं देवीमुग्रतारां तथैव च।
उच्छिष्टभैरवीं चण्डीं तारां त्रिपुरभैवरीम्।
एतास्तु वामभावेन पूज्या दक्षिणतां विना ॥७०॥

श्मशानभैरवी, उग्रतारा, उच्छिष्टभैरवी, चण्डी, तारा, त्रिपुरभैरवी का पूजन दक्षिणभाव छोड़कर वामभाव से करे।।७०।।

ऋषीन् देवान् पितॄंश्चैव मनुष्यान् भूतसञ्चयान्।
यो यजेत् पञ्चभिर्यज्ञैर्ऋणानि परिशोधयन् ॥७१॥

जो ऋणसमूह का परिशोधन (ऋण चुकाने) करने के लिये पाँच यज्ञों द्वारा ऋषि-गण, देवगण, पितृगण, मनुष्यगण तथा भूतगण की पूजा करते हैं।।७१।।

विधिवत् स्नानदानाभ्यां कुर्वन् यद्विधिपूजनम्।
क्रियते सरहस्यन्तु तद् दक्षिणमिहोच्यते ।।७२।।

तथा विधिवत् स्नान-दान करके विधिवत् पूजन करते हैं, रहस्यसहित पूजन करते हैं, उन्हें 'दक्षिण' कहा जाता है।।७२।।

सर्वत्र पितृदेवादौ यस्माद् भवति दक्षिणः।
देवी च दक्षिणा यस्मात्तस्माद् दक्षिण उच्यते ।।७३।।

क्योंकि वे पितृ, देवप्रभृति समस्त विषय में अनुकूल (दक्षिण) होते हैं और उनके लिये देवी भी दक्षिणा (अनुकूला) होती हैं, इसी कारण उनको भी 'दक्षिण' कहा जाता है।।७३।।

या पुनः पूज्यमाना तु देवादीनाञ्च पूर्वतः।
यज्ञभागं स्वयं धत्ते सा वामा तु प्रकीर्त्तिता ।।७४।।

जो देवादि गण के पूर्व ही पूज्यमाना होती हैं, यज्ञभाग स्वयं ग्रहण करती हैं, उन्हें 'वामा' कहा जाता है।।७४।।

पञ्चयज्ञान्न वा कुर्यात् कुर्याद्वा वामपूजने।
अनन्यपूजाभागं हि यतो गृह्णाति वामिका ।।७५।।

हे सूत! पंचयज्ञ करे अथवा न करे, वाम की पूजा में वामिका अन्य की पूजा भाग ग्रहण कर लेती है। अतएव वहाँ पूजक सर्वदा वाम है।।७५।।

यः पूजयेद् वाम्यभावैर्न तस्य ऋणशोधनम्।
पितृदेवनरादीनां जायते च कदाचन ।।७६।।

जो वामभाव समूह द्वारा पूजन करते हैं, उनका कभी भी पितृ, देव, नरादि ऋण-शोधन नहीं होता है।।७६।।

योऽभ्यस्य त्रिपुरायोगं तेन योगेन संयुतः।
जायते यदि सुप्रज्ञस्तदा मोक्षमवाप्नुयात् ।।७७।।

जो व्यक्ति त्रिपुरायोग का अभ्यास करता है, उस योग से संयुक्त होता है, यदि उन्हें सुप्रज्ञा प्राप्त होती है तब वे मोक्ष प्राप्त करते हैं।।७७।।

न च मोक्षश्चिरेणैव जायते त्रैपुरः पुनः।
ऋणाशोधनजैः पापैः प्रक्रान्तस्य च भैरव ।।७८।।

हे भैरव! ऋण के शोधन न होने से पापसमूह से आक्रान्त व्यक्ति को अति विलम्ब से मोक्ष प्राप्त होता है।।७८।।

तथा तत्रैव—

कामेश्वरीन्तु कामाख्यां पूजयेत्तु यदृच्छया।
दाक्षिण्याद्वामभावाद्वा सर्वथा सिद्धिमाप्नुयात् ॥७९॥

वहाँ और भी कहते हैं कि दक्षिण भाव द्वारा अथवा वाम भाव द्वारा जैसी भी इच्छा हो, कामेश्वरी कामाख्या का पूजन करे। उससे सभी सिद्धि प्राप्त होती है।।७९।।

महामायां शारदान्तु शैलपुत्रीं तथैव च।
यथा तथा प्रकारेण दाक्षिण्यमेव पूजयेत् ॥८०॥

महामाया, शारदा, शैलपुत्री की पूजा दक्षिण भाव से अथवा किसी भी भाव से करनी चाहिये।।८०।।

स पापः सर्वलोकेभ्यश्च्युतो भवति रोगधृक्।
यो दाक्षिण्यविना भावं महामायां समर्चति ॥८१॥

जो दक्षिण भाव के विना महामाया की अर्चना करता है, वह पापी व्यक्ति रोगयुक्त होकर समस्त लोकों से च्युत हो जाता है।।८१।।

अन्यास्तु शिवदूताद्या देव्या याः पूर्वमीरिताः।
तास्तु वामात्तु दाक्षिण्यात्पूजितव्यास्तु साधकैः ॥८२॥

जो अन्यान्य शिवदूती-प्रभृति देवीगण हैं, वे साधकों द्वारा वामभाव तथा दक्षिणभाव से पूजिता होती हैं।।८२।।

किन्तु यः पूजको वामः सौम्याशापरिवर्जितः।
सर्वाशापूरकः स्यात्तु दक्षिणस्तेन उत्तमः ॥८३॥

हे सौम्य! जो पूजक वाम हैं, वे समस्त आशा से रहित होते हैं। जो दक्षिण हैं, वे समस्त आशा के परिपूरक होते हैं। अतः दक्षिण भाव ही उत्तम है।।८३।।

तथा तत्रैव—

भैरवो वामभावेन पूज्यो मद्यादिभिः सदा।
विष्णोर्वामात्मिका मुक्तिर्नरसिंहाह्वयो भवेत्।
स तु दक्षिणवामाभ्यां पूजनीयं सदा बुधैः ॥८४॥

कालिकापुराण में आगे कहते हैं कि भैरव वाम भाव से मद्यादि द्रव्य द्वारा सदा पूज्य हैं। विष्णु की वामात्मिका मूर्त्ति है—नरसिंह। विद्वान् लोग उन्हें सदा दक्षिण तथा वामभाव से पूजते रहते हैं।।८४।।

तथैव बालगोपालमूर्त्तिर्जरायुवेष्टितः ।
मद्यमांसाशने भोगी लोलुपः स्त्रीषु सर्वदा ।।८५।।
लक्ष्म्यास्तु वामिका मूर्त्तिरुक्ता दहनभैरवी ।
याग्निदाहं पुरग्राममन्दिरेषु करोत्यलम् ।।८६।।
स्वपूजिता महालक्ष्मीर्देहल्यां तांस्तु पूजयेत् ।
वाग्भैरवी सरस्वत्या वामिका मूर्त्तिरीरिता ।।८७।।

इसी प्रकार जरायु से लिपटे बालगोपाल की मूर्त्ति भी मद्य-मांसभोजी, भोगी तथा स्त्रीलोलुप कही गयी है। चण्डिका की अनेक वामिका मूर्त्ति का उल्लेख मिलता है। लक्ष्मी की वामिका मूर्त्ति दहनभैरवी कहलाती है। ये भली प्रकार से पूजिता न होने पर पुर, ग्राम तथा मन्दिर को अवश्य जला देती हैं। इसलिये इनकी पूजा देहली पर करनी चाहिये। वाग्भैरवी सरस्वती की वामिका मूर्त्ति का विवरण मिलता है।।८५-८७।।

तस्या मन्त्रः पुरा प्रोक्तः शुक्लवर्णा तु सा स्मृता ।
मध्यायास्त्रिपुरायास्तु रूपं ध्यानमिहोच्यते ।।८८।।

उनका मन्त्र पहले कहा जा चुका है। वे शुक्ल वर्ण की हैं। मध्या त्रिपुरा का रूप-ध्यान इसी प्रकार का है।।८८।।

मार्त्तण्डभैरवो नाम मूर्त्तिः सूर्यस्य कीर्त्तिता ।
गणेशस्यापि वेतालः कथितो वामनामकः ।
एते वाम्येन भावेन पूजनीया विशेषतः ।।८९।।

सूर्य की भी मार्तण्डभैरव नाम्नी मूर्त्ति प्रसिद्ध है। गणेश का वाम नाम बेताल कहा गया है। ये वाम भाव से पूजित होते हैं।।८९।।

ब्रह्मयामले—

शिव उवाच

यदा श्रीत्रिपुरादेवी तदा त्रिपुरभैरवः ।
भैरवी त्वं यदा देवी भैरवोऽहं तदा स्वयम् ।।९०।।

ब्रह्मयामल में शिव भगवान् कहते हैं कि जब तुम त्रिपुरभैरवी होती हो, तब मैं त्रिपुरभैरव तथा जब तुम भैरवी होती हो, तब मैं भैरव हो जाता हूँ।।९०।।

यदा काली तदा कालः कामिनी काम एव च ।
लक्ष्मीर्विष्णुस्तदा वाणी वागीश्वर इति स्मृतः ।।९१।।

भगवान् कहते हैं कि जब तुम काली हो तब मैं काल हूँ। जब तुम कामिनी हो

तब मैं काम हूँ, जब तुम लक्ष्मी हो तब मैं विष्णु हूँ और जब तुम वाणी हो, तब मैं वागीश्वर हूँ।।९१।।

यदा चाण्डालिनी देवी तदा चाण्डाल एव च।
त्वया विना महादेवि! नाहं कर्त्ता न च प्रभुः।
इति मत्वा महादेवि! भेदञ्चात्र न कल्पयेः।।९२।।

जब तुम चाण्डालिनी होती हो तब मैं चाण्डाल हूँ। हे महादेवि! तुम्हारे विना न तो मैं कर्त्ता हूँ और न ही प्रभु। हे महादेवि! यह याद करके तुम भेद की कल्पना न करो।।९२।।

वामेन दक्षिणेनापि योऽर्चयेत् किञ्चिदेव यत्।
तत् सर्वमावयोर्देवि पितरौ जगतां यतः।।९३।।

हे देवि! जो वाम भाव से अथवा दक्षिण भाव से तनिक भी अर्चना करते हैं, वह समस्त अर्चना हम दोनों की ही पूजा है; क्योंकि हम ही जगत् के माता-पिता हैं।।९३।।

इति वचनादुभयोरेव श्मशानादिसाधनमविरुद्धमिति।।९४।।

इन वचनों के अनुसार भैरवी-भैरव का श्मशानादि में साधन अविरुद्ध है।।९४।।

कूर्मपुराणे हिमालयं प्रति देवीवाक्यम्—

यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते लोकेऽस्मिन् विविधानि च।
श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि निष्ठा तेषां हि तामसी।।९५।।

कूर्मपुराण में भगवती पर्वतराज हिमवान से कहती हैं कि इस लोक में जो श्रुति-स्मृतिविरुद्ध शास्त्र देखा जाता है, उनकी निष्ठा तामसी होती है।।९५।।

करालभैरवञ्चापि यामलं नाम यत् कृतम्।
एवंविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु।
मया सृष्टानि चान्यानि मोहायैषां भवार्णवे।।९६।।

कराल भैरव तथा यामल नाम से जो कुछ किया जाता है (मैं करती हूँ) एवं इस प्रकार से जो-जो है, वह समस्त मोहन के लिये किया है। इस भवार्णव में उनके मोह के लिये अन्यान्य शास्त्र मेरे द्वारा ही सृष्ट किया गया है।।९६।।

तस्मात् श्रुतिस्मृतिविरुद्धवर्त्मनि सद्भिः कदापि पदं न न्यस्तव्यम्। दक्षिण एव साधीयानिति तत्त्वम्।।९७।।

अतएव श्रुति तथा स्मृतिविरुद्ध पक्ष पर सज्जन कभी भी पैर नहीं रखते। दक्षिणभाव ही सर्वापेक्षा साधु मत है। यही तत्त्व है।।९७।।

ननु विष्णुमन्त्रोपासनया सर्वकामसिद्धिर्भविष्यति किं शक्तौ यत्नः क्रियते, तथा च श्रुतिः योऽविद्यामुपास्ते सोऽन्धं तमः प्रविशतीति। मैवम्, अत्राविद्यापदेन संसारनियतिरूपाऽविद्योच्यते इति सुरेश्वराचार्यादयः।

अपि च विष्णूपासनायां न्यासादौ दुर्गाया देवतात्वमुक्तम्। किञ्च ब्रह्म-विष्णुशिवाद्याराध्यायाः शक्तेर्वचनया सर्वसिद्धिरिति तत्त्वम् ॥९८॥

जब कहते हैं कि विष्णुमन्त्र से सर्वसिद्धि मिलती है, तब शक्ति की उपासना किसलिये? इसीलिये श्रुति का कथन है कि जो अविद्या की उपासना करता है, वह तमः लोकों में जाता है। ना, ऐसा नहीं कहा गया; क्योंकि यहाँ अविद्या पद द्वारा संसार तथा नियतिरूपा अविद्या का तात्पर्य है। यह सुरेश्वराचार्य प्रभृति का कथन है। और भी बताया जाता है कि विष्णु की उपासना के न्यासादि में दुर्गा का देवतात्व कहा गया है और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवादि देवगण की आराध्या शक्ति की अर्चना से सभी सिद्धियाँ मिलती हैं—यह भी कहा गया है। यही तत्त्व है।।९८।।

तथाच—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः ।
शिवापदाम्भोजयुगार्चकानां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥९९॥

यह भी कहा गया है कि जिस उपासना में भोगफल मिलता है, उससे मोक्ष नहीं मिलता। जिस उपासना से मोक्ष प्राप्त होता है, उससे भोग नहीं मिलता; परन्तु भगवती शिवा के चरणकमल के पुजारी को दोनों ही हस्तामलकवत् प्राप्त होते हैं।।९९।।

ऊर्ध्वाम्नाये—

योऽन्येभ्यो दर्शनेभ्यश्च भुक्तिं मुक्तिञ्च काङ्क्षति ।
स्वप्नलब्धधनेनैव धनवान् स भवेद्यदि ॥१००॥

ऊर्ध्वाम्नाय में कहते हैं कि जो व्यक्ति अन्य शास्त्रों का अनुयायी होकर भुक्ति तथा मुक्ति की कामना करता है, वह मानो सपने में धन प्राप्त करके धनी होना चाहता है। अर्थात् वह कल्पना में ही धनी हो सकता है, यथार्थ में नहीं।।१००।।

शुक्तो रजतविभ्रान्तिर्यथा ज्ञायेत पार्वति! ।
तथान्यदर्शनेभ्यश्च भुक्तिं मुक्तिञ्च काङ्क्षति ॥१०१॥

हे पार्वति! जैसे बालू में चाँदी के कण पाने का भ्रम होता है, वैसे ही अन्य शास्त्रों से भुक्ति तथा मुक्ति की कामना करना भी भ्रम है।।१०१।।

यामले—

आगमे सर्वविद्याश्च आगमे सर्वसम्पदः ।
आगमे सर्वयज्ञाश्च सर्वशास्त्राणि चागमे ॥१०२॥
आगमे देवि! वेदा हि आगमाच्च परा गतिः ।
येऽभ्यस्यन्ति त्विदं शास्त्रं पठन्ति पाठयन्ति वा ।
सिद्धयोऽष्टौ करे तेषां धनधान्यर्द्धि सूनरः॥१०३॥

यामल में कहते हैं कि आगमों में सभी विद्यायें हैं। उसमें समस्त सम्पत्तियाँ हैं। उसमें समस्त यज्ञ हैं, समस्त शास्त्र हैं। भगवान् कहते हैं कि हे देवि! उसमें समस्त वेदार्थ है। उससे श्रेष्ठ गति मिलती है। जो इनका पाठ करता है अथवा पढ़ाता है, उसके पास अष्टसिद्धि रहती है। उसे धन-धान्य तथा पुत्ररूपी समृद्धि प्राप्त होती है।।१०२-१०३।।

आदृता शिवलोकेषु भोगिनः क्षोभकारक! ।
आप्नुवन्ति परं ब्रह्म सर्वशास्त्रविशारदाः ॥१०४॥

हे क्षोभकारक भैरव! ऐसे लोग भोगसम्पन्न (होकर) शिवलोक में आदर पाते हैं। वे सर्वशास्त्र-विशारद होकर परब्रह्म की प्राप्ति करते हैं।।१०४।।

तथा—

आगतः शिववक्त्रेभ्यो गतश्च गिरजामुखम् ।
मतश्च वासुदेवेन चागमन्तेन कथ्यते ॥१०५॥

और भी कहते हैं कि यह शास्त्र शिव के पंचमुख से आकर गिरजा देवी के मुख में गया; साथ ही यह वासुदेव का मत है तभी इसे आगम कहते हैं।।१०५।।

ताराप्रदीपे—

आगमोक्तविधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः ।
न हि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः ॥१०६॥

ताराप्रदीप के अनुसार पण्डित कलिकाल में आगमोक्त विधान से देवी की अर्चना करें। कलिकाल में अन्य विधान से देवता प्रसन्न नहीं होते।।१०६।।

कृते श्रुत्यर्थमार्गः स्यात् त्रेतायां स्मृतिसम्भवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः ॥१०७॥

एतेन शिवप्रणीततयागमशास्त्रस्य निःसन्देहफलकत्वेन सर्वदर्शनापेक्षया समुत्कर्षः ॥१०८॥

सत्ययुग में श्रुति-प्रदर्शित पथ ही पथ है, त्रेता में स्मृति में प्रदर्शित पथ का अनुसरण किया जाता है, द्वापर में पथप्रदर्शन पुराणोक्त विधि-विधान से किया जाता है; किन्तु कलिकाल में आगम-प्रदर्शित पथ ही यथार्थ पथ है। इस वचन से यह सिद्ध होता है कि आगम शास्त्र निःसन्दिग्ध रूप से शिववचन है। आगम शास्त्रोक्त फल अवश्य मिलता है, तभी यह सभी दर्शनों से श्रेष्ठ कहा गया है।।१०७-१०८।।

शिवप्रणीतेऽत्र दुरूहशास्त्रे गुरूपदेशान्निजबुद्धितोऽपि ।
मया समाकृष्य यदत्र बद्धं तस्मिन् सुधीरा मुदमावहन्तु ।।१०९।।

इति श्रीरघुनाथतर्कवागीशभट्टाचार्यकृते आगमतत्त्वविलासे प्रथम खण्डः

इस शिवप्रणीत दुरूह शास्त्र को गुरु के उपदेश से तथा अपनी बुद्धि से संग्रह करके मैंने इस ग्रन्थ में उपनिबद्ध किया है। उससे सुधीगण आनन्दित हों।।१०९।।

इस प्रकार श्री रघुनाथ तर्कवागीश भट्टाचार्य-प्रणीत
आगमतत्त्वविलास के प्रथम खण्ड की भाषा-टीका
में प्रथम परिच्छेद पूर्णता को प्राप्त हुआ

3 1 MAY 2013